वैदिक व्याख्यान माला

२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसङ्कल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।

सजिल्द ५) रु.

3 1761 00095114 5

Digitized by the Internet Archive
in 2010 with funding from
University of Toronto

http://www.archive.org/details/vaidikavyakhyana04satw

Vaidika vyākhyāna mālā

वैदिक व्याख्यान माला — २१ वाँ व्याख्यान

ऋषियों के तपसे
राष्ट्रका निर्माण

Vol. 4

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE VARANASI

मूल्य छः आने

BL
1115
Z5S27
Vol. 4

LIBRARY
SEP 1 - 1964
UNIVERSITY OF TORONTO

922949

ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण

प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टिकोण

बहुत ही शताब्दियोंसे बहुत लोगोंकी ऐसी कल्पना है कि ऋषिलोग पर्णकुटीमें रहते थे, कन्दमूल खाते थे, वृक्षोंकी छालें पहनते थे, हिरनकी छाल ओढते थे, दाढी और जटा बढाते थे क्योंकि उनके पास हजामत करनेके लिये उस्तरे नहीं थे, वे गौवें और बकरियां पालते थे, इस तरह अर्धवन्य स्थितिमें ये ऋषि रहते थे। इस अर्धवन्य अवस्थामें वे ऋषि विश्वकी ओर देखते थे, और उस विश्वमें अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य आदिको देखकर और इनकी अद्भुत शक्तियां देखकर जो उनको काव्यस्फूर्ति हुई वही वैदिक सूक्तोंके रूपसे प्रसिद्ध है। इससे अधिक अर्थात् गडरियोंके गीतोंकी अपेक्षा वैदिक सूक्तोंमें कुछ भी विशेषता नहीं है। इसी कारण वैदिक सूक्तोंमें असाधारण विशेष ज्ञान होनेकी संभावना ही नहीं है। अर्थात् 'वैदिक सभ्यता' करके यदि कुछ सभ्यता होगी, तो वह अर्धवन्य सभ्यता ही होगी, इससे उसमें कुछ भी विशेषता होनेकी संभावना ही नहीं है।

ऐसा विचार बहुत समयसे प्रचलित था। पर अब वेदके सूक्तोंका बहुत संशोधन हुआ है और इस संशोधनसे इस बातका पता लगा है कि, यह पूर्वोक्त विचार ठीक नहीं है। वैदिक ऋषियोंके सूक्तोंकी ओर हमें नयी दृष्टिसे देखना चाहिये, क्योंकि उन सूक्तोंमें हमें ऐसा ज्ञान मिलता है कि जो अर्धवन्य स्थितिके मानवोंमें होना असंभव है तथा वह ज्ञान उच्च समाजकी अवस्थामें ही होना संभव है।

वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि—

मा अहं मृण्मयं गृहं गमम्। ऋग्वेद ७।८९।१

'मैं मिट्टीके घरमें जाकर नहीं रहूंगा।' जो मिट्टीके घरमें रहना नहीं चाहता, वह पत्तोंसे बनी कुटियामें किस तरह रहेगा? वसिष्ठके इस वचनसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि, वह न पर्णकुटियामें और नहीं मिट्टीके कच्चे घरमें रहना चाहता था, परंतु वह पक्के मकानोंमें ही रहना चाहता था—

बृहन्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं जगम। ऋ० ७।८८।५

'बडे प्रशस्त हजार द्वारोंवाले घरमें जाकर हम रहेंगे।' ऐसा वसिष्ठ बोलता है। '**ध्रुवं छर्दिः यशः यंसतः**' (ऋ० ७।७४।५) स्थायी रहनेवाला यशस्वी घर हमें रहनेके लिये चाहिये। इसका कारण यही है कि वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें हजारों ब्रह्मचारी पढते थे, वे झोपडीयोंमें किस तरह रह सकते हैं, और कच्चे मकानोंमें इतने छात्रोंकी स्थिति कैसी हो सकती है? झोपडियां और कच्चे मकानोंकी दुरुस्ती करते करते नाकमें दम आना संभव है। इसलिये ऋषि पक्के स्थायी मकान (ध्रुवं छर्दिः) ही रहनेके लिये चाहते थे। (**सहस्रद्वारं गृहं**) हजार द्वार जिस घरमें हो, ऐसा पक्का घर उनको चाहिये था। हजार द्वार जिसको होंगे वह घर २००। ३०० कमरोंवाला तो अवश्य ही होगा और उसमें सहस्रों छात्र निःसंदेह रह सकेंगे।

(१) नृणां मा निषदाम। ऋ० ७।१।११
(२) शूने मा निषदाम। ,, ,,
(३) प्रजावतीषु दुर्यासु निषदाम। ,, ,,

'(१) दूसरोंके घरोंमें हम नहीं रहेंगे, (२) पुत्रहीन शून्य घरमें नहीं रहेंगे, और (३) पुत्र पौत्र जिस घरमें हैं ऐसे बडे घरमें रहेंगे।' यह वसिष्ठका कहना है। ऐसे बडे पक्के घरमें रहेंगे। यह वसिष्ठके वचन सिद्ध कर रहे हैं कि ऋषियोंके घर पक्के होते थे। वास्तुशास्त्रमें भी कहा है कि 'क्षत्रिय घर' की अपेक्षा 'ब्राह्मण घर' बहुत ही बडा होता है। उपनिषदमें भी '**महाशालाः श्रोत्रियाः**' ऐसा वर्णन विद्वान् ब्राह्मणोंका किया है। अर्थात् ये विद्वान् ब्राह्मण '**महाशालाः**' अर्थात् बडे विशाल घरवाले होते थे।

इससे सिद्ध होता है कि, ये ऋषि लोग पत्तोंकी झोपडियोंमें नहीं रहते थे। प्रत्युत पक्के मकानोंमें रहते थे और इनके मकानोंको बहुत द्वार होते थे। इसी तरह ऋषियोंके संबंधमें फैली हुई अन्यान्य बातें भी असत्य ही समझने योग्य हैं। इस समय सब संशोधक यह मानने लगे हैं कि, वैदिक सभ्यता एक उच्च सभ्यता थी और उसको अर्धवन्य कहना अयोग्य है।

वेदके आधारसे वेदका आलोचन

ऋषियोंके जीवनव्यवहारके विषयमें बोलना अथवा जानना हो, तो वेदमंत्रोंका ही उसको आधार लेना योग्य है। वेदोंका विचार करनेके लिये भी वेदके अन्तर्गत प्रमाण ही स्वीकारना योग्य है। यदि हम केवल आधुनिक पुराणादि ग्रंथ ही विचारमें लेंगे और उनकी सहायतासे वेदका अर्थ जाननेका यत्न करेंगे, तो हमें वेदके ठीक ठीक अर्थका पता नहीं लगेगा, ऐसा ही नहीं, परंतु हमारा अर्थ अत्यंत विपरीत और वेदविरुद्ध भाव बतानेवाला भी बन जायगा! इसलिये यत्न करके हमें वेदके अन्तर्गत प्रमाणोंसे ही वेदका अर्थ जाननेका यत्न करना चाहिये। इससे हमें वह दृष्टि मिलेगी कि, जो वेदका सत्य अर्थ जाननेके लिये अत्यावश्यक है। पूर्वग्रह छोडकर इस रीतिसे ही हमें वेदका अन्वेषण करनेका यत्न करना आवश्यक है।

पुराणोंके प्रमाणोंसे हानिकी संभावना

यदि हम वेदका अर्थ करनेके लिये अथवा वैदिक जीवनकी खोज करनेके लिये वेदका आधार न लेकर पुराणोंका आधार ही लेंगे तो हमें विपरीत ही भाव प्रतीत होगा। पुराण लेखकोंने ऋषियोंका वर्णन करनेके समय ऐसी अत्युक्तियां की हैं कि, उसकी कोई मर्यादा रही नहीं है। देखिये, पुराण लेखक लिखते हैं कि, ऋषि तप करनेके लिये बैठे थे और उनपर दीमकके घर बने थे, वे पर्णकुटीमें बैठे थे, वे कंदमूल खाकर ही रहे थे, कई तो केवल जल पीकर अथवा कई तो केवल वायुभक्षण करके ही रहे थे, कई तो सहस्रों वर्षोंतक एक ही पांवपर खडे रहकर तप करते थे, कई उलटे टंगे हुए धूम्रपान करते थे, ऐसे विचित्र वर्णन हम ऋषियोंके जीवनके विषयमें देखते हैं। पर ये सबके सब नितान्त असत्य हैं, इनमें एक भी सत्य नहीं है। ऐसे वर्णन कोई भी विचारवान् पुरुष सत्य नहीं मान सकता।

इस कारण हम कहते हैं कि वेदके मंत्र, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदोंके वचन ही, ऋषियोंके जीवन किस तरह होते थे, इसके विषयमें शुद्ध और सत्य ज्ञान प्राप्त करना हो, तो प्रमाण मानने योग्य हैं।

बुद्धपूर्व और बुद्धोत्तर कालखण्ड

इसी तरह हमें कालके दो विभाग हैं ऐसा भी मानना आवश्यक है। एक बुद्धपूर्वका काल विभाग है और दूसरा बुद्धोत्तरका कालविभाग है। बुद्धपूर्वका जो काल विभाग है उसको हम वैदिक काल विभाग करके कह सकते हैं और बुद्धोत्तरका जो कालविभाग है, उसको अवैदिक मत–मतान्तरकी मिलावट हुई है ऐसा कालविभाग कह सकते हैं। बुद्धोत्तर कालविभागमें बुद्धादि अवैदिक मतमतान्तरोंका बहुत प्रचार हुआ है। ये कालविभाग हम जान लेंगे, तो ही हमें ठीक ठीक वेदविभागका ज्ञान हो सकेगा। यह विषय समझानेके लिये हम यहाँ एक दो उदाहरण बताते हैं—

ऋषि आश्रम और देवमंदिर

इस मानवी शरीरको वैदिक मंत्रोंमें 'ऋषियोंका आश्रम' तथा 'देवमंदिर' करके वर्णन किया है। इस शरीरका ऐसा सुंदर रमणीय और अत्यंत पवित्र वर्णन वेद–मंत्रोंने किया है। देखिये—

> सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
> सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
> सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः
> तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
>
> वा० यजु० ३४।५५

'(१) प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि तप करनेके लिये बैठे हैं, (२) ये सात ऋषि प्रमाद न करते हुए इस शरीरका संरक्षण करते हैं, (३) इस आश्रममें बहनेवाली ये सात नदियां, (जागनेकी अवस्थामें बाहरकी ओर बहती है, पर निद्रा आनेपर वे ही सात नदियां) सोनेवालेके अन्दरके स्थानमें-अन्तःकरणमें वापस उलटी बहने लगती है, (४) यहाँ कभी नींद न लेनेवाले दो देव (प्राण और अपान) जागते रहते हैं और इस यज्ञस्थानका दिनरात संरक्षण करते रहते हैं।'

यह मानवी शरीरका वर्णन है। इस वर्णनमें इस मानवी शरीरको (१) यह सप्तऋषियोंका पवित्र आश्रम है,

(२) ये सात ऋषि इस आश्रमके संरक्षक हैं, (३) यह शरीर सप्त नदियोंका पवित्र प्रदेश है और (४) यह दो देवोंद्वारा जिसका रक्षण हो रहा है ऐसा यह पवित्र यज्ञ-स्थान है, यह शरीरका वर्णन कितना रमणीय है, कितना पवित्र है और कितना रोचक है !

ये सात ऋषि दो आंख, दो कान, दो नासिका छिद्र और एक जिह्वा ये सात इंद्रियां हैं। ये बाहरका ज्ञान अन्दर लाते हैं इसलिये ज्ञान देनेवाले ये ऋषि हैं। स्वभावत: ये ज्ञान लाते हैं, परंतु इनको परिशुद्ध रखना चाहिये। यह जिम्मेवारी मनुष्यपर आती है।

यह शरीर ही सप्त नदियोंका पवित्र प्रदेश है। ये ही पूर्वोक्त सात नदियां हैं। ये प्रवाह जागते समय बाहरकी ओर बहते रहते हैं, जहां तक विश्वका अन्त है वहाँ तक ये प्रवाह इन सातों इंद्रियोंसे विश्वभरमें बहते रहते हैं, नाना प्रकारसे ये विश्वभरमें खेलते हैं। परंतु जिस समय निद्रा आने लगती है उस समय ये ही इंद्रिय प्रवाह उलटे फिरते हैं, वापस घूमते हैं, अन्तर्मुख होते हैं और अन्दर अपने आत्मामें लीन होते हैं। ऐसे लीन होनेसे ही नींद आगयी ऐसा कहा जाता है। गाढ निद्रा आनेका अर्थ ही यह है कि सब इंद्रियोंकी वृत्तियां पूर्णतया अन्तर्मुख होकर आत्मामें विलीन होगयी। इस स्थितिका नाम ' स्वपिति ' है (स्वं अपि इतः) अपने आत्मस्वरूपको यह सब इंद्रिय प्रवाह प्राप्त हो चुके हैं। ऐसा इस पदका अर्थ यौगिक पद्धति जाननेवाले करते हैं और इस अर्थसे सब इंद्रियप्रवाह आत्मामें विलीन हुए ऐसा बताते हैं।

अस्तु इस रीतिसे इस शरीरका (१) **सप्तऋषियोंका पवित्र आश्रम**, (२) **सप्त नदियोंका पवित्र प्रदेश** और (३) आश्रम रक्षक दो देवोंका स्थान ऐसा वर्णन वेद-मंत्र कर रहे हैं।

परंतु बुद्धोत्तर कालमें इसी पवित्र शरीरको ' **पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला** ' ऐसा माननेवालोंका संप्रदाय बढ गया है। पवित्र आश्रम तथा पवित्र मंदिरको ही इन बुद्धोत्तर मतमतान्तरवालोंने ' विष्ठा मूत्रका कूप ' बनाया। कितना हीन, तुछ और घृणित यह वर्णन है इसका विचार सब विचारवान लोग करें। इस विचार परिवर्तनके कारण मनुष्योंके आचारमें भी ऐसा ही हीन परिवर्तन हुआ है।

*

' देह मलिन है, देह हीन है, देह पिंजरा है, देह कैद-खाना है ' आदि विचार बुद्धोत्तर कालके ही हैं। इसी देहके संबंधमें अथर्ववेद कैसा उत्तम वर्णन कर रहा है देखिये—

अभेद्य अपराजित देवनगरी अयोध्या

अथर्व वेदमें इसी शरीरका वर्णन कैसा सुन्दर किया है अब देखिये—

१ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
२ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥
३ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१॥
४ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥३२
५ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशाऽपराजिताम्॥ ३३॥
अथर्व. १० । २

(१) जो साधक (अमृतेन आवृतां) अमृतसे आवृत (तां ब्रह्मणः पुरं वेद) उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको स्वयं ब्रह्म और (ब्राह्माः) ब्रह्मसे उत्पन्न हुई सब अन्य देवताएं चक्षुः प्राण और संतान देती हैं। अर्थात् उसको ब्रह्म और अन्य सब देवताओंकी कृपासे पूर्ण आयुतक सब इंद्रियोंके समेत शरीर उत्तम स्थितिमें रहता है, प्राणका बल प्राप्त होकर वह दीर्घायु प्राप्त करता है और उसको सुप्रजा प्राप्त होती है। ब्रह्मकी कृपा होनेसे दीर्घायु, बलवान शरीर और सुप्रजा होती है। यह शरीर ब्रह्मपुरी है।

(२) (यस्याः पुरुषः उच्यते) जिस पुरिमें रहनेके कारण इस आत्माको ' पुरुष ' कहा जाता है उस (ब्रह्मणः पुरं वेद) ब्रह्मपुरीको जो जानता है, उसको (चक्षुः) नेत्र आदि सब इंद्रियां और प्राण (जरसः पुरा) वृद्ध अवस्थाके पूर्व (न जहाति) छोडते नहीं अर्थात् उसको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होती है, सबल इंद्रियां मिलती हैं और वह सदा आनन्द प्रसन्न रहता है।

(३) यह (देवानां अयोध्या पूः) देवोंकी अयोध्या नगरी है। इस नगरीके कोलेकी दिवारपर (अष्टा चक्रा) आठ चक्र-उरहाट यंत्र लगाये हैं, ये चक्र शत्रुका नाश करते हैं और इस कोलेकी दीवारमें नौ द्वार हैं। उसमें (हिरण्ययः

कोशः) सुवर्णमय कोश है वह (ज्योतिषावृतः स्वर्गः) तेजसे घिरा हुआ स्वर्ग ही है । पृष्ठवंशमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, इनमें शरीरके रोगादि शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति है । इसी तरह इसमें दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार ये नौ द्वार हैं। इनमेंसे अन्दर तथा बाहर जाने आनेका प्रबंध होता है इससे इसका सामर्थ्य बढता है । इसमें हृदयमें तेजस्वी स्वर्ग हैं । अर्थात् यह देवोंकी नगरी है और यहां स्वर्ग भी है । यहां आंखोंमें सूर्य, कानोंमें दिशाएँ, नासिकामें प्राण तथा अश्विनौ देव, जिह्वामें जल, मुखमें अग्नि, उदरमें पाचक अग्नि, नाभिमें मृत्यु, पांवोंके स्थानमें पृथिवी, बाहुओंमें इन्द्र, हृदयस्थ रुधिराशयमें समुद्र, धमनियोंमें नदियाँ, पृष्ठवंशमें पर्वत, बालोंमें औषधि वनस्पतियां इस तरह सब देवताएँ इस शरीरके नाना अवयवोंमें रहती हैं। इस तरह यह शरीर देवनगरी है।

(४) इस (त्रि-अरे) तीन आरे जिसमें लगे हैं और (त्रि-प्रतिष्ठिते) तीन आधारोंपर जो आश्रित है ऐसे इस सुवर्णके कोशमें (आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मरूप यक्ष रहता है उसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं ।

(५) इस (प्रभ्राजमानां) प्रकाशमान (हरिणीं) मनोहारिणी (यशसा संपरीवृतां) यशसे घिरी हुई ऐसी जो (अपराजितां) अपराजित सुवर्णकी नगरी है इसमें (ब्रह्मा विवेश) ब्रह्मा प्रविष्ट होता है ।

इस तरह यह शरीरका वर्णन वेदमें है । यह कितना सुंदर है । यह वेदका ज्ञान है । इसी शरीरका वर्णन बुद्धोत्तर कालमें ' पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला ' ऐसा होने लगा । कितना घोर विपर्यास है देखिये ! !

अध्यात्मज्ञान देनेके लिये ये मंत्र हैं । परंतु यह वर्णन कीलेके वर्णन करनेके समान किया है । अर्थात् अध्यात्मज्ञानकी बुनियाद पर हमारा वैदिक राज्यशासन है। अध्यात्मज्ञानकी बुनियाद पर नगररचना शास्त्र है । वेदमें नगरका यह वर्णन देखकर ऋषिलोग अपने नगरोंकी रचना करते थे । इन मंत्रोंसे अभेद्य अपराजित सुन्दर नगरीकी रचना किस तरह करनी योग्य है इसका भी ज्ञान मिलता है। यह अध्यात्मज्ञान मनुष्योंको नगरका त्याग करनेका उपदेश नहीं देता, प्रत्युत नगरोंको सुरक्षित करके उसमें रहो और उनमें ही उत्तम स्वर्गधाम निर्माण करो यह उपदेश यहां है।

शरीरको ' पीप-विष्ठा-मूत्रका गोला ' माननेसे शरीर त्याग करनेकी बुद्धि मनमें उत्पन्न होती है । परंतु शरीरको देवोंकी अपराजित ब्रह्मपुरी माननेसे यहां इस शरीरमें अतिदीर्घ जीवन प्राप्त करके सुखसे रहनेकी बुद्धि होती है । यही इस वैदिक ज्ञानका महत्त्व है, जो बताता है कि यहां जीतेजी किस तरह स्वर्गधाम निर्माण किया जा सकता है । इस शरीरको या इस जगत्को त्यागना नहीं है, परंतु इसीमें रहकर स्वर्गका आनंद प्राप्त करना है ।

ये विचार बुद्धपूर्व कालमें थे । परंतु बुद्धोत्तर कालमें इस विश्वको लोग असार, दुःखपूर्ण, त्याज्य, हेय, निंद्य, कष्टदायी मानने लगे और जगत्का त्याग करने लगे । उपनिषद और गीताके टीकाकारोंने भी यही जगद्दुःखवादका भाव उपनिषदों और गीतापर लदाया और सब साधुसंतोंने इसी जगद्दुःखवादका प्रचार किया है । इसलिये यही अवैदिक भाव भारतीयोंके मनोंपर जम गया है, इसलिये भारतीयोंकी दृष्टि यहां इस जगत्में स्वर्ग निर्माण करनेकी ओर रही नहीं है । प्रत्युत इसके विपरीत जगत्का त्याग करनेकी ओर चली गयी है ।

अभ्युदयकी ओर पराङ्मुखता

शरीरका वर्णन ' पीप-विष्ठा-मूत्रका गढा ' करनेसे शरीरके विषयमें घृणा उत्पन्न हो गयी, तथा शरीरको पिंजरा, कारागृह कहनेसे भी शरीरको त्यागनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई । इसी तरह जगत्को दुःखस्वरूप, दुःखमय और असार कहने तथा माननेसे जगत्के अन्दर अभ्युदय प्राप्त करनेके प्रयत्नोंसे विमुखता उत्पन्न हुई । ऐसा होना स्वाभाविक ही है ।

कोई प्रवासी एक गांवमें आता है और वहां रहना चाहता है । इतनेमें उसको किसीने कहा कि यहां रहनेसे कालरा होगा, क्योंकि यहां कालरा है, तो इस बातको सुनते ही वह प्रवासी उस ग्रामको उसी समय छोडनेके लिये प्रवृत्त होगा।

इसी तरह यह जगत् दुःखमय और असार है, ऐसा जिसने माना है और यह शरीर विष्ठामूत्रका गोला है, ऐसा जिसने माना है, वह शीघ्रातिशीघ्र इस जगत्को और इस शरीरको त्यागनेका ही यत्न करेगा । इसी कारण इस जगत्को असार माननेवाले इस जगत्में अभ्युदयका साधन करनेके अनुष्ठानसे पराङ्मुख हुए हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी

बात नहीं है। वैदिक कालके ऋषि इस शरीरको ऋषियोंका पवित्र आश्रम, देवोंका रम्य मंदिर, सप्त नदियोंका पवित्र क्षेत्र, तथा ब्रह्मकी अपराजित नगरी मानते थे इसलिये वे यहांका अभ्युदय सिद्ध करने तथा दीर्घजीवन प्राप्त करके यहां स्वर्गधाम स्थापन करनेके प्रयत्नमें सदा तत्परताके साथ रहते थे।

भारतीय लोगोंमें यह जगद्दुःखवाद तथा शरीर घृणा-वाद जबसे प्रचलित हुआ है, तबसे इन भारतीयोंका लक्ष्य अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्योंसे परङ्मुख ही हुआ दीखता है। यह संसार छोडकर जंगलमें जाना, वहां कंद-मूल खाकर रहना इस तरह इस जगत्को छोडनेकी रुची इनमें बढ गयी। यहां कोई आ जाय और वह कुछ भी करे, कोई राज्य करे, परकीयोंका ही राज्य क्यों न हो, इस बातकी इनको पर्वा रही नहीं। हमने यह राज्यशासन आदि दुःखमय झंझट छोडना ही है, हमें यह चाहिये ही नहीं। इसलिये यहां कोई आजाय और किसीका राज्य यहां हो। इस दुःखमय संसारपर म्लेच्छ राज्य करे या दूसरा कोई करे। हमने तो यह सब त्यागना ही है। ऐसे विचार सैंकडों प्रचारकोंने जिस देशमें फैलाये हों, वह देश सैंकडों वर्षोंतक पराधीन रहा तो उसमें आश्चर्य ही क्या है। यहां बाहरके लोग आ जांय, यहां भोग भोगें और भारतीय लोग संसारको असार कहकर परम दुःख भोगते रहें। ऐसा समय अनेक शताब्दियोंसे यहां रहा है।

जैसे विचार मनमें रहते हैं वैसा आचार मनुष्य करता है और मनुष्य वैसा बनता है। भारतीयोंकी बुद्धि इस जगद्-दुःखवादसे मारी गयी है। इस कारण वे अभ्युदय धर्मके परङ्मुख हुए हैं। और ऐसा होना यह स्वाभाविक ही है।

शत्रु राज्यमें फैलानेके विचार

यह जगत् दुःखमय है, यह संसार असार है, यह शरीर विष्ठाका गोला है, ये विचार शत्रुको अभ्युदयसे पराङ्मुख करनेके लिये शत्रुराष्ट्रमें फैलानेके लिये हैं। धृतराष्ट्रने पांड-वोंमें ये विचार फैलानेके लिये अपने दूत संजयको पांडवोंके पास युद्धके पूर्व भेजा था। इस संजयने पांडवोंके पास जाकर येही कुविचार उनको कहे। अर्जुनके मनमें ये विचार बैठ गये थे, इसी कारण वह ऐन युद्धके समय युद्धसे परा-ङ्मुख हुआ। इस तरह संजयका उपदेश फलीभूत हुआ। यदि भगवान् श्रीकृष्ण समयपर अर्जुनको सत्यधर्मका उप-देश न करते, तो पांडवोंका पराभव हो जाता।

महाभारतके लेखक श्री व्यास महर्षिने बताया है कि जगद्दुःखवादका उपदेश शत्रुराष्ट्रमें करके उनको अभ्युदयके मार्गसे निवृत्त करना योग्य है। इसका उपदेश अपने राष्ट्रमें करना नहीं चाहिये।

परंतु अपने दुर्दैवसे अपने भारतमें ही इस जगद्दुःखवा-दका उपदेश बुद्धोत्तर कालमें अत्यधिक हुआ है। और इस समय भी यही लहर चल रही है। जबतक यह निराशावादी विचारोंका प्रचार यहां होता रहेगा, तबतक भारत देशके उठनेकी आशा नहीं को जा सकती।

ऋषिकालमें वेदका तत्त्वज्ञान प्रचलित था। और वेदने इस देहको ऋषि आश्रम बताया था। इस शरीरको ब्रह्म-नगरी बताया था। वही वेदधर्म ऋषिलोग मानते थे। और यहां अभ्युदयका धर्म आचरणमें वे लाते थे। यहां स्वर्गधाम स्थापन करना उनका उद्दिष्ट था इसलिये उनका वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष होता था।

विश्व ईश्वरका रूप है

वेद, उपनिषद और गीतामें तथा वैदिक प्रणालीके सब ग्रंथोंमें कहा है कि यह 'विश्वरूप' ईश्वरका ही रूप है। विष्णुसहस्रनाममें प्रारम्भमें ही 'विश्वं विष्णुः' कहा है अर्थात् यह विश्व ही विष्णु है, यह संपूर्ण विश्व ही परमेश्वरका दृश्य रूप है।

प्रत्येक अणुरेणुमें परमेश्वर भरपूर भरा है, वह सर्वव्या-पक है। यह तो सब जानते ही हैं। इसका अर्थ यह है कि विश्वमें जो पदार्थ हैं, वे सब बोतलें हैं और उनमें परमेश्वर भरा है। कोई बोतल लीजिये उसमें 'ईश्वर' ही आपके पास आ जायगा। जिस तरह दूधकी बोतलें लायीं तो 'दूध लाया' ऐसा बोलते हैं, शहदकी बोतलें लायीं तो शहद लाया ऐसा कहते हैं, और तेलकी बोतलें लायीं तो तेल लाया ऐसा कहा जाता है, ठीक इसी तरह जो वस्तु आप पकडेंगे उसमें पूर्णतया भरा हुआ परमेश्वर आपके पास आ जायगा। 'विश्वं विष्णुः' का अर्थ यह है–

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छां० उ०

'यह सब दृश्यमान विश्व ब्रह्म ही है।' तथा वेदका मंत्र भी यही भाव बोलता है–

पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
ऋ० १०।९०।२; वा० य० ३०।२

'जो भूत वर्तमान और भविष्यमें विश्व है वह सब पुरुष अर्थात् ईश्वर ही है।' गीतामें भी-

वासुदेवः सर्वम्। गी० ७।१९

'वासुदेव ही यह सब है।' इन सब वचनोंका तात्पर्य यही है कि संपूर्ण विश्व ईश्वररूप है, ईश्वरमय है अर्थात् ईश्वरका ही रूप है। अर्थात् यह दुःखमय नहीं प्रत्युत संसेव्य है।

यदि यह विश्व प्रभुका रूप है, तब तो इसका त्याग नहीं करना चाहिये, परंतु इसकी सेवा करनी चाहिये। ऋषि लोगोंका धर्म 'विश्वसेवा' था, 'विश्वत्याग' नहीं। यही विश्वसेवा भारतमें नहीं हो रही है, इसलिये भारतकी इस समय अवनति दीखती है। जब यहांके लोग जनताकी सेवा करने लगेंगे, उसी समयसे भारतका उत्थान शुरु होगा। परमेश्वरका रूप विश्व है इसीलिये वह असार, दुःखमय, हीन, त्याज्य नहीं है, प्रत्युत वही सारमय, सुखदायी और संसेव्य है। अतः विश्वसेवा करना ही मानवका धर्म है।

सबने स्वकर्मसे इस विश्वरूप प्रभुकी सेवा करनी चाहिये। ज्ञानी मनुष्योंने ज्ञानदान द्वारा, शूर पुरुषोंने संरक्षण करने द्वारा, वैश्योंने व्यापार कृषि और पशुपालन आदि कर्म करनेसे, शूद्रोंने नाना प्रकारके कला कौशल्योंकी रचना करके तथा वन्य लोगोंने वनोंकी सुरक्षा करने द्वारा विश्वकी सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके मार्ग सहस्रों हैं, वे सब खाली पडे हैं। भारतराष्ट्रकी सेवा करनेवाले बहुत ही थोडे हैं, ऐसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक सहस्रों और लाखों यहां होने चाहिये। वास्तवमें यही मानव धर्म है।

बुद्धपूर्व कालमें ऋषियोंके विचारमें यही भाव था। उस समय कोई ऋषि जगत् छोडनेका विचार करता ही नहीं था, विश्वरूपकी सेवा सब ऋषि करते थे। देखिये भूमिकी सेवा करनेसे धान्य मिलता है, वृक्षोंकी सेवा करनेसे मधुर फल मिलते हैं, गौवोंकी सेवा करनेसे दूध मिलता है, इस तरह सर्वत्र विश्वसेवासे लाभ ही होता है।

राष्ट्रसेवा करनेसे राष्ट्रका उद्धार होता है। अर्जुन राष्ट्र-सेवा करनेके लिये अपनी आयुकी ७० वे वर्ष युद्ध भूमिपर खडा था। उसके मनमें शत्रुका किया हुआ हीन उपदेश खडा रहा और उसने उस शत्रुके दोषमय उपदेशके अनुसार युद्धसे निवृत्त होनेका कुविचार किया। भगवान् श्रीकृष्णने गीतोपदेश किया और उसको राष्ट्रसेवा करनेके शुभ मार्ग-पर लाया। उसने युद्ध किया, जय प्राप्त किया, ३० वर्ष राज्य किया और पश्चात् वे तपस्या करनेके लिये गये। इस समय अर्जुनकी आयु सौ वर्षकी बनी थी। इस आयुतक वह राष्ट्रपुरुषकी सेवा ही करता रहा।

यह ऋषियोंकी विचारधारा है। ऋषि लोग अपने जीवन-भर राष्ट्रसेवा ही करते थे। पुराणोंके वर्णनोंसे ऋषि-जीवनका ठीक ठीक पता नहीं लग सकता। इसके लिये वेद; उपनिषदही देखने चाहिये। ऋषियोंका जीवन ऐसा था, ८ वर्षका बालपन, २४ वर्षोंका ब्रह्मचर्य, ३६ वर्षोंका गृहस्थाश्रम और ४८ वर्षोंका वानप्रस्थ आश्रम, इस वान-प्रस्थमें ब्रह्मचारियोंको ज्ञानदान देनेका कार्य करना होता था। जो विद्या २४ वर्षोंमें ब्रह्मचर्याश्रममें ली, वह कर्जा है वह सूदके समेत ४८ वर्षोंमें देना है। वह कर्जा वापस करना है। इस तरह ८+२४+३६+४८ मिलकर ११६ वर्षोंकी आयु होती है। यहां तक राष्ट्र सेवा ही वे करते रहते थे। कोई भी विश्वसेवाका त्याग करता नहीं था। इसीलिये सब राष्ट्र अभ्युदयको प्राप्त होकर आनंदसे रहता था।

ऋषियोंके प्रयत्नोंसे राष्ट्रकी निर्मिति

ऋषिजनोंने जगत्के प्रारंभमें जो प्रयत्न किये उन प्रयत्नों-से राष्ट्रकी निर्मिति हुई है ऐसा एक मंत्र बोल रहा है, वह मंत्र यहां देखिये—

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुः अग्रे।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ अथर्व० १९।४१।१

"आत्मज्ञानी ऋषियोंने जगतका कल्याण करनेकी इच्छासे सृष्टिके प्रारंभमें जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी हुआ। इस-लिये सब विबुध इस राष्ट्रके सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।"

आत्मज्ञानी ऋषियोंने जगत्के प्रारंभमें सब जनताका कल्याण करनेकी इच्छासे जो तप किया, उससे राष्ट्रका निर्माण हुआ। राष्ट्र बननेसे संघशक्तिका बल उत्पन्न हुआ। यह बल राष्ट्र बननेके पहिले नहीं था। यह संघ शक्तिका बल होनेके

पश्चात् ओज अर्थात् प्रभावी सामर्थ्य निर्माण हुआ। राष्ट्र, राष्ट्रीयशक्ति और शत्रुको दूर करनेका सामर्थ्य निर्माण हुए। ऋषियोंके तपसे यह सब हुआ।

ऋषियोंके मनमें जनताका कल्याण करनेकी इच्छा थी, इसलिये उन्होंने दक्षतासे जो संघटनाके प्रयत्न किये, उनसे राष्ट्रकी उत्पत्ति हुई है। (भद्रं इच्छन्त ऋषयः) जनताके कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ऋषि थे। जनताका त्याग करके जंगलमें जाकर जनताके अभ्युदयकी पर्वा न करनेवाले ऋषि नहीं थे। जनताका अभ्युदय होना चाहिये, हम प्रयत्न करके उनका अभ्युदय करायेंगे, ऐसी इच्छा धारण करनेवाले ये ऋषि थे। बुद्ध पूर्वकालमें ये ऋषि थे। यदि ये बुद्धोत्तर कालके होते, तो जनताका विचार न करते, जनताको भ्रम मानते और स्वयं जंगलमें जाकर वहां कंदमूल खाकर रहते, और राष्ट्रनिर्माणका प्रयत्न नहीं करते। बुद्धोत्तर कालमें राष्ट्रनिर्माणका प्रयत्न हो नहीं हुआ, राष्ट्रनिर्माणका प्रयत्न होना संभव भी नहीं था। क्योंकि यह राष्ट्र आदिकी संघटना करना दुःखदायी है, यह संसार ही दुःखदायी है। ऐसा कुविचार जो मानेंगे; वे यहांके अभ्युदयके लिये क्या कर सकते हैं?

ऋषि लोग विश्वको ईश्वरका प्रत्यक्ष स्वरूप मानते थे, इस लिये इस विश्वरूपी प्रभुकी सेवा करनेके लिये वे अपने जीवन अर्पण करते थे और उनके उस प्रयत्नसे राष्ट्रका निर्माण होकर अभ्युदयका मार्ग खुला होता था।

ऋषि लोग राष्ट्रहितकी हलचलें करते थे, उनका स्वरूप क्या होता था, वह अब देखिये–

अत्रिऋषिकी हलचल

असुरोंका राज्य था, वह दुष्ट राज्य था, इसलिये उस राज्यशासनको तोडने और उसके स्थानपर सुराज्य या स्वराज्य स्थापन करनेके लिये अत्रिऋषि हलचल कर रहे थे। इसका वर्णन करनेवाला मंत्र अब देखिये–

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यं
ऋबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया
अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ ऋग्वेद १।११७।३

इस मंत्रमें अत्रिऋषिके हलचलका स्वरूप अच्छी तरह बताया है, वह अब मननपूर्वक देखने योग्य है–

१ अत्रिं गणेन ऋबीसात् मुञ्चथः – 'आत्रिऋषिको उनके अनुयायियोंके साथ कारागृहसे मुक्त किया।' अर्थात् अकेला ही अत्रिऋषि असुरराज्यके विरुद्ध हलचल करता था ऐसा नहीं था, परन्तु उसके साथ कई ऋषि तथा ऋषिकुमार भी थे, जो इस हलचलमें शामिल हुए थे। अर्थात् अत्रिके साथ बहुत ऋषि इस कारागृहमें रखे गये थे। असुर राजा बडा क्रूर था। उसने इन सब ऋषियोंको कारावासमें बंद करके रखा था और इनको बहुत कष्ट देनेका प्रयत्न भी वह असुरराजा करता था। जनताके पक्षवालोंने इन ऋषियोंको कारागृह तोड कर मुक्त किया था। अर्थात् जनताका संघटित बल इतना अधिक बढ गया था, जिससे वे असुरोंके जेलखानेको तोडकर अपने हित करनेवाले नेताको मुक्त करनेमें समर्थ हो गये थे। इस तरह अनेक ऋषि जनताके उद्धारकी हलचल कर रहे थे और उसके लिये वे कारागृहके कष्ट भोगते भी थे।

२ पाञ्चजन्यं अत्रिं अंहसः ऋबीसात् मुञ्चथः– अत्रिऋषि पञ्चजनोंका हित करनेके लिये असुर राजाके विरोधकी हलचल कर रहे थे। असुर राजाके दोषयुक्त राज्यशासनके कारण राष्ट्रमें रहनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद इन पांचों प्रकारके लोगोंको हानि पहुंचती थी। यह हानि होती है यह अत्रि आदि ऋषियोंने देखा, उनको यह दोषयुक्त राज्यशासन पसंद नहीं आया। इस लिये ये ऋषि यह हलचल कर रहे थे।

इस राज्यमें पांचों प्रकारके लोग थे। ऋषिलोग पांचों लोगोंका हित करनेकी इच्छा करते थे। किसी एक जातीका पक्षपात करनेकी उनमें पक्षपातकी इच्छा नहीं थी। सब जनताका हित होना चाहिये यह उनकी इच्छा थी।

(पाञ्चजन्यः ऋषिः) पंचजनोंका हित करनेवाला यह अत्रि ऋषि था। अपनी जातिको उठाना और अन्य जातीयोंको गिराना, यह भाव उनमें नहीं था। इसलिये अत्रि ऋषिको 'पाञ्चजन्य' पदवी मिली थी। यह पदवी बडी बहुमान करनेवाली है। यह एक ही जातिका हित करनेवालेको नहीं मिलती। सब जातियोंका समानतया हित करनेवालेको ही यह पदवी मिलती है।

(अंहसः ऋबीसात्) वह कारागृह पापी लोगोंके लिये ही रहने योग्य था। क्योंकि वहां रहना बडा ही कष्टदायक था। ऋषि लोगों जैसे पुण्यात्माओंके लिये वह जेलखानेका जीवन बडा ही कष्टदायी था। पर ये ऋषि

*

उस कष्टको सहन करते थे। वहांकी हवा बहुत उष्ण थी, तथा चारों ओर तुषाग्नि रखकर उसका धूवाँ अन्दर जाय और उससे ऋषियोंको कष्ट होते रहें, ऐसा प्रबंध वहां असुर राजाकी ओरसे किया गया था। इससे कल्पना हो सकती है कि उस जेलमें ऋषियोंको किस तरहके कष्ट सहन करने पडते थे। इतने कष्ट होनेपर भी ऋषियोंने अपनी हलचल छोडी नहीं थी।

३ अशिवस्य दस्योः मायाः– जिस राजाके विरुद्ध अत्रि ऋषि हलचल करते थे, उस असुर राजाका वर्णन इन शब्दोंसे मंत्र कर रहा है। वह राजा ' अ–शिवः दस्युः ' ' अशुभ चोर ' था। वह सम्राट अशिव भी था और चोर भी था। इसका राज्यशासन जनताका अहित करनेवाला था और वह चोरके समान जनताको लूटता भी था। अतः उसके राज्यशासनसे जनताका कल्याण होनेकी संभावना ही नहीं थी। ' दस्योः मायाः ' वह चोर तो था ही, पर और अधिक कपटजाल भी रचता था और उन कपटजालोंमें प्रजाजनोंको फंसाना भी चाहता था। ऋषि लोग उन कपट-जालोंको जानते थे, और कभी उन कपटजालोंमें फंसते नहीं थे। वे लोगोंको समझाते भी थे कि, ये इस दुष्ट अशुभ दस्युके कपटजाल हैं, इनमें न फंसो। पर कई लोग लोभ-वश होकर फंसते थे। इसका विचार करनेसे पता लग सकता है कि असुरराजाका राज्य कैसा था, प्रजा कैसी थी और ऋषि क्या करना चाहते थे।

अत्रि ऋषि इस दुष्टकपटी असुर सम्राट्के विरुद्ध हल-चल करके उसका राज्य तोडना और उसके स्थानपर आर्य राज्यशासन शुरु करना चाहते थे। इस कारण ऋषियोंके विरुद्ध असुर राजा थे, इसलिये ऋषियोंको जेलोंमें डालकर उनकी हलचल बंद करना चाहते थे। परंतु इन कष्टोंको सहकर ऋषि अपनी हलचल कर ही रहे थे। ऋषि कितने कष्ट जनकल्याणके लिये उठाते थे इसकी कल्पना इससे आ सकती थी।

४ अनुपूर्वं मायाः मिनन्ता चोदयन्ता—

क्रमपूर्वक असुरशासकोंके कपटजाल जनताके नेता लोग जानकर तोडते थे और कपटजालोंमें लोग न फंसे ऐसा प्रबंध करते थे। सम्राट्के दूतोंने नाना प्रकारकी कपटपूर्वक योजनाएँ करना; उनको लोगनेताओंने जानना और उनको असफल करना ऐसा क्रम चल रहा था। इतने कष्ट होनेपर जनताके नेता ऋषि दबे नहीं थे। प्रत्युत उत्साहसे अपनी हलचल चलाते ही रहते थे।

इस एक ही मंत्रमें अत्रि ऋषिकी हलचलका बडाभारी इतिहास भरा है। इस मंत्रका प्रत्येक शब्द इस हलचलका ही उत्तम वर्णन कर रहा है। इस इतिहासकी ओर देखनेसे स्पष्टरीतिसे विदित हो जाता है कि " **प्राचीन समयके ऋषि सार्वजनिक हितकी साधना करनेके लिये राष्ट्रीय हलचल करते थे, और इन हलचलोंको यशकी प्राप्तितक चलाते ही रहते थे।** "

इस अत्रि ऋषिकी हलचलसे आगे लोगोंको '**स्वराज्य**' प्राप्त हुआ था। अत्रिपुत्र रातहव्य ऋषिकी '**बहुपाय्य स्वराज्य**' की घोषणा ऋग्वेदमें है। वह घोषणा बताती है कि, अत्रि ऋषिकी हलचल यशस्वी होगयी थी। असुरों-का साम्राज्य टूट चुका था और ऋषियोंने स्वराज्य प्राप्त किया था। इस बहुपाय्य स्वराज्यकी घोषणाका यह मंत्र है—

बहुपाय्य स्वराज्य

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।

ऋ० ५। ६६। ६

' (वयं सूरयः) हम विद्वान तथा (ईय चक्षसा) व्यापक दृष्टिके लोक तथा (मित्र) मित्रवत् जनताके साथ व्यवहार करनेवाले लोग मिलकर इस (व्यचिष्ठे) विस्तृत, (बहु-पाय्ये) बहुतोंकी संमतिसे जिस राज्यकी पालना होती है ऐसे स्वराज्यमें जनताके अभ्युदयके लिये हम प्रयत्न (आ यतेमहि) करते रहेंगे। '

स्वराज्यका संविधान

इस मंत्रमें (सूरयः वयं व्यचिष्ठे बहुपाय्ये स्वराज्ये आ यतेमहि) यह वचन अत्यंत स्पष्ट और सरल अर्थ-वाले पदोंसे स्वराज्यशासनका उत्तम वर्णन कर रहा है। (सूरयः) जो ज्ञानी हैं, जो विशेष ज्ञानी हैं, वे ही इस स्वराज्यमें राज्यशासनका कार्य करें; अविद्वानोंका यहां कार्य नहीं है यह ऋषियोंका मन्तव्य है।

हमारे भारतके संविधानमें केवल बीस वर्षोंकी आयु जिस-की हुई है, वह भारतीय संविधानके अनुसार संसद्का सदस्य

हो सकता है। परंतु ऋषिकालकी राष्ट्रीय संसदका सदस्य जो बडा भारी विद्वान हो वही हो सकता था। जो लोक-विख्यात वाङ्मयकृति करके सूरि करके प्रसिद्ध होता है, वही ऋषिकालकी लोकसभाका सदस्य होता था। साधारण मनुष्यका प्रवेश भी वहां नहीं होता था। आज कोई २१ वर्षोंकी आयुवाला मनुष्य बहुजनोंकी संमतियां प्राप्त करके न केवल संसदका सदस्य बन सकता है, प्रत्युत मंत्रीमंडलमें भी प्रविष्ट हो सकता है। कौनसी पद्धति अच्छी है इसका विचार सूज्ञ लोग करें।

जिस संसदमें विधान, तथा कानून बनते हैं, वहां अन-पढभी पहुंचे और वे विधान और कानून बनावें, यह कितना हानिकारक है, इसका विचार जो कर सकते हैं वे करें। ऐसे निरक्षर सभासद अपनी बहुमती बनावें और जो मर्जी चाहे करें यह सचमुच भयानक अवस्था है। पर यह अवस्था आज अपने देशमें है और इसके फल हमें भोगने पड रहे हैं। यह प्रगति है वा परागति है इसका विचार लोग करें।

यह स्वराज्य '**बहुपाय्य**' है। अर्थात् इसका राज्य-शासन बहुसंमतिसे होता है। किसी एककी संमतिसे यहांका शासन होनेकी संभावना नहीं है। वेदमंत्रोंमें अनेक राज्य-शासनोंका वर्णन है और उनमें केवल '**स्वराज्यशासन**' के लिये ही यह '**बहुपाय्य**' विशेषण लगाया है। स्वराज्य-शासन सदा 'बहुपाय्य' ही रहेगा, यह स्वराज्यशासन कभी भी 'एकपाय्य' नहीं हो सकता। यह इस विशेषणका भाव है।

इस स्वराज्य शासनका दूसरा विशेषण '**व्यचिष्ठ**' है। '**व्यचिष्ठ**' का अर्थ 'विस्तृत, व्यापक, सब जनोंतक पहुं-चनेवाला' ऐसा होता है। अर्थात् यह बहुपाय्य स्वराज्य 'अपने राष्ट्रमें व्यापक, राष्ट्रके सब प्रजाजनोंतक पहुंचने-वाला और जो किसी प्रजाजनको दूर नहीं रखता' ऐसा है। यही इस स्वराज्यशासनकी विशेषता है।

'**व्यचिष्ठ और बहुपाय्य**' ये दोनों विशेषण केवल '**स्वराज्यशासन**' को ही वेदमें लगाये हैं। यही स्वराज्य शासनकी विशेषता है। अन्य राज्यशासनोंमें ये गुण नहीं है और केवल स्वराज्य शासनमें ही ये विशेष गुण हैं। इसी लिये ऋषियोंने इसी 'स्वराज्यशासन' की घोषणा की थी।

इससे पूर्व एक अथर्ववेदका मंत्र दिया है जिसमें कहा है कि 'ऋषियोंने जनताका कल्याण करनेकी इच्छासे जो हल-चल की उससे राष्ट्र बना, राष्ट्रीय बल बढा और शत्रु दूर करनेका सामर्थ्य भी प्रभावी हुआ।' ऋषियोंकी ये हलचलें किस प्रकारकी होती थी। यह बात इस अत्रिऋषिकी हल-चलसे समझमें आसकती है। ऐसी हलचलें करनेसे ही राष्ट्र निर्माण हुआ और बल तथा ओज बढा।

आलंकारिक कथा

यहां कई लोग शंका करेंगे कि क्या वेदमें इतिहास है? निरुक्तकार वेदके अर्थके संबंधमें जो अनेक पक्ष देते हैं उनमें 'इति ऐतिहासिकाः' ऐसा कहकर 'ऐसा इतिहासवादि-योंका मत है' ऐसा बताते हैं। कई लोग पूर्वकल्पका इतिहास है ऐसा कहते हैं और कई यौगिक अर्थ प्रत्येक पदके करके इस सब कथानकको आलंकारिक सिद्ध करते हैं। अत्रि सूर्य है, अन्धकार असुर है, अन्धकारने सूर्यको छिपाया था, वह सूर्य अन्धकारको तोडकर प्रकट हुआ और अपने प्रकाशसे प्रकाशित हुआ। इस तरहके आलंकारिक कथानक जो बोध देते हैं वह बोध ऊपर हमने दिया है। कथा सत्य है वा आलंकारिक है इसका महत्त्व नहीं है। वह कथा कौनसा बोध देती है इसका महत्त्व है। इस कारण आलं-कारिक माननेसे बोधमें न्यून वा अधिक नहीं होता। यह बोध पूर्वस्थानमें बताया ही है।

रावणराज्यके विरोधमें ऋषियोंकी हलचल

राजा दशरथने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञके प्रसंगमें बडी भारी राष्ट्रीय परिषद् हुई। इसमें देव ऋषि और आर्य राजा संमिलित हुए थे। ऋषि निडरताके साथ शामील हुए थे, परंतु देव और आर्यराजा अपने अन्तःकरणोंमें राव-णका भय रखते थे इसलिए वे डरते थे, इसलिये इनमें वह निडरता नहीं थी कि जो ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें थी। इस राष्ट्रीय परिषद्में रावणके साम्राज्यका नाश करनेका प्रस्ताव हुआ–

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः॥
अब्रुवन् लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः॥
सर्वान् नो बाधते वीर्यात् शासितुं तं न शक्नुमः॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीन् उच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः ॥
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ।
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तथा।
तन्महन्नो भयं तस्मात् राक्षसाद्धोरदर्शनात् ।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥

वा० रा० बाल. १५।४-११

' उस राष्ट्रीय परिषद्में देव, गंधर्व, सिद्ध, ऋषि, महर्षि, आदि सब एकत्रित हुए थे। वहां रावण वध करनेका प्रश्न आया। उसपर वहांके उपस्थित लोगोंके भाषण हुए। इन भाषणोंमें कहा गया कि यह रावण अपनी शक्तिके मदसे देव ऋषि यक्ष गंधर्व ब्राह्मण असुर आदि सबको दुःख देता है। अतः इसके वधका उपाय करना चाहिये। '

इस तरह इस परिषद्में रावणका वध करने और उसका साम्राज्य तोडनेका प्रस्ताव सर्व संमतिसे हुआ। और इस कार्यका कौनसा भाग कौन करे इसका भी निश्चय इसी सभामें हुआ। इस प्रस्तावके स्वीकृत होनेके पश्चात् ऋषि अपना कार्य करनेके लिये प्रवृत्त हुए। दक्षिण भारत दण्डकारण्यमें जाकर ऋषियोंने अनेक आश्रम स्थापन किये थे और तरुणोंको वे तैयार कर रहे थे।

दशग्रीव-वधोद्यताः अप्रमेयबला वीराः ।

वा. रा. बालकांड १७।१८

' रावणका वध करनेके लिये तैयार, अत्यंत बलशाली वीर ' तैयार करनेमें ऋषिलोग लगे थे। और रामचन्द्र दक्षिणमें आनेतक रावणका वध करनेके लिये अत्यंत उत्सुक तरुणवीर उन ऋषियोंके आश्रमोंसे हजारों तैयार हुए थे।

विश्वामित्र ऋषिने प्रथम राम-लक्ष्मणोंको अपने यज्ञका रक्षण करनेके लिये अपने आश्रममें ले जाकर उनको शस्त्रास्त्र विद्या सिखाकर तैयार किया। पचास प्रकारके अस्त्र इस समय श्री रामचन्द्रजीको ऋषि विश्वामित्रने सिखाये थे।

अस्त्रनिर्माण करनेवाली स्त्रियाँ

' कृशाश्व ' नामक एक ऋषि था। उसका विवाह दक्षकन्या ' जया ' और ' सुप्रभा ' के साथ हुआ। इस ऋषिके आश्रममें स्वयं कृशाश्व ऋषि और उनकी ये दोनों स्त्रियां नाना प्रकारके अस्त्र बनाते थे। इनके बनाये अस्त्रोंको इस ऋषिके बनाये होनेके कारण ' कृशाश्व पुत्र ' कहा गया है। कृशाश्व, जया, तथा सुप्रभा इनका नाम अस्त्रनिर्माण करनेके कारण अजरामर हो गया है।

ये ऋषि और ये ऋषिपत्नियां अस्त्रनिर्माण करनेमें अत्यंत प्रवीण थी। ये ज्ञान तथा विज्ञानमें सम्पन्न थे। इनके अस्त्र श्रीरामचन्द्र आनेपर उनको मिले। इसके अतिरिक्त कई ऋषियोंने अपने आश्रमोंमें अनेक शस्त्र और अस्त्र संग्रह करके रखे थे। कई ऋषियोंके आश्रमोंमें इन्द्रादि देवोंने शस्त्रास्त्र रखे थे। वे भी श्रीरामचन्द्रको मिले हैं। इस तरह ऋषियोंने रावणवध करनेके लिये तरुणवीर तैयार करनेका कार्य दक्षिणारण्यमें रहकर किया था और आवश्यक शस्त्रास्त्र इकट्ठे करके ऐन समयपर श्रीरामचन्द्रजीको देनेका भी कार्य ऋषियोंका ही था।

यह रावण साम्राज्य विनष्ट करनेकी हलचल ४०।४२ वर्ष चलती रही और अन्तमें रावणका वध होकर रावणके साम्राज्यका अन्त हुआ। यह हलचल प्रायः ऋषियोंने ही चलायी थी। राक्षसोंको ऋषियोंकी इस हलचलका पता था। इस लिये ये राक्षस ऋषियोंको मारते और उनको खाभी जाते थे। ऐसे मरे हुए ऋषियोंके हड्डियोंके पर्वत बने थे, इतना ऋषियोंका वध होजानेपर भी ऋषियोंने यह हलचल बंद नहीं की थी।

देवजाती (त्रिविष्टप) तिब्बतमें, आर्यजाती उत्तर भारतमें, वानरजाती दक्षिण भारतमें और राक्षस जाती लंका आदि देशोंमें रहती थी। देवजाती और आर्यजातीका सख्य था और वानरजाती और राक्षसजाती परस्पर मिलती थी। ऋषियोंने जो हलचल रावण वधके लिये चलायी थी, उसमें सहायता करनेकी इच्छा देवराजा और आर्यराजा मनमें धारण कर रहे थे। परंतु खुली रीतिसे वे ऋषियोंको मदत देनेमें रावणके भयके कारण समर्थ नहीं थे। परंतु चुपचाप वे शस्त्र अस्त्र तथा अन्य सहायता ऋषियोंके आश्रमोंमें लाकर रखते थे और ऋषि श्रीरामचन्द्रजीको वह सहायता पहुंचाते थे।

नासिकसे दक्षिण दिशामें वानरराज्य था, उत्तर भारतमें आर्योंके राज्य थे। आर्यराजा और वानरराजा परस्पर मिलें तो वह अपने साम्राज्यके लिये बडा भय होगा यह रावण अच्छी तरह जानता था। इसीलिये वानरराज्यकी संमतिसे रावणने अपना चौदह हजार सैन्य नासिकमें खर और दूषणके आधिपत्यमें रखा था। आर्यों और वानरोंकी मित्रता होना इस कारण असंभव हुआ था। नासिकके रावणसैन्यका नाश श्रीरामचन्द्रजीने किया और आर्यराजा और वानरराजा इनका परस्पर मेलका मार्ग सुगम किया। नासिकके रावणके सैन्य-

का नाश करनेका यह महत्त्व है। इससे रामकी और सुग्रीवकी मित्रता बनी और उस प्रमाणमें रावणका बल कम हुआ।

वास्तवमें रावणका वध करना चाहिये यह बात ऋषियोंके मनमें जाग्रत थी। दक्षिणमें ऋषियोंके आश्रमोंमें सीखनेवाले तरुणोंको भी 'दशग्रीव वधोद्यताः' होनेके कारण रावणवध करनेकी कल्पना जाग्रत थी। परंतु श्रीरामचन्द्रके मनमें वह कल्पना पीछेसे आगयी। श्रीरामचन्द्रजी नासिकमें आकर १२ वर्ष हुए, तबतक राक्षसोंका बहुतसा वध उन्होंने किया नहीं था और रावणका नाश करनेकी भी कल्पना उनके अन्तःकरणमें नहीं थी। रावणने सीताको उठाकर ले जानेके पश्चात् रामचन्द्रजीके मनमें रावणवध करना चाहिये यह कल्पना आगयी है। अर्थात् रावण साम्राज्य तोडना चाहिये यह कल्पना श्रीरामचन्द्रजीके मनमें १२ वर्ष बनवास होनेके पश्चात् आगयी है। परंतु रावण साम्राज्यका नाश करनेका यत्न ये ऋषिलोग श्रीरामजन्मके पहिलेसे ही कर रहे थे। अर्थात् रावण वध करना, उसके बंदीवासी तैंतीस कोटि देवोंको मुक्त करना, भारतवर्षको होनेवाला राक्षसोंका उपद्रव दूर करना आदि सब प्रयत्न ऋषि ही कर रहे थे। ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्र बना ऐसा जो कहा है उसका अर्थ यह ऐसा है।

लंकामें जब रामरावणका युद्ध हुआ, तब राक्षस रथोंमें बैठकर युद्ध करते थे और श्रीराम भूमिपर खडा रहकर ही युद्ध करता था। किसी भी देववीरने अपना रथ श्रीरामको दिया नहीं था। जब ८० दिन युद्ध हुआ, रावणका पराभव होगा ऐसा निश्चित हुआ तब इन्द्रने अपना रथ श्रीरामके पास भेजा। और अन्तिम ३।४ दिन राम उस रथमें बैठकर लडता रहा। कोई देववीर अथवा आर्यवीर रावणके विरुद्ध युद्धमें खडा नहीं रह सकता था तथा श्रीरामचन्द्रजीको भी सहायता करनेकी हिंमत नहीं रखता था। इतना डर देववीरों और आर्यवीरोंमें रावणके विषयमें था। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके समयकी रावणराज्य नष्ट करनेकी सब हलचल ऋषियोंकी ही थी।

कश्यपऋषिका आश्रम हलचलका केन्द्र

बहुत प्राचीन समयमें ऋषियोंके आश्रम राष्ट्रीय हलचलके केन्द्र थे। कश्यप ऋषिका आश्रम इसी तरहके ऋषियोंकी हलचलका केन्द्र था। कश्यप ऋषि ऋग्वेदके सूक्तका द्रष्टा है। प्रथम मंडलके ९९ वे सूक्तका यह द्रष्टा है। यहां इसका यही एक ही मंत्रका सूक्त है। यहां ऋग्वेद सर्वानुक्रमणीकारने लिखा है कि यहां कश्यप ऋषिके १००० सूक्त थे और एक एक सूक्त एक एक मंत्रसे अधिक मंत्रवाला था। अर्थात् प्रथम सूक्त एक मंत्रका और अन्तिम सूक्त १००० मंत्रोंका था। इतना महत्त्व कश्यप ऋषिका था। 'काश्यपी पृथिवी' ऐसा वर्णन कश्यपका है। सब पृथिवी कश्यपकी है ऐसा वैदिक समयमें माना जाता था। ऋषियोंका महत्त्व इस कालमें कितना था वह इससे प्रतीत हो सकता है।

इस कश्यप ऋषिके आश्रममें राजकीय हलचलें होती थी। इन्द्रको हटाकर दूसरा इन्द्र इन्द्रपदपर स्थापन करनेकी हलचल वालखिल्य ऋषि कर रहे थे, वे इसी कश्यपके आश्रममें ही बैठकर कर रहे थे। अन्तमें इन्द्र कश्यपको शरण गया और कश्यपने वालखिल्योंको रोक दिया। यह सब कश्यपके आश्रममें ही हुआ।

बलिराजाके आसुरी साम्राज्यको तोडनेकी वामनकी हलचल इसी कश्यपके आश्रममें हुई थी और इसी आश्रममें सहस्रों नवयुवक वामनकी सहायता करनेके लिये वामनके साथ नाना प्रकारके शस्त्र गुप्तरीतिसे लेकर बलिके यज्ञमें गये थे, जिन्होंने बलिका साम्राज्य तोड दिया और उसको पाशोंसे बांधकर कैदमें रख दिया। इसकी सब पूर्व तैयारियां कश्यपके आश्रममें ही हुई थी।

इस कश्यपका पुत्र महोत्कट विनायक था। यह भी ऋषिपुत्र ही था। काशीराजा अपने राज्यमें यज्ञ करना चाहता था। उसका पुरोहित कश्यप था। परंतु कश्यपको दूसरा कार्य होनेके कारण उसने अपने पुत्र महोत्कट विनायकको काशीराज्यमें भेज दिया। महोत्कट विनायकने काशीराज्यमें जाते ही सबसे प्रथम काशीराजाके सैन्यका निरीक्षण किया, सैन्यके शस्त्रास्त्र देखे, कीलोंका अवलोकन किया और राज्यके संरक्षणके सब प्रबंध देखे और उसमें जो सुधार करना आवश्यक था वह सुझाया और वह वहांके प्रबंधकोंद्वारा करवाया। इसी तरह उन्होंने सेनामें नयी सैनिकोंकी भरती की और स्त्रियोंके सेनापथक भी बनाये। काशीराज्यपर जिस समय असुर सेना हमला करनेके लिये आयी, तब इसी विनायकने उस असुर सेनाका नाश किया और काशीराजाको जय प्राप्त करा दिया।

यह सब वृत्तांत विस्तारसे गणेशपुराणमें क्रीडाखंड, अ० १ से ७२ तक है। जो देखना चाहें वह वहां देखें।

पुरोहितका कर्तव्य

यहां शंका हो सकती है कि पुरोहितका कार्य क्या है? वैदिक प्रणालीके अनुसार पुरोहितके कर्तव्योंमें सेना निरीक्षण तथा शस्त्रास्त्रसंयोजनके भी कार्य गिनाये हैं। वैदिक ऋषियोंमें वसिष्ठ ऋषि बहुत ही श्रेष्ठ ऋषि थे। वे अपने कर्तव्योंका वर्णन करते हैं वे मंत्र अब यहां देखिये—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्। संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥१॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाऽहम् ॥२॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्। क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत। इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥४॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनानि उद्वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग्घोषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥६॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। जयामित्रान् प्रपद्यस्व जह्येषां वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥ अथर्व. ३।१९

वसिष्ठ ऋषिने राजाका पुरोहित बनकर उस राजाका प्रभाव बढानेके लिये क्या किया यह इन मन्त्रोंमें कहा है, वह अब मननपूर्वक देखिये—

(१) येषां जिष्णुः पुरोहितः अहं अस्मि– जिनका मैं विजय प्राप्त करा देनेवाला पुरोहित हूं, उनके विजयके लिये (मे इदं ब्रह्मसंशितं) मेरा यह ज्ञान अत्यंत प्रभावशाली बनाया है, तथा इस ज्ञानसे उनका (वीर्यं बलं च संशितं) वीर्य और बल भी अतितीक्ष्ण होकर कभी क्षीण न हो, सदा प्रभावी अवस्थामें रहे।

राजपुरोहित होनेपर ऋषिलोग अपने ज्ञानसे राजाकी सेना, तथा उनके सब संरक्षक दल, तथा उनके संरक्षणके सब साधन अच्छी अवस्थामें रखनेका यत्न दक्षतासे करते थे।

(२) एषां राष्ट्रं अहं संस्यामि–इनके राष्ट्रको मैं प्रभावशाली बना देता हूं, (एषां ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) इस राष्ट्रके लोगोंका ओज, वीर्य और बल मैं विजय प्राप्त करने योग्य प्रभावी बनाता हूं। (अनेन हविषा) इस हविसे (शत्रूणां बाहून् अहं वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको मैं तोड देता हूं।

पुरोहित हवन करके राष्ट्रकी जनताको तथा राजा और संरक्षक सैनिकोंको राष्ट्रहित करनेके लिये आत्मसमर्पण करनेकी शिक्षा देता है। जिस तरह हवनमें डाली हुई आहुति पूर्णतया समर्पित होती है, इसी तरह सब लोग राष्ट्रके हित करनेके लिये अपना कर्तव्य पूर्णरूपसे करनेको तैयार होंगे तो ही राष्ट्रका अभ्युदय होगा। यह बात यज्ञ कुंडमें हवन करके पुरोहित सबको बताता है। इससे राष्ट्रमें नवजीवन उत्पन्न होता है, ओज, वीर्य और बल बढता है। और इससे शत्रुका बल कम हो जाता है। मानो शत्रुके बाहु ही कट गये।

(३) नीचैः पद्यन्तां अधरे भवन्तु– शत्रु नीचे गिर जांय, वे निर्बल हो जांय। (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यान्) जो हमारे उदार हृदय विद्वान नेतापर सेनासे हमला करते हैं, उन (अमित्रान्) शत्रुओंको मैं (ब्रह्मणा क्षिणामि) अपने ज्ञानके बलसे की हुई योजनासे क्षीण करता हूं, उस शत्रुको निर्बल बना देता हूं। और (अहं स्वान् उन्नयामि) मैं अपने पक्षके लोगोंको उठाता हूं।

यदि शत्रु अपनी सेनासे हमारे ज्ञानियोंको तथा धनिकोंको सताने लगे, तो मैं अपने ज्ञानसे ऐसी सुरक्षाका सुप्रबंध करता हूं कि जिससे अपने शत्रु प्रतिदिन निर्बल होते जांय और अपने लोग उत्कर्षको पहुंचते रहें।

(४) येषां अहं पुरोहितः अस्मि– जिनका मैं पुरोहित हूं, उनके शस्त्र अस्त्र (परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक काटनेवाले, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्निसे भी अधिक जलानेवाले तथा (इन्द्रस्य वज्रात्

तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक मारक बना देता हूं।

यह पुरोहित कहता है कि इस राष्ट्रके वीरोंके शस्त्र मैं शत्रुराष्ट्रसे अधिक मारक बनाता हूं। फरशीसे अधिक काटनेवाले, अग्निसे अधिक जलानेवाले और इन्द्रके वज्रसे अर्थात् विद्युत्से भी अधिक विनाशक बनाता हूं। यहां काटना, जलाना और विध्वंस करना ये तीन गुण शस्त्रोंके कहे हैं। तलवार आदि शस्त्र काटते हैं, अग्न्यास्त्र आदि अस्त्र जलाते हैं और विद्युत् अस्त्र विध्वंस करते हैं। यह सब पुरोहित करता है।

(५) **अहं एषां आयुधा संस्यामि**- मैं पुरोहित इन वीरोंके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, (**एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि**) इनका राष्ट्र मैं वीरोंका राष्ट्र बनाकर बढाता हूं। इस राष्ट्रको मैं शत्रुराष्ट्रकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बनाकर मैं बढाता हूं। (**एषां जिष्णु क्षत्रं अजरं अस्तु**) इनका क्षात्रबल विजयी और प्रभावशाली हो जावे। (**एषां चित्तं विश्वेदेवाः अवन्तु**) इनके चित्तका सब देव संरक्षण करें।

पुरोहित सैनिकोंके शस्त्रअस्त्र शत्रुके शस्त्रअस्त्रोंसे अधिक तीक्ष्ण बनाता है। राष्ट्रमें वीरभावको बढाता है और सैनिकोंको शत्रुसे अधिक शूर बनाता है, ऐसी शिक्षा वह देता है। इन सैनिकोंमें विजय देनेवाला शौर्य पुरोहित बढाता है। तथा सब दिव्य विबुधोंकी सहायता इस राष्ट्रको प्राप्त हो ऐसा सुप्रबंध करता है।

(६) (**हे मघवन्**) हे इन्द्र! (**एषां वाजिनानि उद्धर्षन्तां**) इनके सैनिक उत्साहसे युक्त हों, इनके (**जयतां वीराणां घोषः उदेतु**) विजय प्राप्त करनेवाले सैनिकोंके उत्साहकी बडी बडी गर्जनाएं होती रहें। (**केतुमन्तः उलूलयः घोषाः पृथक् उदीरतां**) अपना राष्ट्रध्वज लेकर शत्रुपर आक्रमण करनेवाली इनकी विजयी सेनाकी प्रचण्ड घोषणाएं पृथक् पृथक् होती रहें। (**इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः सेनया यन्तु**) इन्द्रकी अध्यक्षतामें मरुतोंकी देवसेना इस राष्ट्रकी सेनाके साथ सहायार्थ चले। देवसेनाके समान हमारी सेना पराक्रम करे और विजय प्राप्त करे।

शत्रुपर आक्रमण कैसा करना चाहिये, अपने सैनिकोंका उत्साह किस तरह स्थायी रखना चाहिये, अपने ध्वजके रक्षणार्थ कैसा यत्न करना चाहिये इत्यादि बातें यहां देखने योग्य हैं। अपनी सेनाका उत्साह कायम रखनेके लिये यह पुरोहित यह सब करता है। तुम्हारे साथ मरुतोंके सैनिकोंको लाकर रखता हूं तुम आगे बढो ऐसा विश्वास पुरोहित सैनिकोंमें उत्पन्न कर रहा है।

(७) **प्र इत**- शत्रुपर आक्रमण करो, (**जयत**) शत्रुपर विजय प्राप्त करो, (**हे नरः! वः बाहवः उग्राः सन्तु**) हे नेताओ! हे वीरो! तुम्हारे बाहु उग्र हों, वे शौर्यमें शत्रुसे भी अधिक प्रभावी सिद्ध हो जांय। (**तीक्ष्ण-इषवः उग्रायुधाः उग्रबाहवः**) आपके बाण अधिक तीक्ष्ण हैं, आपके शस्त्र अधिक मारक हैं। आपके बाहु शत्रुसे अधिक बलवान हैं। इसलिये तुम शत्रुपर आक्रमण करो और (**अबलधन्वनः अबलान् हत**) निर्बल धनुष्य धारण करनेवाले निर्बल शत्रु सैनिकोंको मारो परास्त करो। भगा दो और विजय प्राप्त करो।

(८) **हे ब्रह्मसंशिते शरव्ये**- हे ज्ञानके कारण अधिक तीक्ष्ण बने हुए शस्त्रो! (**अवसृष्टा परापत**) छोडे जाने पर शत्रुपर ही जाकर गिर जाओ। (**अमित्रान् जय**) शत्रुको परास्त करो, (**प्र पद्यस्व**) शत्रुपर आघात करो, शत्रुको मारो और काटो, (**एषां वरं वरं जहि**) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मारो, (**अमीषां कश्चन मा मोचि**) इन शत्रुवीरोंमेंसे किसीको भी मत छोडो, सबको मार काटकर विनष्ट करो।

यह वसिष्ठ ऋषि भरत राजाका पुरोहित होनेके पश्चात् कह रहा है। भरत राजाके सैनिकोंकी तथा उनके शस्त्रास्त्रोंकी उत्तम व्यवस्था वह कह रहा है। वसिष्ठ सब ऋषियोंमें श्रेष्ठ ऋषि है। वह वैसी ही व्यर्थ गप्पें मारेगा ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। ये वेदके ही मंत्र हैं, वेद मनुष्योंका शाश्वत धर्म है। किस वर्णके मनुष्योंने क्या करना चाहिये यह वेदमंत्रोंके ज्ञानसे सबको विदित हो सकता है। इस-लिये जो इन मंत्रोंमें है वह पुरोहितका कर्तव्य है ऐसा माना जाता था इसमें संदेह नहीं है।

यदि हम आजके हमारे पुरोहितोंकी ओर देखेंगे और हमारे आधुनिक धर्म ग्रंथोंमें हम पुरोहितके कर्तव्य देखेंगे, और आजके पुरोहितोंकी योग्यता हम देखेंगे तो सेनाकी सुव्यवस्था और शस्त्रोंकी अद्ययावत् सिद्धता करनेका कार्य पुरोहितका है ऐसा कोई नहीं कह सकेगा।

इस समयके अपने पुरोहित पूजा हवन मंत्र जप करनेमें तत्पर रहते हैं। इनको दूसरा कुछ भी आता नहीं। यह इनका दोष नहीं है। वैदिक समयकी सुशिक्षा प्रणाली टूट चुकी है, इस कारण ऐसा हुआ है। वैदिक समयमें गुरुकुलीय शिक्षा प्रणालीमें सैनिकीय शिक्षा, युद्धशिक्षा, शस्त्रास्त्र विद्याकी शिक्षा आवश्यक करके सिखायी जाती थी। इसलिये वहांके स्नातक पुरोहित होकर एकदम सेना विभागका निरीक्षण कर सकते थे।

आजके पदवीधरोंको ऐसी शिक्षा मिलती ही नहीं इस कारण वे क्या कर सकते हैं? मनुस्मृतिमें भी कहा है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

मनु० १२।१००

'सेनापतिका कार्य, राज्यशासनका कार्य, दण्ड देनेका अर्थात् न्यायदान करनेका कार्य तथा सर्व लोकोंके अधिकारी होकर करनेके कार्य वेदशास्त्र जाननेवाला कर सकता है।' यहां मनुसे स्पष्ट शब्दोंसे लिखा है कि सेनापति और राज्यके अधिकारी आदिके कार्य वेदका ज्ञानी कर सकता है। अर्थात् गुरुकुलोंमें प्राचीन समयमें वेद सिखाया जाता था और वेदमें जो सेनापत्य, लोकव्यवहार तथा न्यायदानके कार्योंका विचार है वह सब सिखाया जाता था। इसीलिये वसिष्ठ ऋषि सेनापत्यके कार्य करनेके विषयमें अपनी पद्धति बोलता है, वामनने तथा महोत्कट विनायकने कुमारपनमें ही सेनापतिके कार्य किये थे। यह वैदिक शिक्षा पद्धतिकी विशिष्टता है।

वैदिक कालके पुरोहित राजकारण करते थे। वसिष्ठ ऋषिको पुरोहित बनानेके पश्चात् उन्होंने भरत राज्यकी उन्नति की। इस विषयमें एक मंत्रमें कहा है—

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन्
परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुर एता वसिष्ठः
आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त॥ ऋग्वेद ७।३३।६

'(गोअजनासः दण्डा इव) गौओंको चलानेके लिये जैसे निर्बल काष्ट रहते हैं, वैसे भरत लोग प्रारंभमें निर्बल थे। ये भरत (परिच्छिन्नाः अर्भकासः) फुटिर वृत्तीके और बाल बुद्धिके थे। जब इनका (पुर एता वसिष्ठः अभवत्) पुरोहित या नेता वसिष्ठ हुआ तबसे (तृत्सूनां विशः अप्रथन्त) भरत लोग विजयी हुए। बढ गये, फैल गये। चारों ओर विजयी हुए उन्नत हुए।

वसिष्ठ ऋषि राजाका पुरोहित हो जानेके पश्चात् भरत वंशके लोग बुद्धिमान हुए, संघटित हुए, पराक्रमी बने, अभ्युदयको प्राप्त करने लगे। उनके पूर्व वे ही लोग बालबुद्धिके थे, आपसमें झगडनेवाले थे, निर्बल थे और इस कारण उनका सदा पराभव होता था। यह पुरोहितका कार्य है, कि वह राष्ट्रके लोगोंकी संघटना करे, लोगोंको वीर बनावे, राष्ट्रकी सेना तैयार करे, उनके शस्त्र अस्त्र शत्रुके शस्त्रास्त्रोंसे अधिक मारक करके सैनिकोंके पास देवे। अपना जय हो और शत्रुका पराभव हो ऐसी योजनाएं करे और सब प्रकारसे राष्ट्रको उन्नत करता रहे।

ऊपर दिये वसिष्ठ ऋषिके सूक्तमें यही वसिष्ठने करके दिखाया है। मैं जिनका पुरोहित हुआ हूं उनकी सेना और उनके शस्त्र अस्त्र मैं शत्रुकी सेनासे और शत्रुके शस्त्र अस्त्रोंसे अधिक प्रभावशाली बनाता हूं, अधिक मारक बनाता हूं। ऐसा वसिष्ठ बोल रहा है और वैसा उसने करके दिखा भी दिया है।

भरत लोक आपसमें झगडा करनेवाले, असंघटित, बाल बुद्धिके और पराभूत वृत्तीवाले थे। वे ही वसिष्ठ ऋषिके नेतृत्वमें रहनेसे, और वसिष्ठके उपदेशके अनुसार चलनेसे यशस्वी और विजयी हुए। इसी कारण वसिष्ठ ऋषिका संमान सबसे अधिक हुआ था—

उप एनं आध्वं सुमनस्यमाना
आ वो गच्छति प्रतृदो वसिष्ठः॥

ऋग्वेद ७।३३।१४

'हे (प्रतृदः) भरत लोगो! (वसिष्ठः वः आगच्छति) वसिष्ठ ऋषि आपके पास आरहा है। (सुमनस्यमानाः) उत्तम आनन्द प्रसन्न चित्तसे (एनं उप आध्वं) इनका संमान करो।' ऐसा संमान करने योग्य वसिष्ठका यह राष्ट्रीय संघटनाका कार्य है। एक भरत राष्ट्रको संघटित करके उस राष्ट्रको विजयी और पराक्रमी बनाना, यह कार्य बडा भारी राष्ट्रीय कार्य है। ऋषि लोग ऐसा कार्य करते थे और राष्ट्रका अभ्युदय कराते थे, इस कारण ही प्राचीन समयमें ऋषियोंका संमान सब लोग करते थे।

आजके अवशेष

सैन्यका निरीक्षण करना और शस्त्रसंभार जमा करके सैनिकोंको देना यह कार्य वैदिक समयमें पुरोहितका था। इस प्रथाके अवशेष आज भी दीखते हैं।

रामेश्वरकी यात्रा करनेके लिये प्रतिवर्ष पांच लाख लोग जाते हैं। रामेश्वरसे धनुष्कोटीको जाकर, वहांके पुरोहितको धनुष्य, बाण, गंगाजल और रुपये देनेकी प्रथा आज प्रचलित है। आज वहांके पुरोहितोंने चांदीके छोटेसे धनुष्य बाण करके रखे हैं, वे ही आज दिये जाते हैं। यह आजकी बात है, पर जिस समय यह प्रथा शुरू हुई उस समय ऐसे नकली धनुष्य बाण देनेकी संभावना ही नहीं थी। आज जो चांदीके छोटेसे धनुष्य बाण दिये जाते हैं वे युद्धके कार्यके लिये सर्वथा निकम्मे हैं। ऐसे निकम्मे धनुष्यबाण कौन किसको किस कार्यके लिये देगा? धनुष्य बाण देना हो तो वे असली युद्धके उपयोगमें आनेवाले ही कोई देगा और कोई लेगा।

इस प्रथाका मूल ऐसा है। श्रीरामचन्द्रने रावणका पराभव किया और वे वापस अयोध्याके लिये चले। वापस आते समय रामेश्वरमें उन्होंने वीरभद्रके सेनापत्यमें अच्छी सेना देकर वहां उसको रखा और कोई राक्षस उस मार्गसे पुनः भारतमें न आजाय ऐसा प्रबंध करनेके लिये उसे आज्ञा की। लंकामेंसे राक्षस भारतमें आनेका यही मार्ग था। इसको रोकनेके लिये यह सेना वहां रखी गयी। यह श्रीरामचन्द्रने बहुत ही उत्तम प्रबंध किया था।

इस सैन्यको शस्त्रास्त्रोंकी प्राप्ति होनी चाहिये इसलिये यात्रा करनेवालोंने वहांके पुरोहितको धनुष्यबाण देनेकी प्रथा शुरू की गयी। प्रत्येक यात्रा करनेवालेने धनुष्य, बाण, अन्नके लिये धन और पीनेके लिये गंगाजल पुरोहितको देना चाहिये और पुरोहितने ये सब चीजें सैनिकोंको योग्य समयमें देना चाहिये, इसलिये यह योजना की गयी थी, जो आज दिनतक चालू रही है।

रामेश्वरको प्रतिवर्ष पांच लाख यात्रा करनेवाले जाते हैं। प्रत्येकने एक एक धनुष्य दिया तो पांच लाख धनुष्य वहांके सैनिकोंको मिले। पांच पांच बाण दिये तो पचीस लाख बाण उस सेनाको मिले और प्रत्येकने पांच रु. दिये तो पचीस लाख रु. उस सेनाके अन्न वस्त्रके लिये मिले। प्रत्येकने एक घडा गंगाजलका दिया तो पांच लाख गंगोदकके घडे वहां पहुंचे। वहांके सैनिकोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये इतनी सामग्री बस है। कुछ कम हुआ तो भारत सरकार देगी। वहांके सैनिकोंको अपने पीछे भारतकी सब प्रजा है यह जो विश्वास रहेगा, उसका महत्व बहुत ही अधिक है।

यहां मुख्यतः यही कहना है कि रामेश्वरके पुरोहितोंके पास यह युद्धोपयोगी सामान देनेकी जो प्रथा है वह अति प्राचीन प्रणालीके अनुसार ही है। यह प्रणाली वैदिक पद्धतिके अनुरूप ही है यह विचार करने योग्य है।

रामायणके वर्णनसे भी यही दीखता है। दण्डकारण्यमें ऋषियोंने आश्रम करके रहना और वहांके तरुणोंको 'दशग्रीव-वधोद्यत' करना, अपने आश्रमोंमें शस्त्रास्त्र तैयार करना, तथा अपने आश्रमोंमें नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र संग्रहित करके रखना और योग्य समयमें श्रीरामचन्द्रजीके आनेपर उनको देना। यह सब ऋषियोंने किया था। यह सब वैदिक प्रथाके अनुकूल ही है।

कश्यपके आश्रममें उपनयन

कश्यप ऋषिका पुत्र महोत्कट विनायक था। इसका कुछ वृत्तांत इसके पूर्व आ चुका है। इस विनायकका उपनयन कश्यप ऋषिके आश्रममें ही हुआ था। इस उपनयन संस्कारमें विनायकने भिक्षा मांगी थी। इसको भिक्षामें इसको शस्त्र और अस्त्र मिले थे। आजकल भिक्षामें लड्डू देते हैं अथवा रुपये देते हैं। विनायकके लिये जो भिक्षा दी गई वह लड्डू जिलेबियोंकी या रुपयोंकी नहीं थी। सबने उसको शस्त्र अस्त्रोंकी भिक्षा दी थी और उनका उपयोग किस तरह करना चाहिये इसकी शिक्षा भी उसी समय, शस्त्रास्त्र देनेके समय, उसको दी थी। और सबने जो आशीर्वाद दिया था वह यह था—

दुष्टनाशं कुरुशीघ्रं विनायक ! गणेश पुराण २।१०।३०

"हे विनायक! इन शस्त्रों और अस्त्रोंका उपयोग करके तू अतिशीघ्र शत्रुका नाश कर।" कश्यप ऋषिके औरस पुत्रका उनके आश्रममें जो उपनयन हुआ, वह किसी आधुनिक नास्तिक अथवा अविश्वासीके यहांके उपनयनके समान कैसा भी किया गया होगा ऐसा समझना योग्य नहीं है वह तो जैसा होना चाहिये वैसा ही हुआ था। कश्यप ऋषिका आश्रम कोई आधुनिक संस्था नहीं है।

स्वयंसेवकोंका प्रवेश संस्कार

उपनयन संस्कार यह संस्कार उस समयके " राष्ट्रार्य स्वयंसेवक संघ " में प्रवेश करनेका संस्कार था। इसमें तीन विधि होते हैं—(१) मेखलाबंधन, (२) दण्ड-धारण और (३) वेदाध्ययन। मेखलाबंधनका अर्थ कमरपट्टा कमरमें बांधना है इसका मंत्र देखिये—

कमरपट्टा (मेखला) बन्धन

इयं दुरुक्तात् परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्।

सामभंत्र ब्रा० १।६।२७

' यह मेखला (दुरुक्तात् परिबाधमाना) शत्रुके दुरुक्त-बुरे भाषणको दूर करती है, मेरे वर्णको पवित्र बनाती है, प्राण और अपानका बल बढाती है ऐसी यह भाग्य देनेवाली मेखला दिव्य गुणवाली है, इसका मैं धारण करता हूं।'

शत्रुके बुरे भाषण सुनकर उनको सहन करके चुप रहनेका अवसर मेखलाबंधनसे नहीं आता। कमरपट्टा बांधनेसे प्राणापानका बल बढता है, अपना जो वर्ण होगा उसकी पवित्रता बढती है ये लाभ इसके हैं। कमर ढिली रखनेसे बल कम होता है और कमरमें कमरपट्टा बांधनेसे बल बढता है। इस तरह यह मेखलाबंधन बल बढानेवाला है। अब दण्ड धारणका मंत्र देखिये—

दण्डधारण

यो मे दण्डः परापतत् वैहायसोऽधि भूम्याम्।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥

सौत्रमन्त्र पा. गृ. २।२।१२

' जो यह दण्ड आकाशसे (पर्वत शिखरसे) भूमिपर आया है उसको मैं इसलिये धारण करता हूं कि मुझे दीर्घायु ज्ञान और ज्ञानका तेज प्राप्त हो। ' यहां (वैहायसः दण्डः) पर्वत शिखरपरका बांसका दण्ड धारण करना योग्य है ऐसा लिखा है। पहाडी बांस बलवान होता है। दण्ड धारण करनेसे और उसका उपयोग योग्य समयपर करनेसे शत्रु दूर होते हैं। दण्डका भय सबको होता है।

परशुधारण

गुरुकुलमें जो ब्रह्मचारी प्रविष्ट होते हैं उनके लिये कमरपट्टा बांधना और दण्ड धारण करना अत्यंत आवश्यक है। इसी तरह ' परशु ' धारण करना भी है। समिधा काटनेके लिये यह परशु होता है। दण्ड और परशु ये दो शस्त्र ब्रह्मचारी धारण करता ही था। इसके साथ साथ भिक्षामें विनायकको नाना प्रकारके शस्त्र मिले थे। उनका उपयोग भी गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारी सीखते ही थे। इस तरह विद्याध्ययनके साथ साथ युद्धकलाका शिक्षण भी गुरुकुलोंमें मिलता था। इसलिये हम कह सकते हैं कि यह संस्कार राष्ट्रकी रक्षाके लिये जो स्वयंसेवकसंघ प्राचीन समयमें था, उसमें प्रविष्ट होनेका यह उपनयन संस्कार है। इसी लिये कश्यप ऋषिके पुत्र विनायकके उपनयनमें उसको भिक्षामें शस्त्रास्त्र मिले थे। इस तरहकी शिक्षा कश्यप ऋषिके आश्रममें दी जाती थी इसी कारण विनायक तरुण अवस्थामें ही काशी राजाके राज्यमें जाकर, उसकी सेना तैयार करके, उसका संरक्षण शत्रुके हमलेसे करनेके कार्यमें वह सफल रहा था।

सुवीरा तरुणी

वेदमें उत्तम वीर तरुणीकी एक कथा है। खेल नामक एक राजा था। उसकी पुत्री विश्पला थी। यह तरुणी इसी तरहकी वीरोचित युद्धकलाकी शिक्षा प्राप्त करके बडी शूरवीरा बनी थी। इसलिये समय प्राप्त होते ही यह सेनापतिका पद स्वीकार करके युद्धमें उपस्थित रही। युद्ध करते करते शत्रुके शस्त्रोंसे इसकी टांग टूटी। तथापि इस वीरा तरुणीका धैर्य कम नहीं हुआ। टूटी टांगकी जगह लोहेकी टांग लगाकर यह वीरा युद्धमें गयी और विजय प्राप्त करके घर आगयी।

आयसीं जंघां विश्पलायै अधत्तम्।

ऋ० १।११६।१५

' लोहेकी जांघ विश्पलाको बिठलाई ' इस तरह इसका वर्णन वेदमें आता है। जिस समय तरुण स्त्री पुरुष अपने राष्ट्रके अभ्युत्थानके लिये आवश्यक होनेपर युद्ध करनेके लिये और उस युद्धमें अपना बलिदान करनेको भी तैयार होते थे, वहांकी शिक्षा पद्धतिमें ज्ञानके साथ संरक्षणकी भी विद्या सिखाई जाती थी इसमें संदेह नहीं।

आजका उपनयन केवल मौजका समारंभ हुआ है। मेखलाबंधन, दण्डधारण केवल नाममात्र रहे हैं। परशुका तो नाम भी रहा नहीं। भिक्षामें शस्त्र मिलनेके स्थानपर आज मिठाई मिलती है अथवा रुपये मिलते हैं। इतना परिवर्तन हमारे धर्म संस्कारोंमें हुआ है।

उपनयन संस्कारमें कमरपट्टा, दण्ड और परशु मिला। इसके पश्चात् विवाह संस्कारमें ' स्फ्य ' नामक शस्त्र पास रखनेकी आज्ञा है। स्फ्यका अर्थ ' कृपाण ' है जो शिखोंने अपनाया है। यह दोनों ओरसे काटनेवाली तलवार है। वानप्रस्थाश्रममें भी यह रहता है। अन्तमें संन्यासाश्रममें दण्ड रहता ही है इसीलिये संन्यासीको दण्डी कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिकधर्मी आर्य किसी भी आश्रममें रहे वह सशस्त्र ही रहता है। ' मत्तः सर्वभूतेभ्यो अभयं ' ऐसा कहनेवाला संन्यासी भी दण्डधारण करता है। अर्थात् किसी आश्रममें रहनेवाला कोई भी मनुष्य निःशस्त्र नहीं रहता। यह योजना स्पष्टरूपसे बता रही है कि सब स्त्रीपुरुष स्वसंरक्षण करनेमें समर्थ हों। ऐसी शिक्षा राष्ट्रके स्त्रीपुरुषोंको मिलनी चाहिये।

सब देव सशस्त्र हैं।

वैदिक तथा पुराणोंमें जिनका वर्णन किया गया है वे सब देव सशस्त्र हैं। एक भी देव शस्त्ररहित नहीं हैं। गदा, चक्र, त्रिशूल, खड्ग, धनुष्य बाण, वज्र, पाशुपत, शक्ति आदि अनेक शस्त्र तथा अस्त्र देवोंके पास रहते हैं। ' दत्तात्रय ' देव संन्यासी देव हैं, परंतु उसके पास भी गदा, चक्र, त्रिशूल आदि शस्त्र हैं और भयानक कुत्ते भी हैं। शत्रु आनेपर दूरसे ही उनपर कुत्तोंको भेजा जानेकी यह योजना संन्यासी देव दत्तात्रयके पास है।

स्त्री देवताओंके पास पुरुष देवोंकी अपेक्षा द्विगुणित, त्रिगुणित शस्त्र हैं। षड्भुजा, अष्टभुजा, अष्टादशभुजा, अष्टाविंशतिभुजा ऐसा वर्णन स्त्री देवताओंका है। प्रत्येक हाथमें एक एक शस्त्र अस्त्र होता ही है। इसलिये स्त्रियां २८।२८ शस्त्र बर्तें, परंतु पुरुष देवके पास तीनचार शस्त्र बस हैं। यह भाव यहां है। स्त्रियोंका संरक्षण अधिक होना चाहिये इसलिये उनके पास अधिक शस्त्र दिये हैं। स्त्रियोंका अपहरण कोई न करे, स्त्रियां भी युद्ध करनेके लिये और अपना संरक्षण करनेके लिये तैयार हो जांय ऐसी शिक्षा पद्धति यहां दीखती है।

बुद्धोत्तर कालमें देवताएं निःशस्त्र होने लगी और उसी कालमें आर्य पराभूत भी होने लगे हैं। बुद्धपूर्व वैदिककाल और बुद्धोत्तर कालमें इतना परिवर्तन हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मसंरक्षण और राष्ट्रसंरक्षण करनेके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता रहती है, वे वीरताके शुभ गुण वैदिककालके तरुणोंमें तथा तरुणियोंमें आनेके लिये जैसी शिक्षा पद्धति चाहिये, वैसी शिक्षा पद्धति गुरुकुलोंमें उस समय शुरु थी। बुद्धोत्तर कालमें यह पद्धति हमने छोड दी इसलिये हम पराभूत होने लगे।

वीर व वीरा

वैदिक कालमें पुत्रका नाम ' वीर ' था और पुत्रीका नाम ' वीरा ' था—

> जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य
> वीरो जायताम्। वा० यजु० २२।२२

' विजयी रथी सभामें संमान प्राप्त करनेवाला तरुण वीर पुत्र इस यजमानको हो जावे। ' यह आशीर्वाद वैदिक समयमें दिया जाता था। हरएककी यही इच्छा थी कि मुझे पुत्र हुआ तो वह वीर बने और पुत्री हुई तो वह ' वीरा ' बने, भीरू डरपोक, युद्धसे दूर भागनेवाला कुलक्षणी कुपुत्र ऋषियोंको इष्ट नहीं था। इससे पता लग सकता है कि ऋषिकालके लोग किस तरहके वीर थे और आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करनेके लिये किस तरह सिद्ध थे। ' वीर पुत्र ' होनेकी इच्छा राष्ट्र सेवाकी तैयारीकी इच्छा है। ' वीर ' का अर्थ ही ' वीरयति अमित्रान् ' शत्रुओंको दूर करनेवाला है। ऐसे वीर पुत्र किसी भी कालमें अपने राष्ट्रका उद्धार निःसंदेह करेंगे ही इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

अस्तु। इस तरह ऋषिकालमें अथवा वैदिक कालमें शिक्षा पद्धतिमें राष्ट्रमें वीर तरुण उत्पन्न करनेकी सुव्यवस्था थी। ऋषिलोग स्वयं राष्ट्र निर्माण, राष्ट्र संवर्धन तथा राष्ट्रके उत्कर्षके लिये हलचलें करते थे। अपने पुत्रोंको राष्ट्र कार्य करनेके कार्योंमें तैयार करते और उन कार्योंमें भेजते थे। ऋषिलोग अपने विशाल आध्यात्मिक सामर्थ्यसे राष्ट्रीय हलचल करते और राष्ट्रकी अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि करनेके लिये जो जो करना आवश्यक होता था वह सब वे करते थे। इसकी सत्यता इस मंत्रमें देखिये—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
> तपोदीक्षामुपसेदुरग्रे।
> ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
> तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ अथर्व० १९।४१।१

' जनताका कल्याण करनेकी इच्छासे वैदिक समयके आदि ऋषियोंने जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र हुआ, बल और ओज भी बढ गया। इसलिये इस राष्ट्रके सामने सब विबुध नम्रतासे सेवा करनेके लिये तैयार रहें।

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य (=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. ॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — २२ वाँ व्याख्यान

मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति

पोरबंदर निवासी स्वर्गस्थ "श्रीमान् शेठ श्री पोपटलाल कालिदास, वेद प्रचार फंड" की ओरसे प्राप्त २००) दो सौ रुपयोंसे इस व्याख्यानका मुद्रण हुआ है।

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति

परमेश्वरने सब प्रजा उत्पन्न की और पश्चात् मनुष्य देहकी उत्पत्ति की। मानव देहकी रचना सबसे श्रेष्ठ रचना है। इस मानव देहकी रचना देखकर परमेश्वरको भी बडा आनन्द हुआ। अपनी सम्पूर्ण कारीगरीकी परमावधि यहां हुई है, यह देखकर सृष्टिकर्ताको यह आनन्द हुआ है। अर्थात् सृष्टीकी रचना करनेवाले परमेश्वरको भी आनन्द प्रतीत हो, ऐसी उत्तम रचना इस नरदेहमें है। यह मनुष्य शरीर अत्यंत अद्भुत और श्रेष्ठ है। ऐसा इसी कारण ऐतरेय उपनिषद्में कहा है कि—

ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन्,
न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्, ता अब्रुवन्,
न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्,
सुकृतं वतेति।
पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीत्,
यथायतनं प्रविशतेति। ऐ० उ० १।२

" उन देवताओंके सामने गाय लायी गयी, उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह जैसा चाहिये वैसा नहीं है। पश्चात् उन देवताओंके सामने घोडा लाया गया, उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह भी जैसा चाहिये वैसा नहीं है। पश्चात् उन देवताओंके सामने 'पुरुष' अर्थात् 'मानवी देह'को लाया, इस मानवी देहको देवोंने देखा और कहा कि अहाहा यह अच्छा बना है। निःसंदेह मनुष्य देह अच्छा बना है। इसलिये हे देवो! इसमें प्रवेश करो और अपने योग्य स्थानमें जाकर रहो।"

यह मनुष्य देह देवताओंके रहनेके लिये जैसा बनाना चाहिये, वैसा बनाया गया है। यह देवताओंने देखा और इस देहमें अपने अपने योग्य स्थानमें देवताओंने प्रवेश किया और यहां देवताएं आनंदसे रहने लगीं। देखिये इसका वर्णन ऐसा किया है—

देवोंका मंदिर

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन्॥ ऐ. उ. १।२

(१) 'अग्नि वाणीका रूप धारण करके मुखमें प्रविष्ट हुआ। (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ। (३) सूर्य आंख बनकर नेत्रमें निवास करने लगा। (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें जाकर रहने लगीं। (५) औषधिवनस्पतियां बाल बनकर त्वचामें रहने लगीं। (६) चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ। (७) मृत्यु अपान बनकर नाभिमें रहने लगा, और (८) आप (जल) रेत बनकर शिस्नमें रहने लगा।' इस रीतिसे अन्य देवताएं शरीरके अन्यान्य विभागोंमें रहने लगीं और वहांका कार्य करने लगीं। इस तरह यह शरीर देवताओंका निवास स्थान है यह देवोंका मंदिर है।

यही विषय श्रीमद्भागवतकार इस तरह वर्णन कर रहे हैं—

१ वह्निर्वाचा मुखं भेजे, २ प्राणेन नासिके वायुः।
३ अक्षिणी चक्षुरादित्यः, ४ श्रोत्रेण कर्णौ च दिशः।
५ त्वचं रोमभिरोषध्यः, ६ रेतसा शिस्नमापस्तु।
७ गुदं मृत्युरपानेन, ८ हस्ताविन्द्रो बलेनैव।
९ विष्णुर्गत्यैव चरणौ, १० नाडीर्नद्यो लोहितेन।
११ क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुः,
१२ हृदयं मनसा चन्द्रमाः।
१३ बुद्ध्या ब्रह्माणि हृदयं, १४ रुद्रोऽभिमत्या हृदयं।
१५ चित्तेन हृदयं चैत्यः, १६ क्षेत्रज्ञः प्राविशत्तदा।

श्री. भागवत ३।२६।६३-७०

१ अग्नि	वाणी	बनकर	मुखमें	प्रविष्ट हुआ।
२ वायु	प्राण	,,	नासिकामें	,, ,,
३ आदित्य	नेत्र	,,	आंखोंमें	,, ,,

४ दिशाएं	श्रोत्र	बनकर	कानोंमें	प्रविष्ट	हुई ।
५ औषधियां	लोम	,,	त्वचामें	,,	,,
६ आपधारा	रेत	,,	शिस्नमें	,,	,,
७ मृत्यु	अपान	,,	गुदामें	,,	हुआ ।
८ इन्द्र	बल	,,	हाथोंमें	,,	,,
९ विष्णु	गति	,,	पावोंमें	,,	,,
१० नदियां	रक्त	,,	नाडियोंमें	,,	हुई ।
११ समुद्र	क्षुधातृषा	,,	उदरमें	,,	हुआ ।
१२ चन्द्रमा	मन	,,	मनमें	,,	,,
१३ ब्रह्मा	बुद्धि	,,	हृदयमें	,,	,,
१४ रुद्र	अभिमान	,,	हृदयमें	,,	,,
१५ चैत्य (क्षेत्रज्ञ)	चित्त	,,	हृदयमें	,,	,,

यहां पंदरह देवताओंका अंशरूपसे शरीरमें आकर अपने स्थानोंमें रहनेका वर्णन है । ऐतरेय उपनिषद्में केवल आठ ही देवताओंका निर्देश था । श्रीमद्भागवतकारने पंदरह देवताओंका उल्लेख किया है । वेदमंत्रोंमें ३३ देवताओंका उल्लेख है देखिये—

१ यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥१२॥
२ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥
३ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥२७॥
४ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
५ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः३४

अथर्व० १०।७

‘ (१) जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक रहे हैं, जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु रहते हैं । (२) तैंतीस देव जिसके अंगमें रहते हैं । (३) जिसके गात्रों और अवयवोंमें तैंतीस देव रहते हैं, इन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं । (४) जहां सूर्य आंख बना है, चन्द्रमा भी दूसरा आंख बना है, अग्नि जिसका मुख हुआ है, (५) जिसके प्राण और अपान वायु बने हैं, चक्षु सूर्य बना है, दिशाएं कान बनी हैं उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये प्रणाम है । ’

यह वर्णन परब्रह्म, परमात्माका है । इस परमात्माके विराट् देहमें, विश्वरूप देहमें ये सब देवताएं हैं । यह विश्वरूप देह इस परमात्माका है । इस देहको हरकोई देख सकता है । इसका अंश ही यह मनुष्यका देह है । परमात्माके विराट् देहमें अग्नि आदि ३३ देवताएं रहती हैं, वैसी ही और उन्ही स्थानोंमें मानवी देहमें भी उन्ही देवताओंके अंश रहते हैं । यही वर्णन अथर्ववेदमें है देखिये—

देवोंसे देव बने हैं

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान् विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥
२ प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
३ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोकमासते ॥१०॥
४ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
७ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥

अथर्व० ११।८

‘ (१) पहिले दस देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न हुए । जो यह प्रत्यक्ष देखता है वह ब्रह्मके विषयमें प्रवचन कर सकता है । (२) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाणी और मन ये दस छोटे देव बडे देवोंके पुत्र हैं । (३) ये दस पुत्र देव, दस पिता देवोंसे उत्पन्न हुए थे । पिता देवोंने पुत्र देवोंको (मानवी शरीरमें) स्थान दिया और वे पिता देव कहां भला जाकर बसने लगे ? अर्थात् विश्वरूपी परमात्म देहमें रहनेवाले इन पितृदेवोंने दस पुत्र उत्पन्न किये । इन पुत्रोंको मानव देहमें उचित स्थान देकर वे विश्वपुरुषके देहमें यथापूर्व रहने लगे । (४) ये देव संसिच् नामक हैं । सब मर्त्य पदार्थोंको अपने अमृत-रससे सिंचित करके ये देव मनुष्य शरीरमें घुस कर रहे हैं । (५) अस्थिकी समिधा बनायी और रेतका घृत बनाया और रेतके साथ ये देव मानवी शरीरमें घुस गये हैं । (६-७) इन देवताओंके साथ ब्रह्मने शरीरमें जीवभावसे प्रवेश किया है । इसलिये ज्ञानी लोक इस पुरुषको ब्रह्म करके कहते हैं । सब देवता गौवें गोशालामें रहनेके समान इस शरीररूपी शालामें रहती हैं । ’

इस तरह वेदने यह बात अत्यंत स्पष्ट शब्दोंसे कही है कि इस शरीरमें सब देवताएं अर्थात् ३३ देवताएं रहती हैं। जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं । इस ३३ देवताओंकी तालिका ऐसी बनती है—

पिण्ड—ब्रह्माण्डका चित्र

ब्रह्माण्ड	कार्य	पिण्ड	
१ परमात्मा, परब्रह्म	चेतना	जीवात्मा	
१ द्यौः	प्रकाश ज्ञान	सिर	द्युलोक
२ सूर्य, आदित्य	दृष्टी, दर्शन	नेत्र	
३ बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति	बुद्धि	ज्ञानग्रहण साधन	
४ दिन-रात्रिः	उन्मेष निमेष	नेत्रफलक	
५ असुनीति	प्राणशक्ति	प्राणसंस्थान	
६ यम (नियामक)	संयम	अन्तःकरण	
७ दिशा	श्रवण	कर्ण	
८ नक्षत्र	तेजः केन्द्र	नाना ज्ञानकेन्द्र	
९ पूषा	पुष्टी	शरीरपोषक	
१० भगः	भाग्य	तेजस्विता	
११ वरुणः	शान्ति	साम्य	
१ अन्तरिक्ष	अवकाश	उदर	अन्तरिक्ष लोक
२ इन्द्रः, त्वष्टा	बल, शिल्प, कर्म	हाथ	
३ वायु, अश्विनौ	प्राण, श्वासोच्छ्वास	फेंफडे, नासिका	
४ चन्द्र	शान्ति	अन्तर्मन	
५ विद्युत्	चांचल्य	मन (जाग्रतीका)	
६ नभः	समान प्राण	मध्य	
७ रुद्र	अहंकार	हृदय	
८ मरुतः	अन्यप्राण उपप्राण	सर्व शरीर	
९ ऋभवः	शिल्प, कौशल्य	हस्तकर्म	
१० सोमः	समता, उत्साह	दोष दूर करनेकी शक्ति	
११ मृत्यु	अपान	नाभि	
१ पृथिवी	आधार	पांव	भूलोक
२ विष्णु	गति, रक्षण	,,	
३ प्रजापति	प्रजनन	शिश्न	
४ पर्वत	उच्चता	पृष्ठवंश	
५ नदियां	रक्तसंचालन	नाडियां	
६ समुद्र	जल रसतत्त्व	उदर, हृदयाशय	
७ आपः	रेतः	शिश्न	
८ मेघ वृष्टि	रेतः स्खलन	,,	
९ ओषधिवनस्पतियां	केश	त्वचा	
१० अग्निः वैश्वानरः	वाणी	मुख	
११ चेतः	चिंतन	चित्त	

*

अपने शरीरमें सिर द्युलोक है, छाती पेट अन्तरिक्ष लोक है और पांव भूलोक है। इसका अर्थ यह है कि पृथिवी-अन्तरिक्ष और द्युलोकमें जितनी देवताएं हैं वे सबकी सब देवताएं अपने इस शरीरमें हैं। भूलोककी देवताएं शरीरके नीचले भागमें हैं, अन्तरिक्ष लोककी देवताएं शरीरके मध्य-भागमें हैं और द्युलोककी देवताएं सिरके स्थानमें हैं। यह क्रम बतानेके लिये यहां एक तालिका दी है। इस तालिकामें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमेंसे ग्यारह ग्यारह देवताएं ही केवल ली हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां केवल शरीरमें ३३ ही देवताएं हैं। यह अर्थ बिलकुल नहीं है। जितनी देवताएं विश्वमें हैं, उन सब देवताओंके अंश इस शरीरमें हैं, मानो यह शरीर विश्वका अंश ही है। यहां ग्यारह देवताएं लेनेका कारण यह है कि वेदमें वैसा निर्देश है देखिये—

ये देवा दिव्येकादश स्थ ॥ ११ ॥
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ॥ १२ ॥
ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ॥ १३ ॥
त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि ॥ १० ॥
अथर्व० १९।२७

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
वा० यजु० २०।११; काण्व० २१।१०३

ये देवासो दिव्येकादश स्थ, पृथिव्यामेकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ॥
वा० य० ७।१९; काण्व० ७।२०

'द्युलोकमें ग्यारह, अन्तरिक्ष लोकमें ग्यारह और पृथिवी लोकमें ग्यारह ऐसे तैंतीस देव हैं। (त्रया देवा एकादश) ग्यारह ग्यारह ऐसे तीन देवगण हैं। (अप्सुक्षितः एकादश) आप लोक अर्थात् अन्तरिक्ष लोकमें ग्यारह हैं। इस रीतिसे वेदोंमें देवोंके ग्यारह ग्यारह ऐसे तीन स्थानोंमें मिलकर तैंतीस देवगण लिखे हैं। इसलिये हमने यहां तीनों लोकोंमें ग्यारह ग्यारह देवताएं लिखी हैं। वेदमें तथा संपूर्ण विश्वमें अनेक देवताएं हैं। उन सबका अन्तर्भाव इन ग्यारह या इन तैंतीस देवोंमें होता है अर्थात् इनमेंसे प्रत्येक देवके सहचारी देव बहुतसे हैं। वे सब इनके साथ रहते हैं। इस तरह ३; ३३; ३३०; ३३०००; ३३०००००, या ३३०००००००० इतनी देवतायें इनके साथ रहती हैं ऐसा समझना चाहिये। अस्तु जो विश्वमें देवताएं हैं उन सबका समावेश इन तैंतीस देवोंके सहचारी गणमें होता है और ये सब देव मानवी शरीरमें अंशरूपसे आकर बसे हैं। यह वेदका कथन वेदके मंत्रोंमें हमने देखा है। वेदमें भी ३३से अधिक देवोंकी गणना है–

त्रयस्त्रिंशत्, त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति ॥ अथर्व० ११।७।२
त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। वा. यजु. ३३।७

'तैंतीस, तीनसो और छः हजार देव हैं।' इस तरह ६३३३ यह संख्या तीनकी गुणितके क्रमसे बढती जाती है और अन्तमें तैंतीस करोडतक पहुंचती है। ३३३९ इतने देव यजुर्वेदमें गिनाये हैं।

ये सब देव मानवशरीरमें रहते हैं। शरीरके प्रत्येक अवयव तथा इंद्रियमें ये रहते हैं और वहांका कार्य ये देव ही करते हैं। इस तरह मानव शरीर '**देवोंकी सभा**' है। विस्तारसे बोलना हो तो यह "**तैंतीस करोड देवताओंकी परिषद्**" है, अथवा तैंतीस देवोंकी सभा है ऐसा भी संक्षेपसे कहते हैं। तैंतीस करोड देवोंकी गणना करना और प्रत्येकका वर्णन करना यह मनुष्यके लिये शक्य नहीं। इसी तरह इन सबको शरीरमें ढूंढना भी कठिन है। परंतु ३३ देवोंके स्थान और कर्म हम मानवी शरीरमें देख सकते हैं। इसीलिये वेदमंत्रोंमें तथा उपनिषद् वचनोंमें दस बारह मुख्य देवोंका ही वर्णन किया है। शेष देवताओंकी मननसे कल्पना करनी योग्य है।

हमने ऊपरकी तालिकामें ३३ देवोंकी गणना की है। ऊपर दिये उपनिषद् और वेदमंत्रोंमें दस बारह देवोंकी गणना है और श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें १५ देवताओंकी गणना की है। देवताओंके नाम थोडे दिये हों वा अधिक दिये हों, यह महत्त्वका विषय नहीं है, सब देवताओंका निवास मानवी शरीरमें है, यह सत्य बात जाननी चाहिये। यहां हम विचारार्थ ३३ देव ही लेंगे अथवा ७।८ ही लेंगे। उनका अनुभव यहां शरीरमें करके अन्य देवोंका निवास वैसा ही है ऐसा हम जानेंगे।

सूर्य आंखमें अंशरूपसे रहा है इसलिये सूर्य पिता है और आंख उसका पुत्र है। सूर्य और आंखका पितापुत्र सम्बन्ध है। शरीरके अन्दर हड्डी पृथ्वीका अंश है, पृथ्वी और शरीरस्थ

घन भागका पितापुत्र संबंध है। शरीरमें जो जलांश है वह बाह्य जलका अंश है, शरीरकी उष्णता बाह्य अग्निका अंश है, बाहरका वायु शरीरमें प्राण है इस तरह यह पितापुत्र संबंध स्पष्ट है। इसी तरह विश्वव्यापक परमात्मा और शरीरका जीव आत्मा ये पितापुत्र ही हैं देखिये-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

भ० गी० १५।७

'ईश्वरका अंश यहां जीव होकर रहा है।' तथा वेदमें भी कहा है—

विश्वे अमृतस्य पुत्राः। ऋ० १०।१३।१

'हम सब अमृतरूप परमेश्वरके पुत्र हैं।' यह वेदका कहना इसी पितापुत्र संबंधके भावका द्योतक है। जिस तरह आंख सूर्यका पुत्र है उसी तरह जीव परमात्माका पुत्र है। सब देवताएं इस रीतिसे अंशरूपसे इस शरीरमें रही हैं। विश्वमें विशाल देवताएं हैं और शरीरमें उन सबके अंश हैं, पर देवताएं वेही हैं। अग्नि और सूर्य बाहर हैं और उनके अंश यहां शरीरमें हैं। अतः शरीरके अंश विश्वव्यापक बृहद्देवतांशोंके साथ मिलकर कार्य करते हैं।

देवतामय शरीर

मनुष्य शरीरके रोमरोममें देवताओंके अंश हैं। शरीरका कोई भाग ऐसा नहीं है कि जो देवतांशसे रहित हो। यहां कोई कहेंगे कि यह शरीर मरनेपर सड जाता है, इसलिये यह देवतांशयुक्त नहीं, आत्मा रहनेतक ही इसमें देवतांश रहते हैं। परंतु ऐसा कहना भ्रम है। जिस समय यह शरीर मरता है उसके बाद सडना शुरू होता है और सडनेके बाद उसमें अनेक कृमि उत्पन्न होते हैं, ये कृमि सेंकडों और हजारों होते हैं। ये यहां कहांसे आये? एक जीव प्रबल होकर उसने सब शरीरपर अपना अधिकार जमाया था, वही उस शरीरका चालक आत्मा था, वह मर गया। इसके पश्चात् जो छोटे अणु जीव थे वे प्रबल होगये और अपनी शक्तिके अनुसार शरीरके विभागोंपर अपना अधिकार जमाने लगे। ये ही कृमि हैं। ये शरीरमें ही थे, पर शक्तिशाली जीवके अधीन थे। वह शासक जीव आत्मा चला गया। इसलिये ये प्रबल होकर उठ खडे हो गये।

जैसा एक सम्राट् नष्ट होनेपर छोटे छोटे मांडलिक या सरदार अपना अपना छोटा छोटा राज्य स्वतंत्र है ऐसा कह-कर अपनी स्वतंत्रता जाहीर करते हैं और छोटे छोटे अनेक राज्य बनाते हैं, इसी तरह यहां शरीरमें होता है। सडानेका अर्थ और कुछ नहीं है, उस शरीरमें जो एक साम्राज्य-की भावना थी, वह नष्ट हुई और सम्राट्के नष्ट होनेसे छोटे छोटे सरदार स्वतंत्र हो गये, ये ही कीडे हैं। इन सब कीडोंके शरीरोंका जो अधिष्ठाता जीव था वह वहीं था पर वह उस समय मुख्य शरीरके मुख्य अधिष्ठाताके शासनको शिरोधार्य मानता था और उसके अधीन रहकर कार्य करता था। अब वह मुख्य सम्राट् चला गया, इसलिये ये सरदार स्वतंत्र होगये, वे ही ये कृमी हैं !!!

ऊपरके मंत्रोंमें ३, या ३३, या ३३३, या ३३३९ या ६३३९ या ऐसी संख्यामें देवताओंके अंश शरीरमें रहते हैं ऐसा जो कहा है, वह संख्या ३३ करोडतक जा सकती है।

इस शरीरमें जीवात्मा राजा है, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये मंत्री है, इन्द्रियाँ प्रान्ताधिकारी हैं। इस तरह यह शरीरका राज्य चलाया जा रहा है। प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका एक अधिष्ठाता है। वह मनके आधीन रहकर अपने अवयवके अन्दरका कार्य करता है। ऐसे शरीरके ३३ प्रान्त हैं, इनको हम इंद्रिय तथा अवयव कहते हैं। इस प्रत्येक प्रान्तके सूत्र पृष्ठवंशमें जुडे रहते हैं। पृष्ठवंशमें मज्जा-ग्रन्थीयाँ हैं। एक एक मज्जाग्रंथीके साथ सेंकडों मज्जातंतु जुडे रहते हैं और उस प्रान्तका संचालन उनके द्वारा किया जाता है। इस रीतिसे संपूर्ण शरीरका संचालन होता है।

जीवात्मा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस मंत्रीमंडलके साथ मंत्रणा करके पूर्वोक्त मज्जाकेन्द्रोंके द्वारा मज्जातन्तुओंके द्वारा जिस शरीरावयवमें कार्य करना हो, उस शरीर विभागमें कार्य करता है। इसी तरह इसी मार्गसे सब शरीरके भागों और उपभागोंमें जो होता है, उसका ज्ञान भी वह जीव आत्मा प्राप्त करता है और वहां जो संदेश देना हो वह दे देता है। पांवमें कांटा लगा तो उसी समय अन्तरात्मातक संदेश जाता है और वहां शत्रुका आक्रमण हुआ ऐसा ज्ञान अन्तरात्माको होता है। यह शरीर इस तरह एक राज्य ही है। इस शरीरव्यवस्थाके अनुसार ही राज्यकी शासन-प्रणाली होनी चाहिये, ऐसा निश्चय वैदिक ऋषियोंका था। इसलिये उनकी संपूर्ण राज्यशासनव्यवस्था अध्यात्मके सिद्धान्तोंपर आश्रित हुई थी। प्रथम शरीरकी व्यवस्था ध्यानमें आनी चाहिये। वह इस तरह है—

जीवात्मा	— शरीररूपी राष्ट्रका राजा
बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार	— मंत्रीमंडल
प्राण, उपप्राण,	— संरक्षक दल, सैनिक
इंद्रियां	— कार्य करनेवाले अधिकारी, और उनके कार्यकर्ता
अवयव	— शरीररूप राष्ट्रके प्रांत
शरीर	— राष्ट्र

इस तरह यह शरीर एक राष्ट्र ही है। जीवात्मा अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार द्वारा सब शरीरके विभागोंमें कार्य करता है।

जब सब इंद्रिय और अवयव उसकी आज्ञामें रहकर कार्य करते हैं, उन्मत्त प्रमत्त तथा स्वेच्छाविहारी नहीं होते, तबतक ही शरीरकी स्वस्थता होती है। जब कोई इंद्रिय स्वेच्छाचारी बनता है, तब वह सब शरीरका नाश करता है। इसलिये इन्द्रिय संयम, और मनोनिग्रहकी आवश्यकता शरीरके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक होती है। सब इन्द्रिय और सब अवयव अर्थात् उनके सब अधिष्ठाता अधिकारी जीवात्माके आधीन रहकर सब शरीरकी स्वस्थताके लिये ही कार्य करते हैं, तब शरीर नीरोग और दीर्घजीवी होता है।

आंगिरसी विद्या

ये इंद्रियाँ और ये अवयव सब मिलकर मुख्यतया ३३ हैं और इनके अधिष्ठाता भी उतने ही हैं। जब किसी अवयव वा इंद्रियमें कुछ कार्य करना हो तो वह कार्यकी प्रेरणा आत्मा, मन द्वारा करता है और मज्जातन्तुओं द्वारा वहां कार्य शुरू होता है। यहां हमें मानसिक प्रेरणाद्वारा शरीर-स्वास्थ्य प्राप्त करनेकी विद्याका पता लगता है। इसको ' आंगिरसी विद्या ' कहते हैं। अंगोंमें संचार करनेवाला एक प्रकारका अद्भुत जीवन रस है, उस अंगरसका अपनी इच्छानुसार शरीरमें संचार करनेसे शरीरमें आरोग्य होता है।

मानसिक प्रेरणासे आरोग्य

शरीरमें किसी स्थानपर कुछ बिगाड हुआ है, तो अपनी मानासिक प्रेरणा द्वारा अंगीय जीवन रसको वहां संचारित करनेसे और आरोग्यमय विचारोंको मनमें धारण करनेसे वहांका आरोग्य सुस्थिर होता है।

' मैं रोगी नहीं रहूंगा, मैं निरोग रहूंगा, मेरे पास रोग नहीं रहेंगे, मेरे शरीरके रोग दूर हो रहे हैं और शरीरमें आरोग्य स्थिर हो रहा है। ' इस तरहकी प्रेरणा करनेसे और मनको आरोग्य पूर्ण विचारोंसे ओतप्रोत करनेसे सचमुच आरोग्य स्थिर हो जाता है।

रोगका चिंतन करनेसे रोग होते हैं और आरोग्यका भाव मनमें धारण करनेसे आरोग्य बढता है। यह सब मनोव्यापारपर अवलंबित है। किसी गांवमें किसी रोगका प्रादुर्भाव हुआ, तो उस गांवमें जो निर्बल मनके लोग रहते हैं वे मनमें रातदिन ऐसा विचार करते रहते हैं कि ' यह रोग कदाचित् मुझे भी होगा और मैं इस रोगसे रोगी बनूंगा। ' इस तरह मनद्वारा वे सतत रोगका ही चिंतन करते रहते हैं और अन्तमें निर्बल मनके कारण वे रोगी होते हैं। सौमें अस्सी रोगी मनकी इस तरहकी निर्बलताके कारण रोगग्रस्त होते हैं, मानो रोगको वे निमंत्रण ही देकर अपने शरीरमें बुलाते हैं।

पर यदि वे ईश्वरकी उपासना करेंगे, मन्त्रका जप करेंगे, अथवा ध्यानधारणादि योगसाधन करेंगे, और मनमें प्रबलताके साथ यह विचार रखेंगे, कि मैं ईश्वरकी उपासना करता हूं, इस मन्त्रका जप करता हूं, इसकी ध्यान धारणा करता हूं, इसलिये मेरे पास रोग नहीं आसकता। मैं ईश्वरकी उपासना करनेसे मैं सुरक्षित रहूंगा। इस तरह मनको सुदृढ विचारोंसे बलवान बना देंगे, तो वे रोगके आक्रमणसे बच भी सकते हैं।

पागल मनुष्यका मन

प्रायः पागल मनुष्य संसर्गरोगके शिकार नहीं होते। इसका कारण यह है कि उनको उस रोगका प्रादुर्भाव अपने ग्राममें हुआ है इसका पता भी नहीं होता, इस कारण वे उस रोगका ध्यान नहीं करते। इस हेतुसे वे बच जाते हैं। सर्व साधारण मनुष्य यदि उपासनादि साधनोंसे अपने मनको बलवान बना देंगे, तो वह सामर्थ्यवान मन उनका बचाव कर सकता है। इसीको ' विश्वाससे चिकित्सा ' कहते हैं। विश्वाससे मनमें बडा भारी बल उत्पन्न होता है और वह बल उसका संरक्षण भी करता है। इसको कई लोग ' अन्ध-विश्वास ' कह सकते हैं। भले ही वह अन्धविश्वास हो, पर वह उनके मनको सुदृढ बना रहा है,

इसलिये वह उसका सहायक है। जिससे मनकी शक्ति बढ जाती है, उससे मनुष्य अपनी सुरक्षा कर सकता है।

मन मित्र है और शत्रु भी है

मनुष्यका मन बडाभारी प्रभावशाली है। पर इसका प्रभावशालीपन इसका सहायक भी होता है और मारक भी होता है। अपना ही मन अपनेको मारे यह है तो बडा विचित्र ! पर वस्तुतः ऐसा ही है। यदि मन मानेगा कि 'मैं निर्बल हो रहा हूं, और अब मेरे जीनेकी कोई आशा नहीं है।' तब तो कुछ भी रोग न होते हुए भी वह केवल मनके उस विश्वाससे ही वह क्षीण होता हुआ कुछ दिनोंके पश्चात् मर जायगा। इस विषयमें एक दृष्टान्त है—

"अमेरिकाके किसी बडे नगरकी एक गलीमें मानस-शास्त्रका मनन करनेवाले ७।८ डाक्टर थे। उन्होंने क्षीणता और चिंता उत्पन्न करनेवाले विचारोंका परिणाम मनुष्यके शरीरपर क्या होता है यह प्रयोग करके देखनेका निश्चय किया। उन सबने एक सुदृढ शरीरवाले मनुष्यपर यह प्रयोग करनेका निश्चय किया। उन सब डाक्टरोंने अपना विचार एक मतसे निश्चित किया और जिस मनुष्यपर प्रयोग करना है उसका भी निश्चय किया और प्रयोगका दिन भी नियत किया।"

"वह प्रयोग करनेका दिन आगया। उस दिन पहिले डाक्टरने उस मनुष्यको बुलाया, अपने चिकित्सालयमें ले जाकर उसको टेबलपर सुलाकर सब प्रकारकी परीक्षा की। और आश्चर्यचकित होकर उसे कहा कि तुम्हारे हृदयको ऐसा रोग हुआ है कि उसका कोई इलाज डाक्टरी विद्यामें नहीं है।"

'उस रोगीने डाक्टरसे कहा कि 'डाक्टर साहेब ! मैं तो बडा नीरोग हूं और शक्तिमान भी हूं।' उसपर वह डाक्टर बोला कि 'इस रोगमें ऐसा ही प्रतीत होता है, पर अचानक मनुष्य मर जाता है।'

वह मनुष्य आगे बढा। उसे दूसरे डाक्टरने बुलाया और प्रेमसे उसके शरीरकी परीक्षा की और उसने भी उसको हृदय रोगकी और इस रोगके असाध्य होनेकी बात कही। इस तरह चार डाक्टरोंने ऐसा ही नाट्य किया। उस मनुष्यको इस बातका बिलकुल पता नहीं था कि ये डाक्टर मानसशक्तिके संशोधन करनेके लिये यह सब नाट्य कर रहे हैं। वह तो यही समझ रहा था कि ये तो परोपकारी डाक्टर हैं, मुझसे फीज भी नहीं ले रहे हैं, केवल उपकारके भावसे ये यह सब कर रहे हैं। इस कारण इस मनुष्यके मनपर यही परिणाम होने लगा कि सचमुच मुझे हृदयका रोग हुआ है और वह असाध्य अवस्थातक पहुंच चुका है।

चौथे डाक्टरने भी जब उसको वही हृदय विकारकी बात सुनाई, तब तो वह बोलने लगा कि 'डाक्टरसाहेब ! यह तो सच बात है कि आज मुझे कुछ कमजोरी तो अवश्य मालूम हो रही है।' डाक्टरने कहा कि 'यह रोग ही ऐसा है। रोगीपर किस समय हमला करता है किसीको पता नहीं लगता और अचानक मृत्यु हो जाती है।'

आगे भी ३।४ डाक्टर थे जो इस व्यूहमें शामील थे!! उन सबने इस मनुष्यकी परीक्षा करके यही कहा कि यह रोग असाध्य है और शीघ्र ही मृत्यु होनेकी भी संभावना है। उस मनुष्यपर इन डाक्टरोंके कहनेका बडा भारी परिणाम हुआ। वह समझने लगा कि मेरी शीघ्र ही मृत्यु होनेवाली है। दो तीन दिन इस मनुष्यके इसी चिन्तामें गये। उसपर बडा बुरा परिणाम होता गया। मनकी चिन्ताका परिणाम उसपर हुआ और ४।५ दिनोंमें वह हृदयकी क्रिया बंद होनेके कारण ही मर गया।

उस मनुष्यके हृदयमें कोई रोग नहीं था। पर मानसशक्तिका संशोधन करनेवाले डाक्टरोंने अपने प्रयोग उसपर किये, उसके मनपर बुरा असर हुआ और उसका परिणाम उसकी मृत्युमें हुआ।

वह मनुष्य मनमें सोचने लगा कि ये सब डाक्टर परोपकारी सज्जन हैं। मुझसे फीज वगैर, कुछ भी नहीं ले रहे हैं। केवल परोपकार बुद्धिसे ही ये यह सब कर रहे हैं। इसलिये सचमुच मेरे हृदयमें ही यह भयानक बीमारी हुई है और इस रोगके कारण मैंने २।४ दिनोंमें मरना ही है। जब उसके मनमें ऐसा निश्चय हुआ और उसके शरीरमें उसका मन वैसे मृत्युके विचारसे कार्य करने लगा, तब उसका हृदय क्षीण होने लगा और वही विचार बढता जानेसे उसकी मृत्यु हुई।

यदि किसीके घरमें कोई रोगी हो और डाक्टर या वैद्य उसे कहे कि यह बिमारी खराब है और २।३ दिन भी

जीवन धारण करना कठिन है तो वह रोगी १५ दिन जीवित रहनेवाला होगा, तो भी जलदी २।३ दिनोंमें ही मर जायगा। इसके विरुद्ध यदि रोगीको यह धैर्य दिया जायगा कि तू 'अब रोगमुक्त हो रहा है, अब तुम्हें भय रहा नहीं है, बहुत जल्दी ही तू आरोग्यसंपन्न हो जायगा।' ऐसा विश्वास रोगीके मनमें उत्पन्न करनेसे उसका रोगमुक्त होना सहज हो सकता है।

यह मनकी शक्तिकी बात है। यह मनकी शक्ति अच्छे भावमें रही तो उसका परिणाम अच्छा और बुरे भावमें रही तो उसका परिणाम बुरा होगा। हमारा मन है, वही हमारा मित्र भी होता है और शत्रु भी होता है, उसका कारण यह है। इस कारण कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

'मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण है।' मनके कारण ही मनुष्य बंधनमें पडता है और मुक्त भी हो जाता है। ऊपर शरीरमें रहनेवाले ३३ तत्त्व कहे हैं, उनमें मन एक पदार्थ है। पर शरीरके सब भाग इस मनके आधीन रहते हैं और मनके आदेशानुसार कार्य करते हैं। आत्मा और बुद्धि वस्तुतः मनके ऊपर है, पर मन बिगडा तो उसके बिगड जानेसे आत्मा बुद्धिका भी कुछ नहीं चलता और उनको भी मनके अनुसार चलना पडता है। इतना मनका सामर्थ्य है। मनका यह सामर्थ्य है इसीलिये मनको शुभ-विचारमें स्थिर रखना आवश्यक है। इसी हेतुसे मनको शिवसंकल्पमय करनेका आदेश वेद दे रहा है—

मन शिवसंकल्प करे

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ वा० यजु० ३४

(१) जो मेरा मन जागते हुए दूर दूर जाता है और वही मेरा मन सोते हुए भी उसी प्रकार दूर जाता है। यह दूर जानेवाला मेरा मन प्रकाश देनेवालोंको भी प्रकाशित करनेवाला है। वह एकमात्र दैवी शक्तिसे युक्त है वह मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।

(२) जिस मनसे मननशील और कर्मकुशल विद्वान् यज्ञोंमें, युद्धोंमें अथवा सभाओंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं। जो मन सब प्रजाजनोंमें अपूर्व शक्तिसे युक्त है वह मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।

(३) जो मन मनुष्योंको ज्ञान, चिन्तनशक्ति और धैर्य देता है, जो प्रजाजनोंमें अमरज्योतिके समान प्रकाशरूप है, जिसके विना मनुष्य कुछ भी कार्य नहीं करता, वह मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।

(४) जिस अमृतमय मनने भूत, वर्तमान और भविष्य-कालके समस्त पदार्थोंका ग्रहण किया होता है, जिससे सात ऋत्विज जिसमें यजन करते हैं वैसे यज्ञ फैलाये जाते हैं वह मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।

(५) जैसे रथ नाभीमें आरे लगे होते हैं वैसे जिस मनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ठीक तरह रहे हैं, व्यवस्थासे रहे हैं, जिसमें प्रजाओंका सब चित्त ओतप्रोत हुआ है, वह मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।

(६) जिस तरह उत्तम सारथी लगामोंसे वेगवान् घोडोंको उत्तम मार्गपरसे चलाता है, उस तरह जो मन मनुष्योंको ले जाता है, वह हृदयमें रहनेवाला जरारहित वेगवान् मेरा मन शुभसंकल्प करनेवाला हो।

इन मंत्रोंमें मनके कई महत्त्वपूर्ण गुणोंका वर्णन किया गया है। इसलिये इस सूक्तका विचार यहां करना आवश्यक है।

मानस शक्ति

मनुष्यको जो 'मनुष्य' कहा जाता है वह मनके कारण ही है। 'मननात् मनुष्यः' मनन कर सकनेके कारण

मानवको मनुष्य कहते हैं। 'मन जैसा मनुष्य है।' इतना मनुष्यमें मनका महत्व है। सब मानवके अंगों और अवयवोंपर मनका प्रभुत्व है, मन सबका अध्यक्ष है। मनके आधीन ही सब अवयव हैं। मनुष्यको यही ज्ञान प्राप्त होना चाहिये। प्रथम यहां हम मनके सूक्तका थोडासा विचार करेंगे—

१ यत् जाग्रतः दूरं उदैति – मन जाग्रत अवस्थामें दूर दूर भटकता रहता है। इसका अनुभव हरएक मानवके लिये प्रतिदिन आता है। मन एकाग्र नहीं होता, मन चञ्चल है ऐसा ही सब लोग बोलते रहते हैं। इस अनुभवकी ही बात इस मंत्रमें कही है। हम किसीसे पूछते हैं कि 'तुम्हारा मन कहां था।' अर्थात् वह जिस कार्यमें लगना चाहिये था, उस कार्यमें लगा नहीं था। किसी दूसरे स्थानपर भटकता रहा। हरएक कार्य करनेके समय मनुष्यका मन उसमें लगा तो ही वह कार्य उससे ठीक तरहसे हो सकता है। और उसका मन इधर उधर भटकता रहा, तो वह कार्य उससे बिगडता है। जाग्रतिमें यह मन दूर दूर भटकता रहता है यह अनुभव सब मनुष्योंको है। जागृतिमें यह मन न भटके, एकाग्र होकर कार्य करे, इस कार्यको सिद्ध करनेके लिये योगसाधन उत्पन्न हुआ है। योगसाधन करनेपर भी मनुष्यका मन एकाग्र होता है ऐसी बात नहीं है। मन स्वभावतः चंचल होनेसे वह इधर उधर जाता ही है।

योगः चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन

'चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेका नाम योग है।' योगशास्त्र ही चञ्चल मनको स्थिर करनेका विचार करता है और मनकी स्थिरता करनेके उपाय बताता है।

२ तत् उ सुप्तस्य तथा एव एति— वह मन सो जानेपर वैसा ही इतस्ततः भटकता रहता है। लोगोंको यह आश्चर्यकारक प्रतीत होगा। सोनेपर प्रथम स्वप्न आते हैं। स्वप्न सबको आते हैं, उनमें नाना प्रकारके दृश्य मन निर्माण करता है, मानो उतने रूप वह स्वयं धारण करता है और वही मन उतने रूपोंमें नाचता है। यह स्वप्नका चमत्कार तो सब मनुष्योंने देखा ही है। पर सुषुप्तिमें यह मन दूर दूर जाता है इसका पता बहुत ही थोडे लोगोंको है। गाढ निद्रा आनेपर जाग्रतिका मन स्तब्ध होकर सो जाता है यह सत्य है। परन्तु उसी मनका दूसरा जो भाग सुषुप्तिमें जाग उठता है वह तो इस जाग्रतिके मनसे भी अधिक प्रभावी होता है।

इस विषयके हम एक दो उदाहरण देते हैं जिससे सुषुप्तिमें मनके भ्रमणका पता पाठकोंको लग जायगा।

कोल्हापुरमें श्री नाना गोलिवडेकर नामक एक सज्जन रहते हैं। वे पांच भाई थे। एक भाई छः मील दूरीपरके अपने खेतवाडीमें रहता था और बाकीके चार भाई कोल्हापुरमें रहते थे। एक दिन किसी एक बैरागीने उस खेतपर रहनेवाले भाईका वध अपने पासका चिमटा मारकर किया और उसके पासके २०० रु. उठाकर वह बैरागी भाग गया। यह प्रातःकाल ४ बजे हुआ।

ठीक चार बजे ऐसे दृश्यका स्वप्न कोल्हापुरमें सोनेवाली उसकी माताको आया और माता उठकर चिल्लाने लगी कि बैरागीने चिमटेसे मेरे पुत्रका वध किया, वह पुत्र मर गया है और उसके शरीरसे खून बह रहा है।

पुत्र और मातामें छः मीलका अन्तर है। पुत्रका मन माताके मनतक पहुंचा और उसने वहांका वृत्तांत माताको स्वप्नके रूपमें स्पष्टरीतिसे बता दिया। अर्थात् निद्रामें भी मन दूर दूर जाता है और ऐसे अनुभव बताता है। प्रत्यक्ष वह दृश्य सामने होने और दीखनेके समान ये दृश्य दीखते हैं। ये दृश्य मनके सामने खडे करनेका सामर्थ्य मनमें रहता है। जहां कुछ भी नहीं होता वहां प्रत्यक्ष दृश्य दिखानेका कार्य मन करता है। जहां माता सो रही थी वहां पुत्रकी मृत्युका दृश्य नहीं था, वह दृश्य तो छः मील दूर था। परंतु वह प्रत्यक्ष होनेके समान उसको दीखने लगा। यह निर्माण करनेकी शक्ति मनमें है।

दूर जाकर वहां दृश्य प्रत्यक्ष होनेके समान दिखानेका सामर्थ्य मनमें है। इसी कारण मनको प्रबल विचारधारासे आरोग्यकी स्थापना करनेका कार्य दिया, तो वह रोगीके शरीरमें आरोग्यकी स्थापना भी कर सकता है। मनकी अद्भुत शक्तिसे ऐसे कार्य किये जा सकते हैं। आरोग्यके विचार मनमें भर दिये जांय तो वे वहां आरोग्य स्थिर कर सकते हैं।

३ दूरंगमं— मन दूर दूर जानेवाला है। वह जैसा पास कार्य कर सकता है वैसा दूर भी करता है। कितना भी अन्तर रहा, तो उसके लिये वहां पहुंचना कठिन नहीं है।

इस शक्तिके कारण आरोग्यके मानसिक विचारप्रवाहोंको दूरस्थ रोगीके पास भेजकर उसको भी आरोग्य प्राप्त हो ऐसा मानस संदेश द्वारा प्रबंध हो सकता है ।

' हे रोगी ! तू अब अच्छा हो रहा है, रोग दूर हो रहा है । नीरोगिता तुम्हारे अन्दर बढ रही है। धैर्य धारण करो ! मानसिक निर्बलता दूर करो । ' इस तरहके विचार अपने मनसे दूरस्थित रोगीके पास भेजकर उसको स्वास्थ्य लाभ हो ऐसा किया जा सकता है । ईश्वर प्रार्थना, मन्त्र जप, प्रसाद भक्षण आदिसे जो लाभ विश्वास रखनेवालोंको होते हैं वे इस मानसशक्तिके कारण ही हैं । जो विश्वास नहीं रखेंगे उनको लाभ नहीं होगा । पर विश्वास रखनेवालोंको लाभ होता है यही मानसशक्तिके सामर्थ्यका प्रभाव है ।

४ **ज्योतिषां एकं ज्योतिः**— ज्योतियोंको भी प्रकाश देनेवाली एकमात्र ज्योती मन ही है । प्रकाशोंको भी प्रकाशित करनेवाली यह मनःशक्ति है। विश्वका साक्षात्कार इसी प्रकाशमय मनसे मनुष्यको होता है ।

५ **येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति**— जिस मनकी सहायतासे कर्ममें प्रवीण बुद्धिमान लोग यज्ञोंमें अथवा युद्धोंमें किंवा सभाओंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं अर्थात् मनकी सहायता न मिली तो मनुष्य कोई कर्म नहीं कर सकता । इतनी मनकी सहायताकी कर्म करनेमें आवश्यकता है ।

जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है वही इन्द्रिय कर्म कर सकता है । किसीका ध्यान न रहा तो न आंख देख सकता है और न कान सुन सकता है और नाही दूसरे इन्द्रिय अपने अपने कर्म कर सकते हैं। आंखके सामनेसे हजारों मनुष्य गुजर जांय तो भी यदि मन उस आंखके साथ न रहा तो वह आंख उस मानव समुदायको नहीं देखेगा । मन आंखके साथ रहा तो ही देख सकेगा । मनुष्यमात्र जो कर्म करते हैं वे सबके सब मन साथ रहा तो ही कर सकते है । अर्थात् मन ही सब कर्ता है ।

जनक और शुककी कथा है । शुकमुनि राजा जनकके पास बोध प्राप्त करनेके लिये गया । जनकने उसके सिरपर पानीकी बाल्टी भरकर रखी और साथ ४ नौकर तलवारके साथ उसके चारों ओर रखे और आज्ञा की कि यदि पानी इस बाल्टीमेंसे नीचे गिरा तो इसका सिर काट दो । शुक संपूर्ण शहरमें घुमकर सिरपर बाल्टी धारण करके वापस आया, तब राजाने पूछा कि ' हे शुक ! तूने शहरमें क्या देखा ? ' शुकने उत्तर दिया कि ' पानीकी बाल्टीको छोडकर मैंने कुछ भी देखा नहीं । '

इसका अर्थ यह है कि नगरमें सर्वत्र नाच और तमाशे चल रहे थे। व्यापार व्यवहार चल रहा था । पर शुकका मन उनके पास नहीं था । पानी न गिरे यही एकमात्र विचार उसके मनमें था । इस कारण वह दूसरा कुछ भी देख नहीं सका । जब शुकमुनि दूसरी वार उसी नगरीमें गया, तो उसने सब नगरीका ऐश्वर्य देखा । मनका यह प्रभाव है । हरएक मनुष्यको इसका अनुभव है ।

कोई मनुष्य किसीको जोरोंसे पुकारता है, पर वह किसी दूसरे कार्यमें व्यग्र होनेसे सुनता नहीं । क्योंकि उसका मन कानोंके साथ संलग्न नहीं था । इसलिये कितना भी जोरसे पुकारा जाय तो भी सुनाई नहीं देगा । इसलिये यज्ञ करना हो, युद्ध करना हो अथवा सभासमितिका कार्य करना हो, उसमें मन लगाना आवश्यक है । इसीलिये यहां इस मंत्रमें कहा कि है ' ज्ञानी लोग मनसे ही सब कार्य करते हैं । ' यह सत्य है और इसीलिये मनका महत्त्व विशेष ही है ।

६ **प्रजानां अन्तः यत् अपूर्वं यक्षं** – प्रजाजनोंके अन्तःकरणमें यह मन अपूर्व शक्तिसे युक्त है इसलिये यह मन सत्कार करनेयोग्य है। जिस मनकी सहायतासे ही सब कार्य किये जाते हैं उस मनके सामर्थ्यका वर्णन कौन कर सकता है? इतना यह मन सामर्थ्यवान है इसीलिये यह आदरणीय और पूजनीय है ।

७ **यत् प्रज्ञानं उत चेतः धृतिः च** – यह मन ज्ञान देता है, चिन्तन या विचार करता है और यह धैर्य भी देता है । मनुष्यको ज्ञान प्राप्त हुआ, वह मनुष्य विचार करने लगा, तो विचारसे मनुष्यको धैर्य प्राप्त होता है । मेरे अन्दर यह मन बडा शक्तिशाली है । आरोग्यके विचारोंको धारण करनेसे यह मन शरीरमें आरोग्यकी स्थापना कर सकता है । यदि निर्बलताके विचार मनमें रहे तो धैर्य विनष्ट हो जायगा और यदि ज्ञान और विचारके द्वारा सामर्थ्यके विचार मनमें रहे तो धैर्य उस मनुष्यमें बढेगा । यह धैर्य मन ही देता है । इसलिये मनमें धैर्यके विचार धारण करना योग्य है।

८ यत् प्रजासु अन्तः अमृतं ज्योतिः - जो मन प्रजाजनोंके अन्दर अमर प्रकाश जैसा है। जिस तरह प्रकाश अन्धकारको दूर करके सरल मार्ग बताता है और उसी तरह यह सब दुःख, रोग और मृत्युके भयको दूर करके सुख, नीरोगिता और दीर्घजीवन देता है। सुख, आनन्द, नीरोगिता और दीर्घजीवन प्राप्त करना सर्वथा मनके ऊपर ही अवलंबित है, यदि मन 'मैं क्षीण हूं, मैं अल्प हूं, मैं निकम्मा हूं, मैं रोगी हूं, मैं दुःखी हूं' ऐसा ही मानने लगेगा, तो वह मनुष्य वैसा ही बन जायगा। इसलिये ऐसे हीन विचार मनमें कभी धारण नहीं करने चाहिये। और इन विचारोंके विरुद्ध विचार 'मैं बडा हूं, मैं कर्म ठीक तरह करके अपनी उन्नति करा सकता हूं' ऐसे विचार जो मनमें धारण करेगा वह सदा आनन्दप्रसन्न रहेगा। यह प्रकाशमय मन मनुष्योंमें है, इस कारण मनुष्य अन्धकारमें नहीं डूबेगा। मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनकी यह अद्भुत शक्ति जाने और इस मानसिक ज्योतिका ही प्रकाश अपने अन्तःकरणमें देखे। इसीसे वह सदा आनंदप्रसन्न रह सकता है।

९ यस्मात् ऋते किंचन कर्म न क्रियते - जिस मनकी सहायताके विना कुछ भी कर्म नहीं किया जाता। अर्थात् सब कर्म यही मन करता और कराता है। इसी गुणका वर्णन इससे पूर्व (५ वें परिच्छेदमें) आया है। उसीका यह अन्य शब्दोंसे वर्णन है।

१० येन अमृतेन इदं सर्वं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतं - जिस अमर शक्तिवाले मनने यह सब भूत, वर्तमान और भविष्यकालका सब विश्व अपने अन्दर धारण किया है। मन ही सब विश्वका धारण करता है। मनमें जितने विश्वका धारण हुआ है उतना ही विश्व है। मनने जिसका ग्रहण ही नहीं किया वह है ऐसा भी नहीं कह सकते। मन सब विश्वको अपने अन्दर धारण करता है, तदाकार बनता है और कहता है कि फलानी वस्तु है, तब वह वस्तु है ऐसा माना जाता है। मनको जिसका पता नहीं है वह वस्तु है ऐसा कौन किस तरह कह सकता है? इसलिये मानो कि सब विश्वका अस्तित्व सिद्ध करनेवाला मन ही है। मन ही विश्वका अस्तित्व स्वीकारता है, इतना सामर्थ्य मनमें है।

११ येन सप्त होता यज्ञः तायते - जिस मनके द्वारा सात होता याजक जहां हवन करते हैं, उस यज्ञका कर्म किया जाता है। दो आंख, दो कान, दो नाकके छिद्र और एक मुख ये सात होतागण इस शरीरमें जो यज्ञ चल रहा है उसमें बैठे हैं और यहांका यज्ञ कर रहे हैं। आत्मा यजमान है, बुद्धि यजमानपत्नी है, मन अहंकार और चित्त ये सहायक गण हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंद्रिय ये सात इस जीवनयज्ञके होतागण हैं। इनके द्वारा यहांका यज्ञ चलाया जाता है। यह जीवनयज्ञ मनुष्यका मन ही चला रहा है। मन न रहा तो यहांका कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मनके साथ रहनेसे ही यहांके सब कार्य ठीक तरह होते हैं। इस कारण मनको शुभसंकल्प करनेवाला बनाना चाहिये।

१२ रथनाभौ आरा इव यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिताः - रथ नाभीमें जैसे आरे बिठलाये होते हैं, उस तरह जिस मनमें ऋचाएं, साम और यजु रहते हैं। मनके आधारसे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद रहते हैं। मन ही इन वेदोंका धारण करता और उनका उपयोग करता है। मनका यह महत्त्व है कि जो वेदविद्याका धारण कर सकता है। वेदविद्यामें सब विद्याएं आगयी हैं, अर्थात् मनमें सब विद्याएं रहती हैं। मनुष्यके मनका यह महत्त्व है। मनुष्य अपने मनके द्वारा सब विद्याओंका धारण कर सकता है। जिसमें सब विद्याएं रहती हैं ऐसा मन मनुष्यके अन्दर रहता है। इससे मानवी देहका महत्त्व कितना है यह विदित हो सकता है।

१३ यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तं ओतम् - जिस मनमें प्रजाजनोंका संपूर्ण चित्त अर्थात् चिन्तन करनेका सामर्थ्य रहा है। मनन करता है इसलिये इस मानवको मनुष्य कहते हैं। 'मननान्मनुष्यः' मनन शक्ति रहनेसे इसको मनुष्य कहा जाता है। चिंतन शक्ति मनुष्यके मनमें ओतप्रोत रहती है। मनका यह महत्त्व है। जो भी मानवका सामर्थ्य है वह सब मनमें रहता है। मानो मन ही मानवका संपूर्ण सामर्थ्य है। अथवा 'मन' ही मानव है।

१४ सुषारथिः अभीशुभिः वाजिनः अश्वान् इव यत् मनुष्यान् नेनीयते - जैसा उत्तम सारथी लगामोंसे वेगवान् घोडोंको ठीक मार्गपरसे चलाता है, उस तरह जो मन मनुष्योंको अर्थात् मनुष्यके इंद्रियोंको चलाता है वह मानवका संचालक मन सारथी जैसा ही है। यह मानवका शरीर रथ है, इस रथको इंद्रियरूपी घोडे जोते हैं, बुद्धि सारथी है और मनरूपी लगाम है। इस तरह यह रथ

चलता है। इसका तात्पर्य यह है कि मन ही यहां मुख्य चालक है।

१५ हृत्प्रतिष्ठं यत् अजिरं जविष्ठं तत् मनः - हृदयमें मन रहता है, वह जरारहित बडा वेगवान् है। यह मन है इस मनके कारण मानवको मनुष्य कहते हैं।

१६ तत् मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु— वह मेरा मन शुभसंकल्प करनेवाला हो। क्योंकि इस मनके अधीन यह सब शरीर है, इस मनके संचालनसे शरीरके सब कार्य हो रहे हैं, इसलिये मन शुभसंकल्प करनेवाला हुआ तो मनुष्यसे शुभ कर्म होंगे और यदि यह मन अशुभ संकल्प करने लगा तो इससे बहुत बुरे कर्म होंगे। इसलिये मनको शुभसंकल्पमें सदा रत रखना अत्यंत आवश्यक है।

यदि कोई कार्यकर्ता महाशक्तिमान है, जो वह अच्छे भी कार्य करेगा और बुरे भी करेगा। इस कारण वह अच्छा शिक्षित और शुभ कर्म करनेवाला बनेगा तो ही अच्छा है। परन्तु यदि वह बुरी प्रवृत्तिवाला बनेगा तो वह बुरे कार्य करके बहुत ही हानि करेगा। इसलिये शक्तिवान् सत्प्रवृत्तिवाला होना अत्यंत आवश्यक है। मन अत्यंत शक्तिमान है, जिसकी शक्तियोंका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह अत्यंत शक्तिमान है इसीलिये उस मनको 'शिवसंकल्प' से युक्त करना अत्यंत आवश्यक है।

मानस शक्तिसे उन्नति

मानस शक्ति बडी प्रभावशाली है यह इस वर्णनसे सिद्ध हुआ। अब इस मानस शक्तिसे मनुष्य किस तरह अपनी उन्नति कर सकता है इसका विचार करना है। यहां यह निश्चयपूर्वक जानना चाहिये कि '**शिवसंकल्प करनेवाला मन बना तो ही मनुष्यकी उन्नति होनेकी संभावना है।**' यदि यह मन अशुभ संकल्प करने लगा तो सची उन्नतिकी कोई आशा ही नहीं है। इसलिये इस बातकी अत्यंत आवश्यकता है कि मनुष्य अपने मनको शुभ संकल्पमें ही रखे और अशुभ विचारकी ओर इस मनको झुकने न दे। यह प्रधान नियम है। अब इस शरीरमें क्या हो रहा है वह देखिये—

शरीर मन डेढमनके बोझवाला होता है। इतने बोझको सहज उठाना और घुमाना यह कोई साधारण कार्य नहीं है। परन्तु यह कार्य केवल इच्छामात्रसे मन करता है। मनमें आते ही शरीर उठता है, घूमता है, कूदने लगता है, वृक्षपर चढता है, कूवेमें उतरता है। एकमन डेढमन बोझको केवल इच्छासे उठाता है। यह आश्चर्यकारक कार्य यहां मन करता है।

मनमें इच्छा हुई तो मनुष्य हाथ पांव हिलाता है, पुस्तकें पढता है, जो मनमें आजाय वह कार्य करने लगता है। मनुष्य इसका विचार करे तो उसे आश्चर्य प्रतीत होगा कि यह जड देह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता, वह सहस्रों महान् कार्य करके दिखाता है। यह इच्छा शक्तिसे ये सब कार्य करता है।

अर्थात् मनकी शक्ति इतने बोझदार शरीरको इच्छामात्रसे उठाती है। इससे सिद्ध होता है कि मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली है। जो मनकी शक्ति हाथों और पांवोंको हिलाती है और सब शरीरको नचाती है, क्या वह शक्ति अपने अन्दरके अवयवोंमें स्फुरण उत्पन्न नहीं कर सकती? मानना पडेगा कि मनकी शक्ति शरीरके आन्तरिक अवयवोंपर भी प्रभाव डाल सकती है। इसीलिये योगशास्त्र निर्माण हुआ है।

इस समय हमारे शरीरमें कई अवयव ऐच्छिक हैं अर्थात् इच्छामात्रसे हिलाये जाते हैं। जैसे हाथ पांव आदि अवयव इच्छासे जैसे चाहिये वैसे हिलाये जाते हैं। परन्तु शरीरमें ऐसे भी अवयव हैं कि जो इच्छासे कार्य नहीं करते परन्तु ईश योजनासे कार्य करते हैं। इनपर अपनी इच्छा शक्ति चलानेका नाम योगाभ्यास है।

योगसाधनमें ऐसे प्रयोग हैं कि हृदयको स्तब्ध करना, आन्तरिक अवयवोंको इच्छाशक्तिसे संचालित करना आदि। पृष्ठवंशमें अनेक चक्र हैं इनमें दैवी शक्तियां हैं तथा इनके आधीन शरीरके कई आन्तरिक अवयव हैं। इच्छाशक्तिसे मनका इनपर संयम करके इनमें स्फुरणा उत्पन्न की जाती है और जो अवयव आज अपने आधीन नहीं हैं उनको अपनी इच्छानुसार कार्य करनेमें लगाया जा सकता है। इस तरह शरीरके अन्तर बाह्य अवयवोंपर मनका प्रभाव स्थापित किया जा सकता है। और जिस तरह मनुष्य अपने हाथको हिला सकता है उसी तरह आन्तरिक अवयवको भी उत्तेजित किया जा सकता है। अर्थात् उससे

अपनी इच्छानुसार न्यूनाधिक कार्य कराना मनुष्यके आधीन हो सकता है।

मान लीजिये कि किसीकी पचनक्रिया मंद हुई है। तो मनसे सूर्यचक्रपर संयम करके इस मज्जाकेन्द्रको उत्तेजित किया जा सकता है और इसके उत्तेजनसे उसकी पचन शक्ति संवर्धित हो सकती है। केवल इच्छामात्रसे यह हो सकता है। पृष्ठवंशके नाना चक्रोंपर संयम करनेसे इस तरह अनेक अनुभव लिये जा सकते हैं।

जहां रोग हुआ है, वहां इच्छामात्रसे रक्तका प्रवाह भेजकर वहांका आरोग्य बढाया जा सकता है, निर्बल अवयवको मनकी उत्तेजनासे सबल बनाया जा सकता है। यह तो अपने शरीरपर हो सकता है, पर मनःशक्ति अधिक प्रभावशक्ति हुई तो उसकी मनकी प्रेरणासे दूसरेके शरीरपर भी इष्ट परिणाम किया जा सकता है।

मनकी यह आश्चर्यकारक शक्ति है। इस शक्तिको केन्द्रित करना और स्वाधीन करना योगसाधनसे होता है और यह स्वाधीन हुई शक्ति अपने शरीरपर तथा दूसरोंके शरीरोंपर भी आश्चर्यजनक परिणाम करती है। इसलिये इस मानस शक्तिको अपने स्वाधीन रखना चाहिये। यह मन इधर उधर भटकने लगा तो उसको पुनः वापस लाकर एक स्थानपर उसको स्थिर रखना आवश्यक है। इस विषयमें एक सूक्त ही वेदमें है वह यहां देखिये-

मन आवर्तनम्

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥ १ ॥
यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥ २ ॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् ॥ ३ ॥
यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥ ४ ॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥ ५ ॥
यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ६ ॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ॥ ७ ॥
यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ॥ ८ ॥
यत्ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ९ ॥
यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥ १० ॥
यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ११ ॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ॥
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १२ ॥

ऋ० १०।५८

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय अर्ध वही है कि जो यहां बारहवें मंत्रमें दिया है। वास्तवमें मंत्रका प्रथम चरण ही पृथक् पृथक् है, द्वितीय तृतीय और चतुर्थ चरण सब मंत्रोंमें एक ही है।

मन इधर उधर भटकता है उसको वापस लाकर एक स्थानपर सुस्थिर रखना है वह यत्न किस तरह किया जाता है वह इस सूक्तने बताया है। इस सूक्तके मंत्रोंका क्रमशः आशय ऐसा है—

१ जो तेरा मन मृत्युका विचार कर रहा है, २ जो तेरा मन द्युलोकसे पृथिवीतक भ्रमण कर रहा है, ३ जो तेरा मन चारों ओर भूमिपर जा रहा है, ४ जो तेरा मन चारों दिशाओंमें भटक रहा है, ५ जो समुद्र और महासागरपर दौड रहा है, ६ जो दूर दूरकी गतिवाली किरणोंके पीछे जा रहा है, ७ जो नाना प्रकारके जलप्रवाहों और औषधियोंकी खोज कर रहा है, ८ जो उषा और सूर्यका विचार कर रहा है, ९ जो बडे बडे पर्वतों और पहाडोंपर घूम रहा है, १० जो इस संपूर्ण जगत्में भ्रमण कर रहा है, ११ जो दूर दूरके बडे पर्वतोंपर दौडता है, १२ जो भूत, वर्तमान और भविष्यकालकी बातोंका विचार करता है, उसको मैं वापस लाता हूं और उसकी (क्षयाय निवासाय) एक स्थानपर स्थिरता हो जाय और उसका उपयोग तुम्हारे (जीवसे) दीर्घ जीवनकी प्राप्तिके लिये हो ऐसा मैं करता हूँ।

इस मंत्रमें मनके भ्रमणके थोडेसे स्थान दिये हैं। हरएक साधक जानता है कि मन किस तरह दूर दूर भ्रमण करता है और यहां कहे उतने ही स्थानोंपर भ्रमण करता है ऐसा नहीं। पर इससे सहस्रगुणित स्थानोंपर वह दौडता है। रातदिन उसकी दौड धूप चल ही रही है। इसका स्थिर रहना और एक स्थानपर रहना ही मुष्किल है। इस सूक्तके ये पद मुख्य हैं-(मनो जगाम दूरकं) मन दूर दूर भटकता है, उसको (तत् आवर्तयामसि) वापस लाता हूं, वह (क्षयाय, निवासाय) यहां एक स्थानपर स्थिर हो जाय और (जीवसे) जीवनकी सहायता करे। नीरोग, स्वास्थ्ययुक्त दीर्घजीवन प्राप्त करनेकी सहायता करे। इसकी सिद्धिके लिये यह सब प्रयत्न है। मनुष्यको स्वास्थ्यपूर्ण रोगरहित दीर्घ जीवन प्राप्त होना चाहिये। वह मन स्वाधीन रहनेसे ही हो सकता है। यदि मन नाना दिशाओंमें व्यग्र और व्याकुल रहा तो मनुष्यका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा, मनकी शक्ति बिखरी रहेगी तो मनुष्यको कार्यसिद्धिका यश नहीं

मिलेगा। इसलिये मनुष्य अपनी मनकी शक्ति केन्द्रित करके एक कार्यमें लगावें।

इस सूक्तमें १०।१२ स्थानोंपर मन गया तो उसको वहांसे वापस लाने और एक स्थानपर उसको स्थिर करनेकी सूचना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने ही स्थानोंपर मनुष्यका मन भटकता है। मनुष्यका मन तो सहस्रों स्थानोंपर भटकता रहता है, उसको वापस लाकर उसको खींचकर वापस लाना आवश्यक है। मन तो दूर दूर भटकता ही रहेगा, उसका यह स्वभाव ही है। उसको एक स्थानपर स्थिर करके उसके अन्दरकी अपरंपार शक्तिसे अपना लाभ कर लेना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्यका जन्म ही इसके लिये है। जिसको यह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसके आधीन उसका मन हुआ, वह तो कृतकृत्य बना। उसने अपना जीवन सफल बनाया। जिसके स्वाधीन मन हुआ वह रोगीपर भी इस तरह प्रयोग करके उसको लाभ पहुंचा सकता है—

हस्तस्पर्शसे रोग दूर करना

हस्तस्पर्शसे रोग दूर करनेके प्रयोग वेदमंत्रोंमें कहे हैं। अपनी मानसशक्तिको अपने हाथोंके साथ प्रेरित करके उस प्रकारके हस्तस्पर्शसे रोग दूर करनेकी विधि यह है—

आ त्वागमं शंतातिभिः अथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रं आभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥
अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजो अयं शिवाभिमर्शनः ॥६॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिव्हा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां
त्वाऽभिमृशामसि ॥ ऋ० १०।१३७; अथर्व ४।१३
ऋग्वेद पाठः– दक्षं ते भद्रं आभार्षं (५)॥
त्वोपस्पृशामसि (६)॥

हे रोगी! (त्वा शंतातिभिः) तेरे पास मैं सुख फैलानेवाले तथा (अरिष्ट-तातिभिः) अविनाशी जीवन देनेवाले सामर्थ्योंके साथ मैं (आगमं) आया हूं। (उग्रं दक्षं ते आभारिषं) प्रचण्ड बल मैं तेरे अन्दर भर देता हूं और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥५॥

इसमें पहिली सूचना यह है कि अपने अन्दर ऐसी प्रबल मानसशक्ति है इसका अनुभव प्रथम प्रयोगकर्ताको करना चाहिये। यदि प्रयोगकर्ता स्वयं अपने आपको निर्बल, क्षुद्र, तुच्छ, दीन, हीन, अल्पशक्तिवान मानेगा, तो वह दूसरेके शरीरमें अपने मानस शक्तिसे आरोग्य स्थापन नहीं कर सकेगा। मैं सामर्थ्यवान हूं, मैं रोग दूर कर सकता हूं, मेरे प्रयोग यशस्वी होंगे, निःसंदेह यश मुझे इस प्रयोगमें मिलेगा, ऐसा पक्का भाव प्रयोगकर्ताके मनमें रहना चाहिये।

अपनी मानसशक्तिके विषयमें पक्का आत्मविश्वास मनमें धारण करनेवाला मनुष्य रोगीके पास जाय और उसे कहे कि " हे रोगी! मेरे अन्दर रोग दूर करनेकी शक्ति है, और तुम्हें आरोग्य देनेकी भी शक्ति है। तुम विश्वास रखो। अभी इस प्रयोगसे मैं तेरे अन्दर विशेष बल प्रस्थापित करता हूं और तेरे अन्दरके रोगको मैं दूर करता हूं।"

इस तरह बोलकर उस रोगीके मनके अन्दर अपनी शक्तिके विषयमें प्रभाव उत्पन्न करे और पश्चात् उसके शरीरको अपने हाथोंसे स्पर्श करे। स्पर्श करनेके विषयमें वह प्रयोगकर्ता इस तरह बोले—

(अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ प्रभावशाली है, (मे अयं हस्तः भगवत्तरः) मेरा यह हाथ अधिक सामर्थ्यवान् है। (मे अयं हस्तः विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ औषधियोंकी शक्तियोंसे भरा है। तथा (अयं मे हस्तः शिवाभिमर्शनः) यह मेरा हाथ सुख बढानेवाला, आरोग्य देनेवाला है ॥ ६ ॥

रोगीका मन आकर्षित करके, तथा अपने हाथके ऊपर अपनी अंगुलिके इशारेसे निर्देश करके प्रयोगकर्ता रोगीको कहे कि इस हाथसे किया हुआ प्रयोग व्यर्थ नहीं जाता। निःसंदेह यशस्वी होता है, अर्थात् तुम्हारा रोग इस हस्तस्पर्शसे दूर होगा इसमें संदेह नहीं है। इतना विश्वास रोगीके मनमें उत्पन्न करके प्रयोगकर्ता अगले मंत्रमें कहे प्रकारसे बोले—

(दशशाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दश शाखावाले हाथोंसे, दस अंगुलियां ही दस शाखाएं हैं। इन दोनों हाथोंसे मैं अब तुम्हारे ऊपर प्रयोग करता हूं और (वाचः पुरो गवी जिह्वा) वाणीको प्रेरणा करनेवाली जिह्वा है अर्थात् जिह्वासे ऐसे उत्साहवर्धक शब्द बोले जांय कि जो रोगीके मनमें जीवनका उत्साह बढावेंगे और रोगीके मनको प्रभावित कर सकेंगे। हे रोगी! (अनामयित्नुभ्यां ताभ्यां हस्ताभ्यां)

नीरोगिता स्थापन करनेवाले इन दोनों हाथोंसे (त्वा अभि मृशामसि, त्वा उपस्पृशामसि) तुझे स्पर्श करता हूं। इस स्पर्शसे मानो तुम्हारा रोग दूर होने लगेगा। आजसे तुझे निःसंदेह आरोग्य प्राप्त होने लगेगा ॥ ६ ॥

इस तरह अपने हाथसे अथवा अपने दोनों हाथोंसे रोगीके उस शरीरके भागको स्पर्श करना कि जहां रोग हुआ है। मनमें "रोगीको संपूर्ण आरोग्य प्राप्त होनेके लिये मैं अपनी इच्छाशक्ति लगा रहा हूं" ऐसा भाव धारण करना उचित है। जितना मनका बल अपनी इच्छाशक्तिसे प्रेरित करके लगा दिया जाय उतना लाभ अधिक होगा। रोगीका मन रोगके कारण निर्बल ही रहता है, उसको भी अपने प्रेमल तथा बलवर्धन करनेवाले सूचक शब्दोंसे धैर्य देना चाहिये, स्वयं अपने सामर्थ्यपर विश्वास रखना चाहिये और हाथोंको उस रोगग्रस्त भागपरसे घुमाना चाहिये। इस तरह उपचारकर्ताका सूक्ष्म शरीर तथा मानस शरीर अंश रूपसे रोगीके सूक्ष्म तथा मानस शरीरके साथ संलग्न होता है, और मानसिक प्रेरणासे वहांका आरोग्य बढने और रोग दूर होने लगता है।

छोटा बालक रोगी हुआ हो तो उस समय उसकी माता प्रेमसे उस बालकके शरीरपरसे अपना हाथ घुमावे और मनमें ऐसा संकल्प करे कि यह मेरा बालक स्वस्थ होजाय, रोगमुक्त हो जाय।

जिस समय रोगीको निद्रा आयी हो, उस समय उसके मित्र अपनी प्रबल इच्छाशक्तिके साथ यदि ऐसा वारंवार कहते जांय कि– "हे मित्र ! (यहां उसका नाम लेकर संबोधन करनेके स्वरसे बोला जाय। यह भूलना नहीं चाहिये।) तुम्हारा रोग दूर हो रहा है, कलकी अपेक्षा आज तुम्हारा स्वास्थ्य सुधर रहा है, अब थोडे ही समयमें तुम्हारा स्वास्थ्य उत्तम होगा। चिन्ता न करना तुम शीघ्र ही नीरोग और स्वस्थ हो जाओगे" रोगी निद्रित होनेकी अवस्थामें इस तरहकी सूचनाएं करनेसे ये सूचनाएं उस रोगीके आंतरिक मनमें जम जाती हैं और वहां स्वास्थ्य लाभ होनेका प्रारंभ होता है। ऐसा वारंवार करनेसे उस रोगीका मन बलवान हो जाता है और उस मानसिक बल बढनेसे रोग दूर होने लगता है।

वेदमंत्रमें कहा है "यत् जाग्रतो दूरं उदैति दैवं तत् उ सुप्तस्य तथैव एति।" तथा "दूरंगमं" यह मन जाग्रतिमें दूर जाता है और सोनेवालेका भी वैसा ही दूर जाता है। क्योंकि दूर जाना इसका स्वभाव है। इस मनकी शक्तिसे हमने लाभ उठाना है। रोगी दूरके कमरेमें या दूरके घरमें हो अथवा दूरके प्रदेशमें हो, वह सोया हो तो इस तरहके संदेश भेजनेसे वे उसके मनपर परिणाम करते हैं और इन मानसिक संदेशोंसे उसको आरोग्य प्राप्त होता है।

मनुष्यका मन जाग्रतिमें दूर जाता है और सोनेकी अवस्थामें भी वह दूर जाता है। इसकी गति बिजलीकी गतिसे भी अधिक है। इस कारण रोगी किसी भी स्थानपर हो, कितने भी अन्तरपर हो, उसके मनपर इन संदेशोंका परिणाम होता है।

मनुष्यके अन्दर अद्भुत शक्ति है। इसका उपयोग करनेका अनुष्ठान मनुष्य करें और यह मानस विद्या मनुष्य सीखें और अजमावे। मनुष्यको–साधकको आश्चर्यकारक अनुभव आ जायगा। इस मनकी शक्तिके विषयमें कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥
भ० गी० ३

"शरीरसे इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे आत्मा श्रेष्ठ है, वह आत्मा मैं हूं। इस तरह मैं आत्मा सबसे श्रेष्ठ हूं, मैं निर्बल नहीं हूं यह जानकर, अपना संयम अपनी ही शक्तिसे करके अपने शत्रुको जीतना चाहिये।"

"मैं आत्मा प्रेरक शक्तिमान हूं, मेरी प्रेरणासे बुद्धि तथा मन प्रेरित होकर इष्ट कार्य यहां इस देहमें करेंगे।" यह अपनी शक्ति प्रत्येकको जाननी चाहिये। अपने अन्दरकी निर्बलताकी भावना दूर करके अपनी श्रेष्ठ शक्तिकी वास्तविक भावना मनमें सुस्थिर रखनेसे अपनी शक्ति कितनी है इसका पता मनुष्यको लग सकता है। यह मानव शरीर ऐसा विशेष शक्तिसे संयुक्त बनाया है। परमेश्वरकी यह

अतुल योजकता है कि उसने यह शरीर इतना उत्तम बनाया है। इसके अन्दर अनेक देवताओंकी शक्तियां हैं। इन सब शक्तियोंकी नियामक शक्ति मानवी मनमें है। इस नियामक शक्तिको अपने आधीन रखनेसे सब शक्तियां अपने लिये सहायक होती हैं। परन्तु मनको स्वेच्छाचारी करनेसे मनुष्यकी ये ही शक्तियाँ मनुष्यका नाश करती हैं। इन्द्रियोंका तथा मनका संयम करनेकी इसीलिये आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्यमें ये शक्तियां रहती ही हैं। ३३ देवताओंके अंश हरएक मानवमें होते ही हैं। उनको चलानेवाला मन भी हरएकमें रहता ही है। बुद्धि और आत्मा भी प्रत्येक मनुष्यमें रहता है। किसीमें कुछ शक्ति कम होती है ऐसा नहीं। इन्द्रियों और मनपर अपनी स्वाधीनता रखनेमें न्यूनाधिकता होती है, इसलिये इसी कारण मनुष्य छोटा और बडा होता है। इतनी एक ही बात है कि जो साधारण मनुष्यको 'महान आत्मा' बनाती है।

इस लेखमें मानवी शरीरमें कितनी शक्तियां हैं यह सब बताया है, उनके स्थान भी बताये हैं। उनके कार्य प्रसिद्ध ही हैं। मनकी शक्ति सबको किस तरह घूमाती है यह भी बताया है और मनकी शक्तिके प्रयोग करके अपने और दूसरेके शरीरपर किस तरह प्रयोग किये जा सकते हैं और उनमें किस तरह यश प्राप्त हो सकता है, यह सब इस लेखमें बताया है। इसको जानकर अपनी शक्तिको अपने अभ्युदय-निःश्रेयसकी प्राप्ति करनेके लिये लोग लगावें और कृतकृत्य बनें।

विषय-सूची

मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति—	१
देवोंका मन्दिर—	१
देवोंसे देव बने हैं—	२
पिण्ड-ब्रह्माण्डका चित्र—	३
देवतामय शरीर—	५
आंगिरसी विद्या—	६
मानसिक प्रेरणासे आरोग्य—	६
पागल मनुष्यका मन—	६
मन मित्र है और शत्रु भी है—	७
मन शिवसंकल्प करे—	८
मानस शक्ति—	८
मानस शक्तिसे उन्नति—	१२
मन आवर्तनम्—	१३
हस्तस्पर्शसे रोग दूर करना—	१४

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

इस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — १३ वाँ व्याख्यान

वेदमें दर्शाये
विविध प्रकारके राज्यशासन

पोरबंदर निवासी स्वर्गस्थ "श्रीमान् शेठ श्री पोपटलाल कालिदास, वेद प्रचार फंड"
की ओरसे प्राप्त २००) दो सौ रुपयोंसे इस व्याख्यानका मुद्रण हुआ है।

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

वेदमें दर्शाये
विविध प्रकारके राज्यशासन

वैदिक समयमें ऋषि लोग अनेक प्रकारकी राजकीय हलचलें करते थे और उन हलचलोंसे राजकीय परिवर्तनें होती थीं। मानव समाजकी अभ्युदय सिद्धी करनेकी अभिलाषासे राष्ट्रका निर्माण करना, राष्ट्रशासनमें नूतन पद्धतिसे परिवर्तन आवश्यक होनेपर करना और मानवोंका सुख बढानेके लिये जो जो करना आवश्यक है वह सब करना, यह ऋषियोंका उद्दिष्ट था। इसको देखनेसे यह पता चलता है कि, ऋषियोंने अनेक प्रकारके राज्यशासनके तन्त्र नाना देशोंमें निर्माण किये थे और नाना प्रकारके शासनके तंत्रोंका उन्होंने अनुभव भी लिया था। ये शासनके तंत्र कितने हैं इसका विचार यहां करना आवश्यक है। देखिये-

स्वस्ति। साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयं, समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्। ऐ० ब्रा० ८।१५

"(स्वस्ति) सब जनताका कल्याण हो। साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्तपर्यायी ये पृथक् पृथक् राज्यशासनके विविध प्रकार हैं। सार्वभौम सम्राट् पूर्ण आयुतक जीवित रहे। समुद्रपर्यंत पृथिवीका एक राजा हो।"

इसमें अनेक राज्यशासनोंके नाम आगये हैं। ये सब राज्यशासन (स्वस्ति, सु+अस्ति) सब मनुष्यजाती सुखसे और आनन्दसे यहां रहें, इसलिये निर्माण हुए हैं। मनुष्य इस पृथिवीपर आनंदसे रहें, मानवोंमें परस्पर संघर्ष न बढे, यह इच्छा ऋषियोंके मनमें थी। इसलिये उन्होंने ये राज्यशासन निर्माण किये थे।

नाना राष्ट्रोंमें नाना प्रकारके राज्यशासन शुरु होनेके कारण, तथा नाना राष्ट्रोंके लोगोंका विविध कार्योंमें समागम होनेके पश्चात् परस्पर मतभेदोंका उत्पन्न होना संभव है। इसी तरह मतभेद हुए तो यह 'मेरा मत सत्य है।' ऐसा एक बोलेगा और दूसरा भी बोलेगा कि यह 'मेरा मत ही सत्य है।' जब ऐसा दोनों बोलने लगते हैं तब युद्ध उपस्थित होता है। इसलिये वेदमें 'ममसत्यं' यह युद्धका नाम दिया है।

त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र
संतस्थाना विह्वयन्ते समीके॥
ऋ० १०।४२।४; अथर्व० २०।८९।४

'हे इन्द्र! लोग (ममसत्येषु) युद्धोंमें सहायार्थ तुझे बुलाते हैं और युद्धस्थानमें रहनेवाले वीर भी तुझे सहायार्थ बुलाते हैं।' यहां 'मम-सत्येषु' यह पद 'युद्धों' का वाचक आया है। जैसा व्यक्ति व्यक्तिमें 'यह मेरा मत सत्य है' ऐसा आग्रह करनेसे झगडे होते हैं, उसी तरह जातियोंमें और राष्ट्रोंमें भी इसी कारण युद्ध होते हैं। कई राष्ट्र जनतंत्रवादी होते हैं, कई राष्ट्र पूंजीवादी होते हैं, कई राष्ट्र उद्योगवादी रहते हैं। इनमें तांत्रिक मतभेद अवश्य रहता है। इस कारण झगडे होते हैं और वादविवाद होनेपर युद्ध भी शुरु होते हैं। अनेक राष्ट्रोंमें इस तरह युद्ध छिड जाते हैं। इन युद्धोंके कारण अनेक मानवोंका संहार होता है, राष्ट्रपर अनेक आपत्तियां आती हैं और मानवोंके कष्ट बढते हैं।

ये जनताके कष्ट देखकर, ज्ञानी मानवोंके अन्तःकरणोंमें दया उत्पन्न होती है, वे विचार करते हैं और इस निश्चयपर वे पहुंचते हैं, कि पृथक् पृथक् राज्यशासन रहनेसे ऐसे राष्ट्रीय युद्ध उत्पन्न होंगे ही, इस कारण—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ।

ऐ० ब्रा० ८।१५

'समुद्रपर्यंत जितनी पृथिवी है, उसपर एक ही राज्य-शासन हो,' पृथक् पृथक् राज्यतंत्र न हों। संपूर्ण पृथिवी-पर एक ही शासन होगा, तो शासन विषयक मतभेद नहीं होंगे, इसलिये युद्धादिक कष्ट जनताको भोगने नहीं पडेंगे। ऋषियोंका इतना विचार निश्चित होनेके लिये बडा समय लगा होगा, तथा तबतक बहुत ही युद्ध हुए होंगे। इतना अनुभव लेनेके पश्चात् ऋषियोंका निश्चय हुआ कि, संपूर्ण पृथिवीपर एक राजा तथा उसका एक संविधान होना चाहिये। ऐसा होनेपर विश्वमें शान्ति स्थापन हो सकती है। तबतक विश्वशान्ति अशक्य है।

पृथिवीका संघराज्य

आज भी विश्वभरके नाना देशों और नाना राष्ट्रोंमें वारं-वार युद्ध होनेके कारण जगत्के नेता लोगोंके मनोंमें यही बात आ गयी है कि, विश्वके लिये एक ही संघराज्य होगा, तो अच्छा है। आज तो संस्था इस कार्यके लिये रची गयी है, वह 'यू-नो' नामसे प्रसिद्ध है। 'विश्वके राष्ट्रोंका संघ' आज 'यू-नो' नामसे सबको मालूम है। इसके पूर्व भी ऐसी ही एक संस्था उत्पन्न हुई थी। परंतु वह युरोपके राष्ट्र-वादियोंके स्वार्थके कारण टूट गयी। कदाचित् यह आजकी 'यू-नो' भी स्वार्थके कारण टूट जायगी तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परंतु विश्वके नेता लोगोंके मनमें वही विचार आ रहा है कि जो विचार भारतके प्राचीन ऋषियोंके मनोंमें ५००० वर्षोंके पूर्व आया था।

इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समयके ऋषियोंके हाथोंमें अनेक राष्ट्रोंका नियंत्रण करनेकी शक्ति आ चुकी थी। यदि ऐसा न होता, तो 'समुद्रपर्यंत जितनी पृथिवी है, उस सब पृथिवीपर एक राजा और एक संविधान हो' ये विचार निर्बल लोग किस तरह बोल सकते हैं? इसलिये आजकी 'यू-नो' के सदस्योंके हाथोंमें जितना बल आज है, उतना बल ऋषियोंके हाथोंमें ऋषिकालमें आया था, इसमें संदेह नहीं है। इसीलिये वे पृथ्वीका संघराज्य निर्माण करनेका विचार करते थे।

जगत्में पश्चिमकी ओर असुरोंके राज्य थे, असुर लोग असीरियाके, दानव लोग दान्यूब नदीके पासके, बैक्ट्रीयाके बक, इस तरह ये पश्चिम भूविभागमें दैत्य वा असुर रहते थे। इनके-राष्ट्र अतिपूर्व कालमें उदित हुए थे। इसलिये इनको 'पूर्वे देवाः' कहा जाता है। देवजातिका उदय होनेके पूर्व-कालमें असुर जातीका उदय हुआ था। ये सब असुर पश्चिम दिशाके भूविभागमें ही रहते थे।

ये रक्षक थे। रक्षकोंके ही राक्षस बने। रक्षक ही कष्ट देने लगे तो वे राक्षस होते हैं। ये असुर पहिले रक्षाका कार्य उत्तम रीतिसे करते थे। पश्चात् इनकी नियत बिगड गयी और जनताका रक्षण न करते हुए जनताका भक्षण ये रक्षक लोग ही करने लगे इस कारण येही दुष्ट माने गये!! जो (पूर्वदेवाः) पहिले देव थे, दिव्य व्यवहार करते थे, वेही पीछेसे छल कपट करने लगे।

इस कारण लोगोंमें असुरोंके विषयमें घृणा पैदा हुई और त्रिविष्टपमें सुर जातीका उदय हुआ। यही देवजाती है। इनके उत्पन्न हो जानेके कारण असुरोंको 'पूर्वदेवाः' (प्राचीन समयके देव) कहा गया और ये 'सुर' आधु-निक समयके देव हुए।

इसमें सहस्रों वर्षोंका इतिहास भरा है। एक जातिका उदय उत्थान उत्कर्ष और अपकर्ष तथा पतन होनेके लिये सहस्रों वर्ष लगते हैं। एक जातिका पतन होने लगा, तो दूसरी जातिका उत्थान शुरु होता है।

अब यहां देखना यह है कि असुरोंके गुरु 'शुक्राचार्य' थे, वे भी 'कवि' नामसे प्रसिद्ध थे। ये 'भृगु' ऋषिके पुत्र अथवा गोत्रज थे। ये असुरोंके गुरु थे। अर्थात् पश्चिम देशके असुर, राक्षस, दैत्य आदि राष्ट्रोंमें भी ब्राह्मण ही मंत्रीपदपर थे। इधर सुरराष्ट्रमें बृहस्पति देवगुरु करके प्रसिद्ध हैं। वह भी ब्राह्मण ही हैं। देवोंकी ओर भी ब्राह्मण मंत्री और असुरोंकी ओर भी ब्राह्मण ही मंत्री थे और पूर्व पश्चिम भूविभाग क्रमसे देवदानवोंमें विभक्त था और दोनों ओर ब्राह्मण ही मंत्रणा करनेवाले थे। इससे सिद्ध होता है कि सब पृथिवी ब्राह्मणोंकी मंत्रणामें थी। इसीलिये ये ब्राह्मण संपूर्ण पृथिवीके नेता थे। इस कारण ही वे राष्ट्रशा-सनोंके अनुभवसे मानने लगे थे कि समुद्रपर्यंतकी संपूर्ण पृथिवीपर एक ही राज्यशासन होना चाहिये। उनके अनु-भवने ही यह उनको बताया था।

इस तरहसे 'समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्' ऐसा जो ऋषियोंने कहा था वह उनके राज्यशासनके अनु-

भवका परिपाक था। सुरराज्यमें तथा असुरराज्यमें दोनों स्थानोंपर राज्यशासनका सब भार ऋषियोंपर ही होता था। युद्ध उपस्थित होनेपर वीर लोग लडते थे, पर बाकी सब प्रबंध ऋषिलोग ही किया करते थे। अन्दरका तथा बाहरका सुरक्षाका प्रबंध, सेनाकी रचना और उनके शस्त्र-अस्त्र आदिके सब प्रबंधकी सुव्यवस्थाका सब भार ऋषियोंपर था। इसलिये ऋषियोंको पृथक् पृथक् अनेक राष्ट्र और उनके विभिन्न शासन होनेपर युद्ध अटल हैं इस बातका अनुभव हुआ था। इस अनुभवके बलपर ये ऋषि कहने लगे थे कि '**समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्**' सब पृथिवीपर एक ही राज्यशासन और उसका एक संविधान हो जायगा, तो ही ये युद्ध बंद होंगे और विश्वमें शान्ति स्थापन होगी। इस घोषणाके पूर्व कितने विविध राज्यशासनोंका अनुभव उन ऋषियोंने लिया था इसका थोडासा विचार यहां करना आवश्यक है।

पूर्व स्थानपर जो ऐ० ब्रा० का वचन दिया है, उसमें निम्नलिखित राज्यशासनोंके नाम आये हैं-

विविध प्रकारके राज्यशासन

१ **साम्राज्यं**- अनेक छोटे मोटे राज्य एक सम्राट्के शासनमें आते हैं और वह उन सबका एक शासक है ऐसा सब मानते हैं वह साम्राज्य कहलाता है। प्राचीन समयमें अपना साम्राज्य स्थापन करनेके लिये एक सामर्थ्यवान राजा अपनी सेनाके साथ एक घोडा छोडता था। घोडेके मस्तक पर एक आदेशपत्र रहता था। उसमें यह लिखा रहता था, कि 'हमारा साम्राज्यशासन मानो और हमारे मांडलिक बनकर हमें कर दे दो अथवा युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ।' जो छोटे छोटे राजा उसका साम्राज्य मानते थे, वे उसके मांडलिक बन जाते थे, और जो उसको नहीं मानते थे, वे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाते थे। पराभूत होनेपर वे मांडलिक बन जाते अथवा विजय प्राप्त होनेपर वह सम्राट् बनता था। इस तरह यह अश्वमेध करनेवाला यशस्वी होनेपर सम्राट् बनता था और बाकीके राजा उसके मांडलिक बन जाते थे। इसलिये कहा है—

राष्ट्रं वा अश्वमेधः। श० प० ब्रा०

अश्वमेध करके सब राजाओंका पराभव करनेसे साम्राज्य होता है। ये अश्वमेध ऋषिलोग राजाओंसे करवाते थे और इस तरह युद्ध होते थे। इन युद्धोंमें किस तरह मनुष्य-वध, और धननाश होता है यह ऋषियोंके आंखोंके सामने होनेवाली बात थी। इसीलिये संपूर्ण पृथ्वीपर एक राज्य-शासन स्थापन करनेकी इच्छा वे करते थे।

२ **भौज्यं**- प्रजाजनोंके भोजनादि आवश्यक उपभोगोंकी सुव्यवस्था जहां राज्यप्रबंधके द्वारा की जाती है, उस राज्य-शासनका यह नाम है। प्रजाजनोंको काम मिले और काम करनेपर योग्य दाम मिले, तथा उससे उनका योगक्षेम अच्छीतरह चले। ऐसा हो रहा है या नहीं यह देखना राज्यशासनका कर्तव्य है। मनुष्यको रहनेके लिये घर, ओढनेके लिये वस्त्र, भोजनके लिये अन्न, पीनेके लिये शुद्ध जल, खुली हवा, बीमार होनेपर योग्य औषध, अन्दर और बाहरकी सुरक्षा, वृद्धावस्थामें काम करनेकी शक्ति न होनेपर भी योग्य प्रबंधसे उसका रहनसहन सुखसे होनेका सरकारी उत्तम प्रबंध होना चाहिये। यह जिस राज्यशासन पद्धतिसे होता है उस पद्धतिका नाम 'भोज्य' है।

३ **स्वाराज्यं, स्वराज्यं**- '**बहुपाय्यं स्वराज्यं**' (ऋ. ५।६६।६) अनेक जनपदके नेताओं अथवा प्रतिनिधियोंकी अनुमतिसे जो राज्यशासन चलाया जाता है, उसको '**स्वराज्य शासन**' कहते हैं। यह राज्यशासन स्वयं प्रजा करती है, अपने प्रतिनिधि वह प्रजा चुनती है। उनकी सभा होती है। वह समिति राज्यशासनके नियम निश्चित करती है और उस तरह जो राज्यशासन होता है वह स्वराज्य शासन कहलाता है। यह राज्यशासन 'बहुपाय्य' ही होना चाहिये। बहु संमतिसे ही यहांका शासन होना चाहिये।

४ **वैराज्यं**- (वि-राज्यं, वि-राज्, विगत-राजकं) (१) जहां एक शासक नहीं होता। कोई शासक अथवा शासकसभा जहां नहीं होती। सब लोग इकट्ठे बैठकर सबकी संमतिसे जो निर्णय होगा वह उस जातिके लोग मानते हैं। यहां कोई शासनकर्ता नहीं होता, सब अपनी जातिका निर्णय मानते हैं। राजाकी कल्पना उत्पन्न होनेके पूर्वकालमें सब लोग ऐसा ही करते थे। जहां राजा उत्पन्न नहीं हुआ, उस समय वे लोक ही अपना शासन करते थे। राजा नहीं, ग्राम नहीं, शासनपद्धति नहीं, ऐसी अवस्थाका यह वर्णन है। (२) विशेष प्रकारका राजा ऐसा भी इसका दूसरा अर्थ है।

*

५ पारमेष्ठ्यं राज्यं- (परमेष्ठी प्रजापतिः । अथर्व० ४।११।७; ८।५।१०; ९।३।११) परमेष्ठीका अर्थ परमश्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाला, प्रजापालनके श्रेष्ठ कार्यमें नियुक्त शासक। प्रजाजनोंसे नियुक्त होकर यह शासक बनता है और योग्य रीतिसे कार्य न कर सकनेपर शासकके स्थानसे निकाला भी जाता है।

६ राज्यं— (राज्ञः इदं) (१) जहां राज्य राजाकी अपनी निज संपत्ति है ऐसा माना जाता है। राष्ट्रका यह स्वामी समझा जाता है। यह स्वयंशासक होता है। इसकी आज्ञा होनेपर प्रजाजनोंको वह माननी पडती है। दूसरा भी इसका एक अर्थ है। (राजा प्रकृतिरंजनात्, तस्य इदं) (२) जो अपनी शासनकी श्रेष्ठतासे प्रजाको संतुष्ट रखता है, उसके शासनसे प्रजा संतुष्ट रहती है। जिसको ' राम–राज्य ' कहते हैं वैसा जिसका राज्य है। यह आदर्श राज्य-शासन है। प्रजाके हित करनेके लिये यहांका राजा अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिये तैयार रहता है।

७ महाराज्यं— बडा राज्य। छोटे छोटे अनेक राज्य पूर्णतासे विलीन होकर जो एक राज्य बनता है वह महा राज्य कहलाता है। महाराज्य बननेपर उसमें किसी भी विलीन हुए छोटे राज्यकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। जिस तरह भारतमें छ सौ रियासतें विलीन हो गयी हैं, जो पहिले पृथक् पृथक् थीं। इनके विलीन होनेसे अब भारत ' महाराज्य ' बन गया है। इनके महाराज्यमें विलीन हुए राज्यकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रही है।

८ आधिपत्यमयं— आधिपतिका अर्थ अधिकारी है। अधिकारियोंके तन्त्रसे जहांका राज्यशासन चलता है। इस राज्यशासनमें अधिकारियोंकी संमति ली जाती है। प्रजाकी संमतिका कोई मूल्य यहां नहीं रहता।

९ सामन्तपर्यायी— सामन्तका अर्थ माण्डलिक राजा। इन मांडलिक राजाओंके आधीन जहांका राज्य-शासन रहता है। सम्राट् और माण्डलिक राजा मिलकर जैसा चाहिये वैसा राज्य करते हैं। इस राज्यशासनमें भी प्रजाकी संमतिका कोई मूल्य नहीं रहता है।

पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मणके वचनमें इतने राज्यशासनोंका वर्णन है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकारके राज्यशास-नोंका वर्णन वेदोंमें है, उनका स्वरूप ऐसा है—

१० जान-राज्यं— लोगोंका राज्य, प्रजाजनोंका राज्य। जो राज्यशासन प्रजाजनोंकी संमतिसे प्रजाजनोंकी भलाईके लिये प्रजाजनोंके चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। यहांका सब शासनाधिकार प्रजाजनोंके आधीन रहता है।

११ विप्र-राज्यं— (१) विशेष ज्ञानी लोग ही जहांका राज्यशासन चलाते हैं। (२) ब्राह्मणों अथवा धर्मगुरु-ओंके आधीन जहांका राज्यशासन होता है, (३) इसीका अर्थ कुछ कालके पश्चात् ' यज्ञ ' ऐसा हुआ था।

१२ ' समर्य-राज्यं- (१) अर्य ' का अर्थ ' धनपति वैश्य ' है। धनपति, पूंजीपति, श्रेष्ठ वैश्योंके हाथोंमें जहांका राज्यशासन होता है। (२) अथवा श्रेष्ठ समझे जानेवाले भूमिके स्वामी, संमान्य कुलोंमें जन्मे, तथा इसी तरह जो जन्मसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं उनके आधीन जो राज्यशासन होता है वह राज्य इस नामका धारण करता है।

१३ अधिराज्यं= दूसरे निर्बल छोटे छोटे राज्य जहां रहते हैं और नाममात्र शासन करते हैं, परंतु उनपर एक बलाढ्य शासकका अधिकार चलता है। यह निकृष्ट शासन है क्योंकि इस राज्यमें छोटे राज्योंमें जो शासन चलता है, उसमें प्रजाजनोंके क्लेशोंकी कोई मर्यादा नहीं होती। यहां छोटे शासकोंको पूछनेवाला कोई नहीं रहता।

इन सब राज्यशासनोंका पूर्णतासे विचार करनेके लिये बडा स्थान और काल लगेगा। इतना स्थान और काल अपने पास नहीं है। इसलिये यहां हम इनमेंसे प्रत्येक शासनके गुणों और दोषोंका विचार नहीं करेंगे। परंतु अपने प्रचलित विषयके लिये जिनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है उतना विचार ही हम यहां करेंगे।

उत्तम साम्राज्य

साम्राज्यका अधिकार हाथोंमें आनेसे घमंड उत्पन्न होती है और ऐसे दो घमंडी सम्राट् पास पास आ गये, तो वे किसी न किसी निमित्तसे एक दूसरेके साथ युद्ध उत्पन्न करके मनुष्योंका संहार करते हैं। ऐसा न हो और दो सम्राट् एकत्र आगये तो भी उनमें प्रेम बढे और किसी तरहका झगडा न हो यह आदर्श गृत्समद ऋषिके एक मंत्रमें बताया है, वह मंत्र यहां देखिये—

ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती ।
सचेते अनवह्वरम् ॥ ऋ० २।४१।६

'वे दोनों सम्राट् (दानूनस्पती) दान देनेवाले हैं तथा वे दोनों (अनवह्वरं सचेते) कुटिल व्यवहार न करनेवालोंके साथ उत्तम संबंध रखते हैं। ' अर्थात् कुटिलताका व्यवहार करनेवालोंके साथ वे अप्रसन्न रहते हैं, परंतु जो सरल व्यवहार करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको वे सम्राट् अच्छी तरह सहायता करते हैं, उनको दान देते हैं, उनका रक्षण भी वे करते हैं।

सम्राट् ऐसा आचरण करें। सरल व्यवहार करनेवालोंको जो सहायता करते हैं, वे कदापि आपसमें लडाई, झगडे नहीं करेंगे। लडाई, झगडे करनेवाले कुटिल व्यवहार करनेवाले ही होते हैं। यदि ऐसे सम्राट् हुए तो उनका साम्राज्य प्रजाको कष्ट देनेवाला कदापि नहीं होगा। सम्राटोंका यह आदर्श वेदने लोगोंके सामने रखा है।

इस संबंधमें एक और मंत्र यहां देखिये—

ता सम्राजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता।
अथैनोः क्षत्रं न कुतश्चनाधृषे ।
देवत्वं नू चिदाधृषे ॥ ऋ० १।१३६।१

' उन दोनों सम्राटोंकी प्रशंसा प्रत्येक यज्ञमें होती है। (अथ एनोः क्षत्रं) और इनका क्षात्रबल (कुतः च न न आधृषे) कहींसे भी थोडासा भी कम नहीं होता और इनका (देवत्वं नू चित् आधृषे) देवत्व भी किसी तरह कम नहीं होता। '

यहां दो बातें महत्त्वपूर्ण कही हैं। वे दो बातें ये हैं—

(१) एनोः देवत्वं न आधृषे- इन सम्राजोंका देवत्व कम नहीं होता। इनका देवत्व, विबुधत्व सुस्थिर रहता है। और—

(२) एनोः क्षत्रं न कुतः च न आधृषे - इन सम्राजोंका क्षात्रतेज किसी तरह किसी दृष्टिसे भी कम नहीं होता।

अर्थात् इन सम्राजोंकी शत्रुको दूर करनेकी शक्ति कम नहीं होती, अर्थात् ये निर्बल नहीं होते, इनका शत्रुको दूर करनेका सामर्थ्य किसी तरह भी कम नहीं होता। इस कारण ये अपने साम्राज्यमें शान्ति और सुरक्षा अच्छी प्रकारसे रखते हैं। इसलिये प्रजा अच्छी प्रगति करती है। जहां बल होता है वहां घमण्ड होती है और इससे राक्षसभाव बढते हैं। परंतु इन सम्राटोंमें देवत्व भी अच्छी तरह रहता है, कम नहीं होता। देवत्वके गुणबोधक पर्याय ये हैं— (विबुधत्व) ज्ञानी होनेका भाव, (सुमनस्त्वं) उत्तम मनसे युक्त होना, (अस्वप्नत्वं) सुप्त न होनेका भाव, आलस्ययुक्त न होना, सदा उद्योगशील रहना है। ये देवत्वके लक्षण हैं। ये देवत्वके गुण उन सम्राटोंमें रहते हैं इसलिये वे उच्च गुणवाले सम्राट् होते हैं। ये आदर्श सम्राट् हैं। वेदमंत्रोंने लोगोंके सामने ये आदर्श सम्राट् रखे हैं। ऐसे सम्राट् होंगे, तो साम्राज्य बुरा है ऐसा कोई नहीं कह सकेगा।

सम्राटोंका अधःपात सामर्थ्य बढने और देवत्व घटनेके कारण होता है। सामर्थ्य बढने और उसके साथ राक्षसीभाव बढनेके कारण सम्राट दुःखदायी होते हैं। वह दोष दूर करनेके लिये वेदमंत्रने क्षात्रतेजके साथ देवत्वके गुण भी बढानेका आदर्श रखा है। सम्राटोंकी शक्तिका मद देवत्वकी पवित्रतासे यहां दूर किया है। यह सावधानीकी वेदकी सूचना निःसंदेह प्रशंसनीय है।

ऊपर अनेक प्रकारके राज्यशासन दिये हैं। इन सब प्रकारके राज्यशासनोंके साथ ऋषियोंका अच्छी तरह परिचय था। वे इन सब प्रकारके राज्यशासनोंको चलाते ही थे। इसलिये इन शासनोंके साथ वे अपरिचित तो निःसंदेह नहीं थे। इसलिये इन राज्यशासनोंमें कौनसे राज्यशासन प्रजाका हित करनेवाले हैं और कौनसे राज्यशासनोंमें कौनसे दुःख उत्पन्न होनेकी संभावना है, इस संबंधका ज्ञान उन ऋषियोंको था। इन ऋषियोंने इन सब प्रकारके राज्यशासनोंकी परीक्षा जनहितकी कसौटीसे की थी। इसीलिये उन्होंने ' जानराज्य ' अथवा ' स्वराज्य ' नामक राज्यशासनकी व्यवस्था जनताका हित अधिक कर सकनेके कारण उन्होंने अधिक श्रेष्ठ है ऐसा निश्चय किया था। इसीलिये उन्होंने ऐसा कहा था कि—

वयं सूरयः व्यचिष्ठे बहुपाय्ये स्वराज्ये
आयतेमहि। (ऋ. ५।६६।६)

'हम सब विद्वान् मिलकर विस्तृत और बहुतोंकी संमतिसे जहांका राज्यशासन चलाया जाता है, उस स्वराज्यमें जनताकी भलाई करनेके लिये हम अपने प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा करेंगे। ' ऐसी घोषणा वे करते थे। राज्यशासनके संबंधमें उनकी भूमिका कैसी थी वह अब देखिये—

राज्यशासनविषयक ऋषियोंकी भूमिका

ऋषियोंके मनमें राज्यशासनके विषयकी भूमिका क्या थी यह भी एक मननीय प्रश्न है। जो वेदमंत्रका आदेश था वही ऋषियोंके मनमें स्थायीरूपसे घर करके रहा हुआ भाव था। कोई कार्य करना हो तो कर्ताके उद्देश्यके अनुसार वह भला या बुरा होता है। किसीने स्वार्थसाधन करनेके उद्देश्यसे किसीका वध किया, तो वह वधकर्ता मृत्युदण्डके लिये योग्य समझा जाता है। परंतु किसीने राष्ट्रको स्वतंत्रता देनेके पवित्र उद्देश्यसे धर्मयुद्धमें सैकडों मनुष्योंका वध किया, तो उसका संमान सब करते हैं और उसके उस कार्यके काव्य बनते हैं। भविष्यकालमें वह आदर्श वीर बनता है। इसका कारण उसका उद्देश्य उच्च था यही एकमात्र है। इसलिये राज्यशासन करनेमें ऋषियोंका उद्देश्य क्या था यह देखना आवश्यक है।

ऋषि यमनियम पालन करते थे, संयमयुक्त जीवन व्यतीत करना उनके जीवनका मुख्य उद्देश्य था। इसलिये ऋषिलोग स्वार्थवश होकर राज्यशासनमें कोई ऐसा दोष निर्माण करेंगे इसका संभव ही नहीं था। मनुष्य स्खलनशील है इसलिये उनसे किसी समय कुछ दोष हो भी जाता है, वह क्षमा करनेयोग्य है। परंतु उसने जानबूझकर पाप करना नहीं चाहिये। इसलिये राज्यशासन कोई भी हो, उसके अनुष्ठान करनेके समय कर्ताके मनमें कौनसी भूमिका रहती है वह देखनी चाहिये। ऋषियोंके मनमें यह भूमिका थी——

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
ऋ० १०।९०

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥६॥
अथर्व० १९।६

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
वा. य. ३१; काण्व० ३५

'एक पुरुष है, उसको हजारों मस्तक, हजारों आंखें, हजारों बाहू, हजारों पेट और हजारों पांव हैं। वह इस भूमिपर चारों ओर व्यापकर रहा है। ब्राह्मण इसके मुख हैं, क्षत्रिय इसके बाहु हैं, वैश्य इसका मध्यभाग अथवा ऊरूका प्रदेश है और शूद्र इसके पांव हैं।' अर्थात् ज्ञानी, वीर, कृषिकर्ता तथा व्यापारकर्ता और कर्मचारी ये चार प्रकारके लोग मिलकर इस पुरुषके सिर, बाहु, पेट और पांव हैं। सब मानवसमाजमें व्यापनेवाला यह पुरुष है। पृथ्वीपर जो मानव जाति है वह सब मिलकर यह पुरुष होता है। मानव समाजरूपी यह पुरुष है।

जनतारूपी पुरुष

इस पृथ्वीपर जितने मानव हैं, उन सबका मिलकर यह एक ही पुरुष है। इन मानवोंमें कई बुद्धिका कार्य करते हैं, कई रक्षणका कार्य करते हैं, कई कृषि और व्यापार व्यवहार करते हैं, कई कलाकौशल्य करके रहते हैं अथवा इनकी सहायता करनेके कार्य करते हैं। ये सब इस मानवसमाजरूपी पुरुषके शरीरके अवयव हैं।

यह वैदिक वर्णन ठीक तरह ध्यानमें आजायगा, तो मानवसमाजके सम्बन्धकी वैदिक कल्पना समझमें आ सकती है। सब मानवसमाज यह एक ही पुरुष है। एक पुरुषमें जिस तरह सिर, बाहू, पेट और पांव होते हैं, वैसे ही ज्ञानी शूर, कृषक और कर्मचारी राष्ट्रमें हैं। पर ये सब मिलकर एक ही शरीर है। करोडों व्यक्तियां मिलकर एक विश्वदेह होता है, यह बात यहां मुख्य है।

जिस तरह पांवको कांटा लगा तो सब शरीर दुःखी होता है, पेटमें दुःखने लगा तो सब शरीरको पीडा होती है, सिरमें दर्द होनेसे सब शरीरको क्लेश होते हैं और बाहुपर आघात होनेसे सब शरीर दुःखी होता है, उसी तरह यहां राष्ट्रमें इतनी एकताकी भावना रहनी चाहिये। ज्ञानीको किसीने सताया, क्षत्रियोंको कष्ट हुआ, वैश्योंको क्लेश हुए अथवा शूद्रोंको पीडा हुई तो सब राष्ट्रका राष्ट्र दुःखी होना चाहिये और उसकी सहायतार्थ उठकर खडा होना चाहिये। यह मानवसमाजकी एक ही मूर्ति है, एक ही शरीर है ऐसी भावना होनी चाहिये। जैसी एक शरीरमें अनेक अवयव विभिन्न होनेपर भी सब शरीरकी मिलकर एक संवेदना होती है, एकात्मता होती है, किसी अवयवको दुःख होनेपर सब अवयवोंको अर्थात् सब शरीरको ज्वर होता है, वैसी राष्ट्रमें और पृथ्वीपरके मानवसमाजमें एकात्मता होनी चाहिये। ऋषि इस एकात्मताका अनुभव करते थे और इस एकात्मताकी भावनासे राष्ट्रोंका संचालन और शासन करना चाहते थे।

उक्त मंत्रोंमें ' स पुरुषः भूमिं विश्वतः वृत्वा । ' अथवा ' स पुरुषः भूमिं सर्वतः स्पृत्वा ' कहा है। अर्थात् यह पुरुष पृथ्वीके चारों ओर है। राष्ट्ररूपसे यह पुरुष सब पृथ्वीपर है, मानव समाजरूपसे यह पुरुष सब पृथ्वीके चारों ओर है। यह पुरुष ही विश्वात्माका विश्वदेह-कारणदेह-रूपी मानवरूपमें प्रकटीकरण है।

विष्णु-सहस्र-नाममें ' विश्वं विष्णुः ' अर्थात् यह विश्व ही विष्णु है ऐसा प्रारंभमें ही कहा है। वही बात इस पुरुष सूक्तमें कही है। सूर्य, चन्द्र आदि देवताएं उस पुरुषके देहके अवयव हैं और ब्राह्मणादि लोग भी उसी पुरुषके देहके अवयव हैं, इसीका अर्थ ही यह विश्व उस विष्णुका रूप है ऐसा होता है।

यह संपूर्ण मानवसमाज मिलकर एक ही विराट् पुरुषका देह है ऐसा मानकर ही मनुष्योंको अपना सब व्यवहार करना चाहिये। सब मानवजातिका जो एक संघ है वही यह विराट् पुरुष है। यह विचार मनमें सुस्थिर रखना चाहिये। जब यह विचार मनमें रहेगा, तभी ऋषियोंकी राज्यशासन पद्धतिकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। पृथिवीपरकी संपूर्ण जनता मिलकर एक देह है यह मानकर ही (समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्) सब समुद्रपर्यंत पृथ्वीपरके मानवसमाजका राज्यशासन एक राजा करे और यह राज्यशासन ' सब लोगोंका मिलकर एक शरीर है ' ऐसी एकत्वकी भावना मनमें रखकर होना चाहिये। शासकोंके मनमें तथा लोगोंके मनमें यह एकात्मताकी भावना सर्वदा जाग्रत रहनी चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य पृथक् है ऐसा मानकर जो शासन होगा उसमें एक दूसरेको ठगानेका भाव रहेगा। परंतु जो शासन-व्यवहार सबका मिलकर एक ही जीवन है ऐसा मानकर होगा, उसमें सबके ऐकात्म्यकी भावना जाग्रत रहनेसे कोई किसी दूसरेको खानेका यत्न नहीं करेगा। क्योंकि इस एकात्मभावनामें ' पृथक् ' भाव ही नहीं रहता।

मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी दृष्टीसे पृथक् है परन्तु सबका कारणशरीर एक होनेसे कारणशरीरकी दृष्टीसे सबकी एकात्मता है। इस एकात्मताका विचार ऋषियोंकी दृष्टिमें सदा था। सबका कारणशरीर एक होनेसे सबका मिलकर कारणदेह एक ही है और इस कारण सब मानव मिलकर वस्तुतः एक विश्वदेहमें ही हैं। भिन्नता स्थूल-देहमें और कारणदेहमें सबकी अभिन्नता है। जड बुद्धिवाले स्थूल दृष्टीसे भिन्नत्व देखते हैं, परन्तु ज्ञानकी दृष्टिसे देखनेवाले कारणदेहकी एकतासे सबको एक ही देहमें देखते हैं।

कार्यक्षेत्र शासकोंके सामने छोटा हो या बडा हो; उसमें एकात्मभाव जनताके शासनकार्य करते समय देखना चाहिये। ग्रामाधिकारी ग्रामकी जनताकी एकात्मताका अनुभव करके अपना कार्य करे। राष्ट्रका शासक राष्ट्रमें रहनेवाले सब मानवोंकी एकता देखें और उनका शासन करें। शासनका क्षेत्र छोटा हो या बडा हो, सब स्थानमें सब मानवोंका मिलकर एक शरीर है ऐसा भाव मनमें रखकर उनका शासन करना चाहिये। ऋषियोंके राज्यशासनमें यह मुख्य बात है।

शरीरमें सिर, हाथ, पेट और पांव विभिन्न होते हुए भी उनका मिलकर एक शरीर है, इसलिये उन अवयवोंको परस्पर एकात्मभावसे और परस्परके अभेदसे व्यवहार करना चाहिये। वही बात राष्ट्रमें विभिन्न कर्म करनेवालोंने अपने व्यवहारमें करनी चाहिये और हम सब मिलकर एक हैं ऐसा मानकर सबका हित करनेमें दक्ष रहना चाहिये।

जिन लोगोंका राज्यशासन करना है उनकी संख्या छोटी हो अथवा बडी हो, उसमें ज्ञानी, शूर, कृषक और कर्मचारी रहेंगे ही। ये भेद स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं हैं। क्योंकि ये स्वाभाविक मानवी प्रवृत्तियां हैं, ये कृत्रिम या बनावटी भेद नहीं है। मानवकी जन्मतः ज्ञानप्रवृत्ती या वीरवृत्ति रहती है। यह बदलती भी नहीं। इसीलिये इस प्रवृत्तिको स्वाभाविक तथा नैसर्गिक कहते हैं।

प्रत्येक राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, कृषक, व्यापारी, कर्मचारी ये लोक रहते हैं उसी तरह वन्य जातिके भी लोग रहते ही हैं। ये सब लोग मिलकर ही राष्ट्र होता है। ये सब लोग मिलकर एकात्मभावसे राष्ट्रका एक देह होता है। यही राष्ट्रपुरुष है। सब पृथिवीके चारों ओर यह मानव-संघरूप पुरुष है। जो इस एकात्मताकी कल्पनाको जानेंगे वे ही ऋषियोंकी राज्यशासन पद्धतिको ठीक तरह जान सकते हैं।

शरीरमें राष्ट्र और राष्ट्रका शरीर

मनुष्यका शरीर एक बडा राष्ट्र है और बडा राष्ट्र भी

*

एक शरीर ही है। देखिये— एक शरीरमें करोडों अणुजीव होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्म लेता, यहां रहता और अन्तमें मर भी जाता है। यह अणुजीवका जनन और मरण सतत चल रहा है। सात वर्षोंकी अवधीमें इस शरीरमें रहनेवाले सब अणुजीव मरते हैं और उनके स्थानोंपर नये आकर बैठते हैं। इस तरहका यह शरीर मानो ३३ कोटी अणुजीवोंका एक राष्ट्र ही है अथवा यह एक राज्यशासन ही यहां चल रहा है।

इसी तरह ४० कोटी प्रजाजनोंका यह हमारा भारतराष्ट्र है। इस राष्ट्रमें हजारों मानव प्रतिदिन जन्मते और वैसे ही हजारों मानव प्रतिदिन मर भी जाते हैं। यह जन्म और मरण जैसा अणुजीवोंका शरीरमें हो रहा है वैसा ही राष्ट्रमें मानवोंका हो रहा है। तथा ऐसा ही सब पृथ्वीपरके मानवसमाजमें हो रहा है। यह समानता व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अखण्ड मानवजातिमें है और यह समानता देखने योग्य है। अतः वेद कहता है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्। अथर्व०

"जो शरीरमें ब्रह्मको देखते हैं वे परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।" शरीरका और विश्वका ज्ञान एक ही पद्धतिसे होता है। इसलिये शरीरमें राज्य किस रीतिसे चल रहा है यह प्रथम देखना आवश्यक है।

शरीरमें सहकार्यका आदर्श

इस शरीरमें जो परस्पर सहकार्य हो रहा है वह मानवी समाजके लिये परम आदर्शरूप है। यह कैसा हो रहा है वह देखिये- प्रथमतः दूरसे आंख किसी सुन्दर पके फलको देखते हैं। पांव इस शरीरको उस फलके वृक्षतक ले जाते हैं, हाथ उस फलको तोडकर अपने हाथोंमें लेते और मुखकी ओर देते हैं। मुख उसको चबाकर खाता है और पेटको देता है। पेट उसका पाचन करता है और उसका रक्त बनता है और वह रक्त संपूर्ण शरीरमें घुमाया जाता है और हरएक इंद्रिय और अवयवके पोषणमें वह लगता है। शरीरका सब इंद्रियसमूह और अंगसमूह इससे परिपुष्ट होता रहता है। इस तरह इस शरीररूपी राष्ट्रमें यह परस्पर आदर्श सहकार्य चल रहा है। इस सहकार्यसे ही यह शरीर स्वस्थ तथा नीरोग रहता है और दीर्घायु भी इसीसे प्राप्त करता है।

यदि यह सहकार्य बंद हो जायगा, तो शरीरमें रोग हुआ है ऐसा सिद्ध होगा। पेटमें गया अन्न पेटमें ही रहा, उसका पचन नहीं हुआ तो पेट फूल जाता है। पेटके स्वार्थसे सब शरीरको पीडा होती है। रक्त शरीरभर नहीं घूमा तो जहां वह रुका रहता है, वहां सूजन हो गयी है ऐसा कहते हैं और सूजनसे फूला हुआ भाग काटकर दूर करना पडता है। इसलिये सहकार्यसे रक्तका अभिसरण होता रहा और सब अंगोंमें वह पोषण द्रव्य बांटा गया तो ही इस परस्पर सहकार्यके कारण शरीर स्वस्थ है ऐसा समझा जाता है। ऐसा न हुआ तो वहां रोग हुआ है ऐसा सिद्ध होता है। अर्थात् उत्तम सहकार्य होनेका अर्थ स्वास्थ्य है और सहकार्य बंद होनेका अर्थ रोगी होना है। परस्पर सहकार्य उत्तम रीतिसे होते रहना ही सुखमय जीवनका तत्त्व है और असहकार्य होना दुःखका मूल है।

राष्ट्रके सुखपूर्ण जीवनका तत्त्व

राष्ट्रका जीवन यदि सुखपूर्ण करनेकी इच्छा है तो उस राष्ट्रमें उत्तम सहकार्य होता रहे ऐसा करना चाहिये। राष्ट्रमें जो ज्ञानी हों वे अपना ज्ञान दूसरोंको देकर उनको ज्ञानी बनावें, जो शूरवीर हैं वे अपने राष्ट्रका उत्तम संरक्षण करके राष्ट्रमें शान्ति तथा सुरक्षितता रखें, जो कृषिबल हैं वे उत्तम यत्न करके अपने राष्ट्रमें उत्तम धान्य उत्पन्न करें, व्यापारी लोग उस धान्यको देशदेशान्तरमें ले जाकर व्यापार करें और धन कमावें, तथा उस धनसे नाना प्रकारके कारखाने करके उपयोगी वस्तुओंको उत्पन्न करें और जनताका सुख बढावें। जो कारीगर हैं वे अपनी कारीगरीसे सुख देनेवाले पदार्थ निर्माण करके लोकोंका सुख बढावें। इसमें दूसरोंको लूटकर स्वयं धनी बननेका आसुरीभाव न रहे, परंतु जनताकी सेवा करनेका सहकार्यका भाव हो। दूसरोंकी सहायता करके अपने लिये लाभ प्राप्त करनेका भाव हो। जो व्यवहार करे वह लाभ भी लेवे, परंतु उस लाभ लेनेके लिये विश्वसेवाकी मर्यादा हो। इस तरह राष्ट्रकी सुखसंपत्तिकी वृद्धि इस तरहके परस्पर सहकार्यपर अवलंबित है।

यदि किसी राष्ट्रमें यह सहकार्य बंद हुआ, प्रांतिक, भाषिक और जातीय आदि भेद बढ गये, व्यवहारमें कार्य करनेवालोंमें स्वार्थ बढ गया और उस प्रमाणसे परस्पर सहकार्य कम हुआ, तो उस राष्ट्रमें आपसके द्वेष बढकर निःसंदेह दुःख बढ जायगा।

इतिहासमें हम यही देख रहे हैं। कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अथवा रामरावणका युद्ध किंवा आधुनिक युद्ध ये सबके सब विवाद आपसकी सहकारिता विनष्ट होनेसे ही होते हैं। सहकार्य कम हुआ, स्वार्थका प्रमाण बढ गया तो ये भयानक युद्ध शुरू होते हैं। यह न हो और सब सुखी हों ऐसी यदि सच्ची इच्छा मनमें हो, तो सब वर्गके लोगोंमें उत्तम सहकार्यकी भावना बढानी चाहिये।

राजाका आदर्श

'जो मनुष्यके शरीरमें ब्रह्मको जानता है वह विश्वमें रहे ब्रह्मको जानता है।' ऐसा अथर्ववेदके मंत्रने कहा है वह सत्य है। अपने राष्ट्रका राज्यशासन कैसा होना चाहिये? इसका उत्तर ऐसा है कि, जैसा नीरोग और स्वस्थ शरीरके अंगों और अवयवोंमें स्वाभाविक रीतिसे सहकार्य होता है, वैसा सहकार्य राष्ट्रके सब वर्गोंमें होना चाहिये और राष्ट्रके वर्गोंमें संघर्ष उत्पन्न नहीं होने चाहिये इस पद्धतिसे राज्य-शासन होना चाहिये। राज्यशासनका अर्थ बाह्य शत्रुसे संरक्षण करनेवाली संस्था इतना ही नहीं है, प्रत्युत सब प्रांतों, सब जातियों और सब वर्गोंमें उत्तम सहकार्य हो, ऐसी स्थायी सुव्यवस्था राज्यशासन द्वारा होनी चाहिये तथा संघर्ष दिन ब दिन कम होने चाहिये। उत्तम राज्य-शासन यह है।

सब जनता मिलकर एक शरीर

इस समयतक जो विचार हमने किया, उससे यह सिद्ध हुआ कि "राष्ट्रकी सब जनता मिलकर एक शरीर है" ऐसी भावना राष्ट्रमें रहनी चाहिये। एक शरीरमें जिस तरह सब अंगोंका सहकार्य होता है, उस तरह राष्ट्रके अन्तर्गत सब जनतामें उत्तम सहकार्य होना चाहिये। ऐसा सहकार्य जहां होगा वही राष्ट्र जीवित रहेगा और अत्यंत सुखसे युक्त भी होगा। ऋषियोंने यह सिद्धान्त राष्ट्र-शासनके विषयमें निश्चित किया था।

राजाको प्रजाका आश्रय

और एक सिद्धान्त वेदमंत्रोंने राष्ट्रके शासनके विषयमें कहा है वह सबसे महत्त्वका है। वह सिद्धान्त यह है- "राजा और प्रजा, शासक और शासित, इनमें मुख्यतः किसका किसको आधार है?" इस विषयमें वेदका कहना यह है-

पृष्ठीर्मे राष्ट्रं उदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी
ऊरू अरत्नी जानुनी, विशो मे अंगानि सर्वतः।
जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि, विशि राजा
प्रतिष्ठितः ॥९॥ वा. यजु. २०

राजा कहता है कि- "मेरी पीठ राष्ट्र है, मेरा पेट, कंधे, गर्दन, चूतड, जांघें, घुटने, हाथ आदि सब अवयव मेरे प्रजाजन ही हैं। जंघा और पांवके रूपसे मैं धर्म ही हूँ अर्थात् धर्मके आधारपर मैं रहा हूँ। इस रीतिसे प्रजा-जनोंमें राजा प्रतिष्ठित हुआ है। अर्थात् प्रजाके आधारसे राजा रहता है।"

प्रजा राजाका शरीर है।

'विशः मे अंगानि सर्वतः' प्रजाजन ही मेरे शरीरके सब प्रकारसे अंग हैं। अर्थात् मैं प्रजाजनोंसे पृथक् नहीं हूँ। प्रजाजन ही मेरा शरीर है। प्रजाजन ही मेरे शरीरके अंग और अवयव हैं।

'विशि राजा प्रतिष्ठितः' प्रजाजनोंके आधारसे राजा रहता है। प्रजाजन ही राजाका सच्चा आश्रय है। प्रजा ही राजाका प्रतिष्ठान अर्थात् आश्रयस्थान है। राजा न हो तो प्रजा रहती है, पर प्रजा न हो तो राजाका अस्तित्व भी नहीं हो सकता है। प्रजाका आश्रय राजाको न मिला तो राजा राजगद्दीपर टिक नहीं सकता।

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे ...
प्रति तिष्ठामि यज्ञे। वा. यजु. २०

'प्रत्येक शौर्यके कार्यमें मैं रहता हूं। प्रत्येक राष्ट्र रक्षणके कार्यमें मैं रहता हूं। राष्ट्रहित करनेके प्रत्येक कार्यमें मैं रहता हूं। प्रत्येक यज्ञमें मैं भाग लेता हूं।'

राष्ट्रका राजा राष्ट्ररक्षणके कार्यमें, राष्ट्रका हित करनेके कार्यमें, यज्ञकार्यमें अपना जो कर्तव्य है वह करता रहे। कभी इसमें प्रमाद न करे, आलससे पीछे भी न रहे। जो जो कार्य राष्ट्रके अभ्युदयके लिये करना आवश्यक है वे सब कार्य राजा करता रहे। तथा-

लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ् म आनतिः आगतिः।
मांसं म उपनतिः वसु अस्थि मज्जा म आनतिः॥
वा० यजु० २०

'राष्ट्रोद्धारके सब प्रयत्न करना ये मेरे बाल हैं। मेरी नम्रता, मेरी त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा है।' जैसे बाल शरीरसे सहज ही बाहर आकर बढते हैं, वैसे राष्ट्रोद्धारके लिये प्रयत्न सहजहीसे होते रहने चाहिये। इसी तरह राजा तथा राज्यशासनके अधिकारीजन इनमें नम्रता रहनी

चाहिये। लापर्वाही, क्रोध, उद्धतभाव नहीं रहना चाहिये। प्रजाके विषयमें विनम्रभाव धारण करना जैसा राजाको तथा अधिकारियोंको भी आवश्यक है।

पाप न करना

यदि दिवा यदि नक्तं० ॥ १५ ॥
यदि जाग्रत् यदि स्वप्ने० ॥ १६ ॥
यत् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यत् शूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं
यदेकस्याधिधर्माणि तस्यावयजनमसि ॥

वा० यजु० २०

'दिनमें अथवा रात्रीमें, जाग्रतीमें अथवा स्वप्नमें किंवा निद्रामें, ग्राममें, अरण्यमें, सभामें अथवा इन्द्रियोंके संबंधमें हमसे जो पाप हुआ होगा, जो पाप व्यक्तिसे हुआ होगा और संघशः हुआ होगा, धर्मके ठीक तरहसे पालन न होनेके कारण जो पाप हुआ होगा, उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये और वैसा पाप फिर न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये।'

राज्यशासनके कार्य, सभासमितिके कार्य तथा अन्यान्य प्रजाकी उन्नतिके कार्य जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष करने चाहिये। शिथिलता, आलस्य तथा उदासीनता आदि कारणोंसे प्रमाद नहीं होने चाहिये।

यहांतक दिये मंत्र यह भाव बता रहे हैं कि राजा और प्रजाजन इनका संबंध शरीरके अवयवोंका जैसा संबंध है। शरीरमें इंद्रिय ये अधिकारी हैं, प्राण अवैतनिक स्वयंसेवक हैं, शरीरके गात्र ये प्रान्त हैं, आत्मा राजा अथवा शासक है, बुद्धि उसकी समिति है। इस तरह यह शरीरमें राज्य चल रहा है। इसमें परस्पर सहकार्य, परस्पर सेवा और परस्पर प्रेमका संबंध जैसा है वैसा संबंध राष्ट्रमें रहना चाहिये। सब मिलकर एक शरीर है वैसा ही यहांका राष्ट्र मिलकर एक ही शरीर है। शरीरमें छोटा राष्ट्र है और राष्ट्र बडा शरीर है। पर दोनों स्थानोंमें नियम एक ही हैं।

सब राष्ट्र एक शरीर है ऐसा मानकर राज्यशासन करना चाहिये। राजा और शासनाधिकारी प्रजाजनोंके साथ व्यवहार करनेके समय प्रजाजनोंके साथ एकरूप होकर, अभिन्न भावसे जहांतक हो सके वहांतक राज्यशासनका कार्य करते जांय। वैदिक शासनका यह मुख्य तन्त्र है।

प्रथम इसके पूर्व राष्ट्र एक ही शरीर है ऐसा कहा और यहां वही भाव अन्य शब्दोंद्वारा वर्णन किया है। (विशः मे अंगानि) सब प्रजाजन राजाका शरीर है तथा (विशि राजा प्रतिष्ठितः) प्रजाजनोंमें राजा सुप्रतिष्ठित होता है। इन दोनों कथनोंमें राजा और प्रजाकी एकरूपता ही वर्णन की है। राजा प्रजाजनोंसे पृथक् नहीं है, परंतु सब प्रजाजन मिलकर ही राजा होता है। 'सब प्रजा' यही राजाका वास्तविक स्वरूप है ऐसा राजाको मानना और इस दृष्टिसे राज्यशासन करना योग्य है।

जहां प्रजा और राजाका संबंध इस तरहका होगा वहां राजा प्रजाका संघर्ष होनेकी संभावना ही नहीं होगी। यह वैदिक राज्यशासनका प्रमुख मन्तव्य है इसलिये वैदिक राज्यशासनमें प्रजाको सुख अधिक प्राप्त होता है।

इस लेखके प्रारंभमें १३ प्रकारके भिन्न भिन्न राज्यशासनोंका उल्लेख किया है। इस समय 'साम्राज्य शासन' बुरा है और 'स्वराज्य शासन' उत्तम है ऐसा लोग मानते हैं। पर यदि इस वैदिक दृष्टिकोणका स्वीकार किया, और राष्ट्रकी सब प्रजा और राजा मिलकर एक ही शरीर है ऐसा मान लिया और सब प्रजाजन ये राजाके शरीरके अवयव हैं (विशो मे अंगानि) यह भाव मनमें धारण किया और तदनुसार राज्यशासन किया, तो वह साम्राज्य शासन हो या स्वराज्य शासन हो या और तीसरा कोई शासन हो, तो भी उसमें कोई दोष होनेकी संभावना नहीं है। राज्यशासनमें दोष होनेका जो मुख्य कारण है वही इस विचार पद्धतिसे वैदिक ऋषियोंने अथवा वेदमंत्रोंने दूर किया है। इसीलिये वैदिक राज्यशासनमें दोषोंके उत्पन्न होनेकी संभावना कम है।

सब प्रजाजन मिलकर एक 'राष्ट्रपुरुष' है यह कल्पना व्यवहारमें आगयी और यह एकत्वकी भावनाका तत्त्व राजाके तथा प्रजाजनोंके मनमें ठीक तरहसे जम गया, तो 'हम सब मिलकर एक ही हैं' ऐसा वे मानेंगे और वैसा बर्ताव करेंगे, इस कारण विभिन्नताका भाव उनके व्यवहारमें नहीं रहेगा। इस कारण विभिन्नताका भाव रहनेके कारण जो दोष होनेकी संभावना है वे दोष नहीं होंगे। जहां पृथक् भाव है वहीं एक दूसरेको लूटता है, दूसरेका अपहरण करता है। जहां एक जीवनका भाव हुआ वहां दूसरा ही नहीं रहा, वहां कौन किसको लूटेगा और कौन किसके

साथ द्वेष करेगा ? यह उच्च अवस्था है और यही व्यवहारमें लानेका प्रयत्न ऋषिलोग करते थे। इसलिये उनको सच्चे सुखका अनुभव होता था।

(विशो मे अंगानि सर्वतः) प्रजाजन ही राजाके शरीरके अवयव हैं। यह वैदिक सिद्धान्त स्वीकारनेसे राजा और प्रजाकी एकता मनमें सुस्थिर हो जाती है और इससे साम्राज्यवादसे अन्यत्र जो अनर्थ होते हैं वे अनर्थ इस पद्धतिका साम्राज्य जहां होगा वहां नहीं होंगे यह तो निःसंदेह हम कह सकते हैं। प्रजाजनोंको दुःख हुआ तो वह दुःख राजाको ही हुआ ऐसा राजा और राज्यशासक समझेंगे। वहां राजा तथा राजपुरुषोंसे प्रजाको कष्ट देनेका कार्य कदापि नहीं होगा। इस विचारके वायुमंडलमें पला हुआ राजा तथा राजपुरुष, भले ही वे साम्राज्यके हों अथवा दूसरे किसी राज्यके हों प्रजाको कष्ट देनेवाले नहीं बनेंगे। प्रजाको कष्ट देनेका पाप अपने द्वारा न हो। इस विषयमें वे दक्ष रहेंगे, इसीलिये वैदिक समयके राजा प्रजाके शोषक होनेकी संभावना नहीं थी। कोई वैसे दुष्ट बने तो वह अपवाद होगा।

पाप न करनेकी दक्षता

(दिवा नक्तं) दिनमें अथवा रात्रीमें (जाग्रत् स्वप्ने) जागते हुए अथवा स्वप्नमें वा निद्रामें, (ग्रामे अरण्ये) गांवमें वा अरण्यमें, (सभायां) सभामें अथवा समितिमें (इन्द्रिये) इन्द्रियके संबंधमें, (शूद्रे अर्ये) शूद्र तथा आर्यके संबंधमें अपने द्वारा पाप न हो ऐसा राजा बोलता है। इतनी दक्षता वह मनमें धारण करता है। अपने आचरणमें पाप हुआ तो वह उसके लिये प्रायश्चित्त करनेको तैयार रहता है। ऐसे दक्ष राजासे पाप होनेकी संभावना ही नहीं है। जिसके विचार शुद्ध होते हैं उसकी आचार शुद्धता स्वयं हो जाती है। इस तरह विचार करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि आजकी राज्यशासन विषयक कल्पना और ऋषियोंकी राज्यशासनकी कल्पना इनमें बडा भारी अन्तर है। और भी देखिये–

ज्ञानी और शूरोंका सहकार्य

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
वा० यजु २०

" जहां ज्ञानी और शूर मिलजुलकर एक विचारसे राज्यशासन चलाते हैं, वही पुण्य देश है और वही रहनेके लिये योग्य देश है। "

रहनेके योग्य देश कौनसा है इसका निश्चय अपनी प्रज्ञासे करना हो तो यह देश, जो ऊपरके मंत्रमें कहा है, रहनेके लिये योग्य है, ऐसा समझना योग्य है।

जिस देशके ज्ञानी और शूर एक मतसे अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये तैयार रहते हैं, आपसमें झगडते नहीं, सब प्रजाजनोंका मिलकर एक ही राष्ट्रपुरुष है ऐसा मानते हैं, तथा इसी राष्ट्रपुरुषकी सेवा सबने मिलकर करनी है ऐसा समझते हैं वही पुण्य देश है और वही रहनेके लिये योग्य देश है, ऐसा सब मानें।

अब हम राज्याभिषेकके मन्त्र देखते हैं। देखिये इन मन्त्रोंसे क्या बोध मिलता है—

राज्याभिषेकके मन्त्र

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥
ऋग्वेद १०।१७३।१

ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्
शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥
अथर्व. ६।८८।३

' हे राष्ट्रके अध्यक्ष ! मैंने (त्वा आहार्षं) तुमको इस राजगद्दीके स्थानपर लाया है। अब (अन्तः एधि) अन्दर आओ, (ध्रुवः तिष्ठ) स्थिर रहो, (अविचाचलिः) चञ्चल न होओ। (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब दिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन इस राष्ट्राध्यक्षके स्थानपर तुम्हें ही रखनेकी इच्छा करें। (राष्ट्रं त्वत् मा अधिभ्रशत्) यह राष्ट्र तुझसे अधःपतित न हो। यह राष्ट्र तुझसे दूर या पृथक् न बने।

तुझे राज्यसे पदच्युत होनेका अवसर प्राप्त न हो। (ध्रुवः अच्युतः शत्रून् प्रमृणीहि) राज्यगद्दीपर स्थिर रहकर, अर्थात् स्थानभ्रष्ट न होते हुए, तू शत्रुओंका पूर्ण नाश कर। (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुके समान आचरण करनेवाले जो जो होंगे उन सबको नीचे

गिरा दे। (सर्वाः दिशः संमनसः सध्रीचीः) सब दिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन एक मतसे आगे होकर तुझे ही राज्यपर रखनेके लिये अनुमति दें। (इह ते ध्रुवाय) यहां तेरे स्थैर्यके लिये (समितिः कल्पतां) राष्ट्रसमिति समर्थ होवे अर्थात् यह राष्ट्रसमिति तुझे ही राज्यगद्दीपर रखनेके लिये अनुमति देवे। इस तरहका उत्तम प्रजाहित-कारी राज्यशासन तूं कर। इसमें प्रमाद होने न दे। यदि यह राष्ट्रसमिति तेरे लिये अनुकूल रहेगी और तुझे ही राष्ट्र-पर रखनेकी इच्छा करेगी तो ही तेरी स्थिति इस राज्यपद-पर रहेगी, नहीं तो तेरे स्थानभ्रष्ट होनेमें कोई देरी नहीं लगेगी।

ये मंत्र राज्याभिषेकके समारंभमें बोलनेके लिये हैं। इन मंत्रोंमें राज्यका पुरोहित राजाको क्या कहता है वह सब मननीय है। (सर्वाः विशः त्वा वांछन्तु) सब प्रजा-जन तुझे ही इस अध्यक्ष स्थानमें रखनेकी इच्छा करें, अर्थात् यदि प्रजाजन प्रतिकूल रहे तो कोई राजा राजगद्दी-पर नहीं रह सकता अर्थात् प्रजा ही उसको स्थानभ्रष्ट कर देगी। इसी तरह (सर्वाः दिशः संमनसः सध्रीचीः) सब दिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन एक मतसे तुझे ही इस राष्ट्राध्यक्षपदपर रखनेकी इच्छा करें। अर्थात् प्रजाकी अनुकूल संमतिसे ही राजा अध्यक्ष स्थानपर रह सकता है। जन्मके अधिकारसे नहीं। जन्मजात राजाको शासनाधिकार नहीं है, वह प्रजाकी अनुमतिसे प्राप्त हुआ अधिकार है यह बात यहां मनमें रखनेयोग्य है।

राजा चंचल न हो। राज्यशासनका कार्य चंचलता, अस्थिरता छोडकर राजाको करना चाहिये। अपनी राज्य-पद्धतिसे राष्ट्रका अधःपात नहीं होना चाहिये। राजा इस विषयमें सदा दक्ष रहे। राष्ट्रके शत्रु दूर रहें ऐसा संरक्षणका सुप्रबंध करना चाहिये। यह सब राजाका कर्तव्य है यह उपदेश राज्यारोहणके इस मंगलप्रसंगमें जनताके नेता अर्थात् पुरोहित राजाको करते हैं। राज्यसे राजा पदच्युत भी हो सकता है यह भय भी इसी मंगल प्रसंगमें राजाके सामने रखा जाता है। यह सब शतपथ ब्राह्मणने ऐसे ही भिन्न शब्दों द्वारा कहा है देखिये–

> ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सुवं अनुमन्यन्ते।
> ताभिरनुमतः सूयते। यस्मै वै राजानः राज्यं
> अनुमन्यन्ते स राजा भवति। न स यस्मै न ॥
> श. ब्रा ९।३।२।५

" वे सब प्रजाजन इसके विषयमें सन्तुष्ट होते हैं, इस कारण इसको अपनी अनुमति देते हैं। उनकी अनुमतिसे यह बनाया जाता है। जिसको वे अनुमति देते हैं और राज्यके लिये वह योग्य है ऐसा कहते हैं वह राजा होता है। पर वह राजा नहीं होता कि जिसको प्रजाकी अनुमति नहीं मिलती।" इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रजाकी अनुकूल संमतिसे राजा राजगद्दीपर आता है। अर्थात् प्रजाकी अनु-मति रहनेतक ही वह राजपदपर रह सकता है।

इस तरह वैदिक समयमें प्रजाकी अनुमतिपर राजाका अस्तित्व अवलंबित रहता था। इसलिये राजा अपने राष्ट्रमें एक " राष्ट्र समिति " स्थापन करे जिसमें प्रजाके प्रति-निधि आवें और राज्यशासनके विषयमें अपनी संमति देवें।

" ते ध्रुवाय समितिः कल्पतां " राजाकी स्थिरताके लिये यह राष्ट्रसमिति समर्थ होवे। इस समितिकी अनु-मतिसे राजा राज्यशासन करे। इससे वह समिति राजाके अनुकूल रहेगी। यदि इस राष्ट्रसमितिकी मान्यता राजाके लिये प्राप्त हुई तो वह राजा उस राज्यकी गद्दीपर बहुत देरतक रहेगा। अब हम इस राष्ट्रसमितिके अधिकार कैसे थे इस विषयमें प्रजापतिकी दुहिताकी कथा देखते हैं–

प्रजापतिका वध

' प्रजापति ' का अर्थ प्रजाका पालन करनेवाला राष्ट्रका अध्यक्ष। इसका वध ऋषियोंने किया था ऐसा वर्णन वैदिक वाङ्मयमें है वह वृत्तान्त संक्षेपसे अब देखिये—

> प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्। दिव-मित्यन्य आहुरुषसमि अन्ये। तां ऋश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। न कृतं वै प्रजापतिः करोति। ते तमैच्छन्। य एनमा-रिष्यति, एतमन्योन्यस्मिन्नाविदन्। तेषां या घोरतमास्तन्व आसन्, ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽभवत्। तदस्यै तद्भूत-वन्नाम…। तं देवा अब्रुवन्, अयं वै प्रजापति-रकृतमकः, इमं विध्येति, स तथेत्यब्रवीत्० ॥
> ऐ० ब्रा० ३।३३

यह वृत्तान्त शतपथ ब्राह्मणमें आया है। वह भी ऐसा ही है पर उसमें थोडा फरक है इसलिये वह यहां देते हैं–

> प्रजापतिर्वै स्वांदुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा। मिथुन्यनेया स्यामिति। तां संबभूव ॥१॥

तद्वै देवानाभाग आस। य इत्थं स्वां दुहितर-
मस्मत्स्वसारं करोति ॥ २ ॥ ते ह देवा ऊचुः।
योऽयं देवः अतिसंधं वा अयं चरति, य इत्थं
स्वां दुहितरमस्मत्स्वसारं करोति। विध्येममिति।
तं रुद्रोऽभ्यायत्य वि व्याध ॥ ३ ॥ तेषां यदा
देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य
तं शल्यं निरकृन्तन्। स वै यज्ञ एव प्रजापतिः॥

शा० ब्रा० १।७।४

इस कथाका तात्पर्य ऐसा है–

१ प्रजापतिकी एक पुत्री थी,

२ वह प्रौढ होनेपर उसके सौंदर्यको देखकर प्रजापति मोहित हुआ और उस पुत्रीके पीछे पीछे दौडने लगा। उसपर बलात्कार करके उससे संभोग करनेकी इच्छा उसमें उत्पन्न हुई।

३ सब देवोंकी संमतिसे प्रजापतिका यह पाप कर्म है ऐसा निश्चित हुआ। इसलिये प्रजापतिका वध करना योग्य है ऐसा उन्होंने निश्चित किया। यह कार्य करनेके लिये अपनेमें कौन है इसका उन्होंने विचार किया।

४ परन्तु उनको अपनेमेंसे कोई ऐसा बलवान नहीं मिला कि जो प्रजापतिका वध कर सकनेमें समर्थ हो।

५ पश्चात् उन्होंने अपनेमें जो शक्तिमान थे उनको इकट्ठा किया और उनका एक संघ उन्होंने बनाया।

६ उस संघको देवोंने कहा कि यह प्रजापति जो नहीं करना चाहिये वही करने लगा है। इस कारण इसका वध कर। यह देवोंकी आज्ञा होते ही उसने प्रजापतिपर बाण मारा और उसका वध किया।

यह इस तरह प्रजापतिके वधकी कथा है। प्रजापतिकी पुत्री द्यु है वा उषा है इस विषयमें ब्राह्मण ग्रन्थकारोंमें मतभेद है। ब्राह्मण ग्रन्थ लेखकोंको भी वेदमंत्रमें वर्णित प्रजापति और उसकी पुत्रीके विषयमें निश्चित कल्पना नहीं है। वे यह उषा है वा द्यु है ऐसा कहते हैं। इससे मंत्र-काल और ब्राह्मणकालमें बहुत अन्तर है यह बात सिद्ध होती है। मंत्रमें जो वर्णन है वह किसका वर्णन है इस विषयमें ब्राह्मणकारोंको विस्मरण हुआ था। इसमें संदेह नहीं है। हम अब इसीका संशोधन करते हैं और देखते हैं कि वेदमन्त्रोंके आधारसे हमें प्रजापतिकी पुत्रीके विषयमें कुछ निश्चित कल्पना प्राप्त होती है वा नहीं।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षात्
चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ अथर्व. ७।१२

'सभा और समिति ये दोनों प्रजापतिकी पुत्रियां हैं। ये दोनों (सं विदाने) सत्य ज्ञान राजाको देती हैं। जिस सभासदको मैं मिलूंगा वह मुझे सत्य ज्ञान देवे। हे (पितरः) रक्षक सदस्यो ! सभाओंमें मैं अच्छा ही भाषण करूंगा।'

इस मन्त्रने प्रजापतिकी पुत्रियां 'ग्रामसभा और राष्ट्र-समिति' ये हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। इसमें संदेह हो ऐसी कोई बात यहां नहीं है। 'प्रजापतेः दुहितरौ' ये दोनों पद बिलकुल स्पष्ट हैं। ग्रामसभा और राष्ट्रीय समिति ये दोनों सभाएं राजाकी आज्ञासे बनती हैं इसलिये ये राजाकी पुत्रीयां हैं।

दूर रहनेसे हितकारक

'दुहिता' का अर्थ 'दूर रहनेसे हितकारक' ऐसा है। ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति ये राजाकी आज्ञासे निर्माण होती हैं इसलिये पुत्रियां हैं। पर ये 'दुहिता' हैं। (दुहिता दूरे हिता) दुहिता वह है कि जो दूर रहनेसे ही हितकारक होती है 'दुहिता।' के दो अर्थ हैं—

१ पुत्री और
२ दूर रहनेसे हितकारक

पुत्री पिताके वीर्यसे उत्पन्न होती है, पर वह स्त्रीवत् उपभोग्य नहीं है वह दूर रखनेसे हितकारक है। पुत्री दूरके वंशमें दी जाती है। पत्नी पास रहनेसे हितकर है, और पुत्री दूर रहनेसे हितकर है।

ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियां हैं, पर उनपर बलात्कार करना राजाके लिये योग्य नहीं। उन सभासमितियोंको अपना मतप्रदर्शनका पूर्ण स्वातंत्र्य होना चाहिये। यदि कोई राजा अपनी शक्तिका उपयोग करके सभा और समितिसे अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करावे, तो वह शिष्टसंमत नहीं होगा। वे शिष्ट लोग यही कहेंगे कि 'अकृतं अकः' इसने जो नहीं करना चाहिये वही किया है। इस कारण ऐसे राजाकी निंदा ही सब सज्जन करेंगे।

प्रजापति संस्था

'प्रजापति संस्था' नामक एक राज्यशासन पद्धति वैदिक समयमें थी। 'ग्रामसभा' ग्रामका और 'राष्ट्रीय समिति' राष्ट्रका शासन करती थी। इस तरहके राज्य-शासनकी व्यवस्था इस प्रजापति संस्थामें होती थी।

किसी राजाने अपने अधिकारका दबाव ग्रामसभापर अथवा राष्ट्रसमितिपर लाया और अपनी इच्छानुसार उनसे कार्य कराया। यह बात ऊपरके ब्राह्मणवचनमें बतायी है। इस रीतिसे राजाने इन सभाओंपर बलात्कार किया। उस समयके जननेताओंको वह प्रजापतिका करना पसंद नहीं आया। उस समयके नेताओंने अपनेमेंसे जो वीर लोग थे उनको संघटित किया और प्रजापतिका वध करवाया। बाण मारकर इस समयके राष्ट्राध्यक्षको घायल किया। यह कथा इतनी ही ब्राह्मण ग्रन्थोंमें है। पर यह कथा यहीं समाप्त नहीं हो सकती। प्रजापतिका वध करके लोकनेताओंने आगे क्या किया यह ब्राह्मणग्रन्थमें नहीं है, पर यह कथा वेदमंत्रमें है। वह वेदमंत्र अब देखिये। उस समयके राष्ट्रके नेता लोग नये राष्ट्रशासकको राजगद्दीपर बिठलाते हैं। यह मन्त्र अब देखिये—

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्
क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिंचत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवाः
वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ऋ० १०।६१।७

(पिता) प्रजापतिने जब (स्वां दुहितरं) अपनी ग्रामसभा तथा राष्ट्रसमिति इन दो पुत्रीयोंपर बलात्कार किया, अर्थात् अपने अधिकारका दबाव इन लोकसभाओंपर लाया, तब (क्ष्मया संजग्मानः) पृथ्वीके ऊपरकी, राष्ट्रकी जनताके साथ जो उसका संघर्ष हुआ उस संघर्षमें उसका (रेतः निषिंचन्) वीर्य गिर गया, उसका सब बल नष्ट हुआ। इसके पश्चात् (स्वाध्यः) स्वाध्यायशील लोगोंने, ज्ञानीजनोंने (ब्रह्म जनयन्) नया विचार प्रकट किया, नयी घोषणा की और (व्रतपां) नियम पालन करनेवाले नये (वास्तोष्पतिं) राजाको शासकको (निरतक्षन्) निर्माण किया, चुनाया और उसको राजगद्दीपर बिठलाया।

इस मन्त्रके अन्तिम चरणमें जो लिखा है वह ब्राह्मणग्रन्थोंमें नहीं है। (व्रत-पां वास्तोष्पतिं निरतक्षन्) नियम पालन करनेवाले अध्यक्षको बनाया, चुनकर पसंद किया और उसको राजगद्दीपर बिठलाया। इस नये अध्यक्षका विशेष गुण यह है कि वह (व्रत-पाः) नियमोंका पालन करनेवाला है। जो मारा गया वह व्रतका भंग करनेवाला था। इसलिये उसको मारा और नियमोंके अनुसार राज्यशासन करनेवालेको सर्व संमतिसे राजगद्दीपर बिठलाया। दूसरा भी एक वृत्त ऐसा ही है—

वेन राजाका वध

स्वेच्छाचारी वेन राजाका वध भी इसी तरह उस समयके ऋषियोंने किया था, तथा उसका ज्येष्ठ पुत्र असमंजा पागल तथा क्रूर होनेके कारण उसको वनवासका दण्ड दिया और उस वेनके द्वितीय पुत्र पृथुको राज्यपर बिठलाया। यह इतिहास अनेक पुराणोंमें है। इसलिये यह अत्यंत प्रसिद्ध है। प्रजापतिके वधकी कथा प्राचीन है और उसकी अपेक्षा वेनका इतिहास अर्वाचीन है।

प्रजापतिके वधका इतिहास अतिप्राचीन है और यह राजकीय स्वरूपका इतिहास है। दुष्ट राजाका वध किया और उसके स्थानपर दूसरे नियमानुसार राज्य करनेवालेको बिठला दिया। पहिला विधिनियमोंको मानता नहीं था इस कारण उसको हटाया। दूसरेने नियम पालनकी प्रतिज्ञा की, वह सब जनताको विश्वसनीय प्रतीत हुई। इसलिये उसको चुना और राजगद्दीपर बिठला दिया।

यदि ब्राह्मणग्रन्थोंमें लिखा अर्थ लिया जाय तो सूर्य, उषा अथवा द्युलोक इनके साथ सूर्यसे व्यभिचार होनेकी संभावना ही नहीं है और प्रजापतिका वध ही नहीं हुआ, और दूसरा प्रजापति भी नहीं लाया। इस तरह अर्थ स्वीकार करनेपर कोई कथा ही स्थानपर नहीं रहती। सूर्य प्रजापति है उसने उषापर जो नहीं करना चाहिये वैसा कुछ भी कार्य किया ही नहीं। फिर उसको बाण किसने क्यों मारा? इस तरह ब्राह्मणग्रंथोंका अर्थ लेनेसे "नियम पालक दूसरा प्रजापति राज्यपर लाया गया" इसकी संगति नहीं लगती।

ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति यह अर्थ लेनेपर सब राज्यशासन व्यवस्थाका ज्ञान ठीक तरहसे होता है और कथाका राज्यशासन विषयक भाव भी स्पष्टरीतिसे समझमें आ जाता है।

यूरोपमें इंग्लंड, फ्रान्स, रशिया आदि देशोंके राजाओंका वध भी इसी तरह वहांकी जनताके नेताओंने किया था। यह इतिहास उन देशोंके इतिहासोंमें सुप्रसिद्ध है। वेन राजाका वध उसी तरह हुआ था और प्रजापतिकी कथा

तो उससे भी प्राचीन है। ब्राह्मण ग्रंथकारोंने इस प्रजापतिकी कथाको रूपक ठहरानेका यत्न किया है और पुराणकार भी उसी पंथमें हैं। देखिये श्रीमद्भागवतकार इसी कथाका रूप कैसा लिखते हैं–

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामा चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन् ॥२९॥
नैतत् पूर्वैः कृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे।
यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्यांगजं प्रभुः ॥ ३० ॥
स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरा दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ॥ ३१ ॥

श्रीमद्भागवत० ३।१२

इस भागवतकी कथामें द्यु और उषा ये अर्थ लिये नहीं हैं, परन्तु ' वाणी ' अर्थ लिया है। तथा प्रजापतिने स्वयं लज्जित होकर आत्महत्या की ऐसा लिखा है। पर वाणी अर्थ लेनेपर प्रजापति लज्जित क्यों हुआ और उसने आत्म-हत्या क्यों की यह एक गूढ ही रहता है। अर्थात् श्रीमद्भागवतका अर्थ लेनेपर भी अर्थ ठीक लगता नहीं। परन्तु ग्रामसभा और राष्ट्रीयसमिति यह अर्थ लेनेपर ही इस कथाका सच्चा और राष्ट्रीय भाव प्रकट होता है।

यहांतक जो विवेचन किया उससे निम्नलिखित बातें सिद्ध होगयी है–

१ ऋषियोंने कमसे कम १३ प्रकारके राज्यशासन तंत्र नाना देशोंमें, नाना समाजोंमें और अनेक समयोंमें अजमाये थे और उन तन्त्रोंके विषयमें अनुभवसे वे बोल सकते थे।

२ ये अनेक प्रकारके शासनतन्त्र निर्माण करनेके लिये उनको अनेक हलचलें करनी पडी थी और कई प्रसंगोंमें उनको कारावास जैसे अनेक दुःख भी भोगने पडे थे।

३ ऋषिलोगोंने जो अनेक शासन संस्थाएं निर्माण की थी और उनका अनुभव लिया था, उन सबमें उनकी संमतिसे " व्यचिष्ट बहुपाय्य स्वराज्य " यही शासन संस्था जनताका हित करनेके लिये अत्यंत उपयुक्त था ऐसा सिद्ध हुआ था।

४ समुद्रतक जितनी पृथिवी है उस पृथिवीपर नाना प्रकारके छोटे मोटे पृथक् पृथक् राज्य न रहें, परंतु सबका मिलकर एक ही संयुक्त राज्यशासन हुआ तो वह सब प्रजाजनोंको अधिक सुख देनेवाला बनेगा ऐसा उनका निश्चय हो चुका था। पर यह उनके समयमें बना नहीं।

५ सब पृथिवीपर जितने मानव हैं वे सब मिलकर 'एक ही देह है, ' ऐसा मानकर सबके शासनादि व्यवहार इस अनन्यभावसे होने लगे, तो ही सबका अधिक हित होगा यह उन ऋषियोंका निश्चित सिद्धान्त था।

६ जो ज्ञानी होंगे वे अपने ज्ञानसे, जो शूर होंगे वे अपने शौर्यसे, जो कृषि करते हैं वे अपनी कृषिसे, जो व्यापार करते हैं वे व्यापारसे और अन्योंने अपने शिल्पादि कर्मोंसे, इस तरह सबने अपने अपने कर्मसे इस विश्वपुरुषकी अथवा इस मानवसमाजरूपी पुरुषकी सेवा करनी चाहिये यह ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित धर्म था।

७ एक शरीरमें जिस तरह सब व्यवहार उत्तम तथा पूर्ण सहकार्यसे होते रहते हैं, प्रत्येक अवयव जिस तरह सब शरीरका हित साधन करनेके लिये यत्न करता है, मस्तक बाहु पेट और पांव सब शरीरके हितके लिये यत्न करते रहते हैं, इसी तरह राष्ट्रमें सब जातियों और वर्णोंका सहकार्य होना चाहिये और सबने राष्ट्रका तथा मानवसंघका हित करनेके लिये अपने प्रयत्नकी पराकाष्ठा करनी चाहिये। इस अनन्य व्यवहारसे ही सबका अधिकसे अधिक कल्याण हो सकता है।

८ सब प्रजाजन ही राजाका वास्तविक सच्चा शरीर है। राजा प्रजाकी अनुमतिके आधारपर राज्यपदपर चढा है ऐसा राजा और राजपुरुष माने और अपनी सब शक्ति प्रजाका हित करनेके लिये जो जो आवश्यक कार्य करने होंगे, उनके करनेमें लगावे, ऋषियोंकी यह शिक्षा थी।

९ राज्याभिषेकके मंगल प्रसंगमें ऋषि राजाको साफ शब्दोंसे कहते थे कि प्रजाकी अनुकूल संमति रहनेतक ही राजा राजगद्दीपर रह सकता है। इसलिये प्रजाकी अनुकूल संमति प्राप्त करनेके लिये राजाको उचित है कि वह प्रजाका सच्चा हित होता रहे ऐसा ही सतत कार्य करना चाहिये। राजा एक राष्ट्रसमिति स्थापन करे और उसकी संमतिसे अपना राज्यशासन चलावे।

१० प्रजापति संस्था यह एक अति प्राचीन कालकी राज्य-शासन संस्था थी। इस प्रजापति संस्थाके राज्यशासनमें ग्राममें ग्रामसभा द्वारा ग्रामका राज्यशासन किया जाता था और राष्ट्रसमिति द्वारा राष्ट्रका राज्यशासन होता था। इन सभाओंके कुछ निश्चित अधिकार थे। इन सभाओंका संमान राजा तथा राजपुरुष करते थे। यदि कोई राष्ट्राध्यक्ष इन सभाओंका अपमान करता था, अथवा सभाओंकी संमति मानता नहीं था, तो उस समय जनताके नेता लोग उसको दण्ड देते थे अथवा उसे पदच्युत भी घोर अन्याय होनेपर करते थे और दूसरा अध्यक्ष चुनते थे।

इस तरह ऋषिकालके राज्यशासनके व्यवहार थे। इस समय ये ऋषि अखिल भूमंडलपर एक राज्यशासन हो ऐसा विचार कर रहे थे। इस भूमिकातक ऋषियोंका राज्यशासनका अनुभव पहुंच चुका था।

हम आज 'यू-नो' उत्पन्न कर वही कार्य करनेकी इच्छा कर रहे हैं। इसको देखनेसे हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि ऋषिलोग आजके नेताओंके बहुत पीछे तो निःसंदेह नहीं थे।

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
१ विविध प्रकारके राज्यशासन	१
२ पृथ्वीका संघराज्य	२
३ विविध राज्यशासन	३
साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य	३
पारमेष्ठ्यराज्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, सामन्तपर्यायी, जानराज्य, विप्रराज्य, समर्यराज्य, अधिराज्य	४
४ उत्तम साम्राज्य	४
५ राज्यशासनविषयक ऋषियोंकी भूमिका	६
६ जनतारूपी पुरुष	६
७ शरीरमें राष्ट्र और राष्ट्रका शरीर	७
८ शरीरमें सहकार्यका आदर्श	८
९ राष्ट्रके सुखपूर्ण जीवनका तत्त्व	८
१० राजाका आदर्श	९
११ सब जनता मिलकर एक शरीर	९
१२ राजाको प्रजाका आधार	९
१३ प्रजा राजाका शरीर है	९
१४ पाप न करना	१०
१५ पाप न करनेकी दक्षता	११
१६ ज्ञानी और शूरोंका सहकार्य	११
१७ राज्याभिषेकके मन्त्र	११
१८ प्रजापतिका वध	१२
१९ दूर रहनेसे हितकारक	१२
२० प्रजापति संस्था	१२
२१ वेन राजाका वध	१४

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

ॐ

वैदिक व्याख्यान माला — २४ वाँ व्याख्यान

ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श

कलकत्ता निवासी " श्रीमान् शेठ श्री कृष्णलालजी पोद्दार " की ओरसे प्राप्त २००) दो सौ रुपयोंसे इस व्याख्यानका मुद्रण हुआ है।

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श

देवोंका आदर्श

ऋषियोंके जीवनव्यवहारका आदर्श कौनसा था और उनके राज्यशासनका आदर्श कौनसा था, यह मननपूर्वक देखनेयोग्य विषय है; शतपथमें कहा है कि—

यद् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि । श० ब्रा०

'जैसा देव करते हैं वैसा मैं करूंगा।' अर्थात् देवताओंका आचरण यह ऋषियोंके सामने आदर्श था। वेदमंत्रोंमें जो देवोंका वर्णन है, वह देखकर वैसा आचरण करना ऋषियोंको अभीष्ट था। देव किस समय कैसा आचरण करते रहे, यह देखना और स्वयं वैसे प्रसंग आनेपर वैसा आचरण करना यह वैदिक समयकी पद्धति थी। यह ऋषियोंके आचरणका नियम था। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता आदि देव उनके सामने आदर्श थे। इन देवताओंके वर्णन वेदमंत्रोंमें वे देखते थे और ये देव जैसा आचरण करनेका वर्णन वेदमंत्रोंमें वे देखते थे, वैसा व्यवहार वे करते थे। ऋषियोंका आदर्श देवताओंका आचरण था। यहां ध्यान रखना यह है कि देवोंके आचरणमें यदि त्रुटि रही तो वह आदर्शमें नहीं शामील होती थी अर्थात् देवोंके शुभ गुण ही ऋषियोंके सामने आदर्श रहते थे।

आगे पुराणकालमें 'न देवचरितं चरेत्' ऐसा लोग कहने लगे। इसका कारण यही है कि पुराणोंमें जो देवोंके वर्णन हैं वे मानवोंके लिये सर्वथा आदर्श मानने योग्य नहीं हैं, इसलिये पुराण देखनेवालोंने "देवचरित आचरण करनेयोग्य नहीं है" ऐसा कहा।

यह ऐसा क्यों हुआ यह आज हमें देखनेका प्रयोजन यहां नहीं है। तथा पौराणिक कथाओंमें जो देवताओंके वर्णन हैं, उनकी विचिकित्सा भी हमें आज यहां करनी नहीं है। हमें इतना ही देखना है कि, ऋषियोंके सामने वैदिक देवताओंका आदर्श था, वैदिक ऋषि वैदिक देवताओंके वर्णन अपने सामने आदर्श करके रखते थे और वे ऋषि देवताओंके समान अपना आचरण करते थे। इस कारण उनका राजकारण वैदिक देवताओंके राजकारणके समान होता था, यह हम वैदिक देवताओंके वर्णनसे आज भी जान सकते हैं। यही आज यहां हमें देखना है—

उत्तम शासकका लक्षण

ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्।
वा० यजु० ४०।१; ईश० १

'इस विश्वमें जो भी कुछ है, उस सबमें ईश व्याप रहा है।' यह इस मन्त्रका 'उत्तानार्थ' है। पर इसका 'रहस्य अर्थ' यहां देखना आवश्यक है। वह इस तरह देखा जाता है।

'ईश' कौन है? जो (ईष्टे इति ईट्) जो ईशन करता है, जो दूसरोंपर अधिकार चलाता है, जो दूसरोंपर शासन करता है, जो दुसरोंपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है, जो दूसरोंको अपने आधीन करके रखता है वह 'ईश' कहलाता है। जिसके पास अपना निज ईशन सामर्थ्य है, जिसके पास राज्यशासन करनेकी अपनी निज शक्ति है वही ईश है। जिसके पास निजशासनका सामर्थ्य नहीं होगा, वह न तो 'ईश' बन सकेगा और किसीने उसको ईश बनाया तो भी वह उस स्थानपर टिक नहीं सकेगा।

'ईशा इदं सर्वं वास्यं' इसका रहस्य अर्थ ऊपरका विवरण ध्यानमें लेनेपर ऐसा होता है- "जिसके अन्दर राज्यका शासन करनेका निज सामर्थ्य होता है, वही इस जगत्पर राज्यशासन कर सकता है। अर्थात् जिसके अन्दर राज्यशासनका निज सामर्थ्य नहीं होता, उसके हाथमें राज्य आया तो भी वह उस राज्यको चला नहीं सकेगा और उस राज्यको वह अपने हाथोंमें टिका भी नहीं सकेगा।" यह इस वचनका रहस्यार्थ है।

अब हम ' वास्यं ' का अर्थ देखते हैं। ' वस्-निवासे ' और ' वस्-आच्छादने ' ये दो अर्थ इस ' वस् ' धातुके प्रसिद्ध हैं। ' रहना और आच्छादन करना ' ये दोनों अर्थ यहां लेकर देखिये कि इसका आशय क्या होता है। " ईशा इदं सर्वं वास्यं= " " जिसमें शासन करनेका निज सामर्थ्य है वही इस जगत्में रह सकता है और वही अपने निजसामर्थ्यसे उस राष्ट्रको घेर सकता है। " अर्थात् जिसमें राज्यशासन करनेका निजसामर्थ्य नहीं होगा, वह इस जगत्पर कदापि राज्य नहीं कर सकेगा। तथा वह अपने सामर्थ्यसे इस जगत्को अथवा इस जगत्के विभागको कदापि घेर भी नहीं सकेगा। इसी तरह ऐसा निर्बल शासक यहां टिकेगा भी नहीं। " रहनेके लिये और घेरनेके लिये निज सामर्थ्य चाहिये " यह इस मन्त्रका आशय है।

' ईशा वास्यं इदं सर्वं ' का रहस्य अर्थ यह है। इस अर्थको यौगिक अर्थ, गुह्य अर्थ अथवा रहस्य अर्थ कहा जाता है। गुह्य अर्थका अर्थ ' गुप्त अर्थ ' ऐसा भी है और गुहामें- ' बुद्धिमें रहनेवाला अर्थ ' ऐसा भी इसका भाव है।

बुद्धिके द्वारा मनन करनेसे जो भाव समझा जाता है, वह गुह्य अर्थ है। उत्तानार्थ सर्वसाधारणतया शब्दार्थका भाव बताता है और रहस्यार्थ विशेष गहरा स्थायी भाव बताता है। ' मन्त्रः मननात् ' ' मनन करनेसे मन्त्रका अर्थ समझमें आता है, ऐसा जो कहते हैं वह इस तरह यथार्थ है।

' ईश ' विश्वके राज्यका शासन करता है। इसमें विश्व-शासन करनेके लिये जितना सामर्थ्य आवश्यक है उतना भरपूर सामर्थ्य उसमें है। इसीलिये वह संपूर्ण विश्वपर अपना शासन स्थापित करता है, विश्वपर वह अपना अधिकार चलाता है। वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, वह सबसे अधिक ज्ञानी, वह सबसे अधिक कुशल तथा वह सबसे अधिक आयोजनकर्ता है। इससे अधिक सामर्थ्यवान् दूसरा कोई नहीं है, इसीलिये इस ' ईश ' का राज्यशासन सब विश्वपर अबाधित चल रहा है। यदि दूसरा अधिक सामर्थ्यवान् होता तो उस सामर्थ्यवानका ही राज्य होता। वैसा इससे भिन्न दूसरा कोई नहीं है।

ऋषियोंने जो ईश्वर मान लिया वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान है ऐसा ही मान लिया है। इसी कारण वह सबके लिये आदर्श माननेयोग्य है। ' ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर ' ये शब्द ईश्वरके लिये प्रयुक्त होते हैं। पर ये छोटे बडे शासन विभागोंके अधिकारियोंके वाचक निःसन्देह हैं। ' ईश ' का अर्थ छोटा अधिकारी, ' ईश्वर ' अनेक ईशोंपर निरीक्षण करनेवाला अधिकारी, ' महेश्वर ' उससे अधिक ऊंचा और ' परमेश्वर ' सबसे श्रेष्ठ सामर्थ्यवान् और सर्वोपरि शासक है। यद्यपि इनके अर्थोंमें आज यह विवेक नहीं रहा है, तथापि जिस समय ये शब्द उत्पन्न हुए, उस समय इनके अर्थोंमें यह, इनसे ध्वनित होनेवाला भाव, स्पष्ट था।

इसी तरह " गण, गणेश, महागणपति, गणमण्डलाध्यक्ष " आदि शब्द भी विभिन्न अधिकारियोंके वाचक निःसंदेह हैं। इसी रीतिसे ' इन्द्र, उपेन्द्र, महेन्द्र ' ये पद भी विभिन्न अधिकारियोंके वाचक हैं। अर्थात् इनसे राज्यशासनके विभिन्न अधिकारी बोधित होते हैं।

विश्वके शासकका आदर्श

' ईशा वास्यं इदं सर्वं ' यह वचन अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करनेवाला वचन है। पर यह राज्यशासनका भी भाव बताता है। अध्यात्मके आधारपर अपना राज्यशासन खडा रहा है ऐसा जो मानते हैं, वे इसी कारण मानते हैं। अध्यात्मशास्त्रमें गुह्यरीतिसे विश्वशासनका तत्त्व रखा गया है। इसी तरह " विश्वका शासक " पृथ्वीके ऊपरके छोटेसे राज्यशासकके लिये आदर्श होना भी स्वाभाविक ही है।

' ईशा वास्यं इदं सर्वं ' यह मन्त्र वाजसनेयी यजुर्वेदके ४० वें अध्यायका तथा ईश उपनिषद्का प्रथम मन्त्र है। इसी अध्यायमें ' ईश ' के वाचक ' आत्मा, तत् (ब्रह्म), अग्नि ' ये पद आगये हैं। ' आत्मा और ब्रह्म ' में अपनी निजशक्ति है और वही शक्ति विश्वभरमें सब प्रकारकी हलचल करती है यह आशय इन पदोंसे प्रकट होता है।

' आत्मा और ईश ' ये पद पुल्लिंगमें हैं, तथा ' तत् और ब्रह्म ' ये पद नपुंसकलिंगमें हैं। ' आत्मा और ईश ' ये पुरुष हैं इसलिये ये पुल्लिंगमें हैं। ये पुरुष हैं इसलिये ये ' प्रकृति ' रूपी अपनी पत्नीके साथ सम्बन्ध करके सब सृष्टीकी उत्पत्ति करते हैं, इस तरहका जो वर्णन है वह इस पुरुष भावका दर्शक है।

इसी तरह ' तत् और ब्रह्म ' ये पद नपुंसकलिंगमें हैं, इस कारण इनका वैसा सम्बन्ध प्रकृतिके साथ होनेकी संभावना नहीं है। यद्यपि ' ब्रह्म ' सर्वोपरि परमश्रेष्ठ तत्त्व है, तथापि वह प्रकृतिके साथ वैसा सम्बन्ध नहीं रख सकता, इसलिये वह अकर्ता है ऐसा जो वर्णन है, वह भी इस तरह संगत होता है। राजकारणमें इसका विशेष महत्त्व है, देखिये—

अकर्ता आत्मा और प्रकृति सर्वकर्त्री

" ब्रह्म अकर्ता है और प्रकृति सर्व प्रपंचका व्यापार कर रही है " यह अध्यात्म तत्त्वज्ञानका सिद्धान्त है यह सब विद्वान जानते हैं। नपुंसक ब्रह्म और सतत प्रसव करनेवाली माया अथवा प्रकृति है। अर्थात् यहां ब्रह्ममें अकर्तृत्व और प्रकृतिका सर्वकर्तृत्व बताया है। ब्रह्मका अकर्तृत्व आत्मा-पर भी आरोपित करके लगाया गया है, इतना ही नहीं, पर वह ईश्वरपर भी आरोपित किया गया है। संपूर्ण अध्यात्म-शास्त्र यही प्रतिपादन कर रहा है। ब्रह्म केवल है और सब संसारका कार्य प्रकृति कर रही है। यही भाव गीतामें भी स्पष्ट शब्दों द्वारा इसी तरह प्रकट किया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
गीता० ९।१०

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
गीता० ३।२७

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
गीता० १३।२९

' आत्मा अकर्ता है और प्रकृति यह सब प्रपञ्च करती और चलाती है। ' यह इन सब वचनोंका भाव है। ' आत्मा ' शब्दका पर्याय ' ईश ' अथवा ' ईश्वर ' है। यही विश्वके साम्राज्यका अध्यक्ष है। ' प्रकृति ' शब्दका अर्थ राज्यशासन व्यवहारमें ' प्रजा ' है। 'प्रकृति' का ' प्रजा ' अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध भी है। इसका स्पष्टभाव यह हुआ कि राष्ट्राध्यक्ष केवल निरीक्षण करे और प्रजाजन अपने सब कार्य करें। राष्ट्रकी उन्नतिके सब कार्य प्रजाजन करें।

' प्रकृति ' का अर्थ ' प्रजा ' ऐसा है। ' राजा प्रकृतिरंजनात् ' इस वचनमें ' प्रकृति ' का अर्थ ' प्रजा ' ऐसा ही है। यह अर्थ प्रसिद्ध है, इसलिये इसमें किसीको कुछ सन्देह होनेका संभव भी नहीं है। " आत्मा अकर्ता है और प्रकृति सर्व प्रपंच करनेवाली है " इस अध्यात्मके सिद्धान्तका राजकीय भाव स्पष्टरीतिसे ऐसा प्रतीत होता है कि " जानराज्यव्यवस्थामें राष्ट्रका अध्यक्ष स्वयं निरीक्षणको छोडकर दूसरा कुछ भी कार्य न करे और राष्ट्रोन्नतिके सब कार्य प्रजाजन-प्रजाजनोंके प्रतिनिधि-करते रहें। " लोकराज्यका यह मूल तत्त्व है।

' प्रकृति ' का अर्थ ' प्र+कृति ' विशेष प्रगतिकी कृति, विशेष प्रकारके कर्तव्य, ऐसा है और ' अध्यक्ष ' (अधि+अक्ष) का अर्थ ' ऊपरसे देखनेवाला, निरीक्षण करनेवाला ' ऐसा है। जो ' प्रकृति ' है उसीने अपना प्रकर्ष करनेकी कृति करनी चाहिये। तथा जो ' अध्यक्ष ' है, उसने ' कूटस्थ ' रहकर प्रजाने की हुई कृतिका निरीक्षण करना चाहिये।

अध्यात्मके एक मुख्य सिद्धान्तका ऐसा यह जान-राज्यके राजकीय क्षेत्रमें रूपान्तर है। यह योग्य है वा नहीं इसका विचार मनन करनेवाले विद्वान करें और देखें कि अध्यात्मका आधार राज्यव्यवहारमें किस तरह है।

' यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि। ' यह आद-र्शवाद याज्ञवल्क्यने शतपथ ब्राह्मणमें कहा है। यह इस तरह राजकारणके सिद्धान्त बता रहा है। यह मनन करने-वाले विद्वान् देखें।

प्रजापतिकी नियुक्ति

' प्रजापति ' की नियुक्ति प्रजाओंके द्वारा की जाती थी, यह प्रजापतिकी कथाके द्वारा अन्य स्थानमें बताया जा चुका है। यह किस पद्धतिसे नियुक्ति होती थी, इसका वर्णन एक मन्त्र कर रहा है वह मन्त्र यहां देखिये—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि
ता बभूव। ऋ० १०।१२१।१०

" जो (विश्वा जातानि परि बभूव) सबको घेर सके ऐसा (त्वत् अन्यः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। " इसलिये हम सब तुझको प्रजापतिके पदके लिये स्वीकारते हैं। जो अपने प्रभावसे और सामर्थ्यसे सबको घेर सके, अपने सामर्थ्यसे सबको वश कर सके, सबपर शासन चला सके, वही प्रजापतिके पदके लिये योग्य है। यह एक सर्व

साधारण नियम है। मान लें कि हमको "राष्ट्रपति, मंत्री अथवा दूसरा कोई अधिकारी नियुक्त करना है," उस समय इसी नियमको ध्यानमें धारण करके नियुक्ति करनी चाहिये। "इस कार्यके लिये जो सबसे अधिक योग्य हो" उसीको उस पदके लिये पसंद करना योग्य है।

ग्रामाध्यक्ष नियुक्त करना हो अथवा राष्ट्राध्यक्ष नियुक्त करना हो, जिस कार्यको करनेके लिये नियुक्ति करनी है, उस कार्यको जो अपनी शक्तिसे उत्तम रीतिसे कर सकेगा, उसीको नियुक्त करना चाहिये, यह नियम इस मन्त्रसे यहां सिद्ध हुआ है। गुणोंकी पूर्णतासे नियुक्ति करनी चाहिये, न कि किसी अन्य गौण विचारसे। यह मेरा भाई है, यह संबंधी है, यह मित्र है, यह इस जातीका है ऐसे संकुचित भावसे किसीकी नियुक्ति नहीं करनी चाहिये। रंग, जाती, वंश तथा रक्तके सम्बन्धका विचार छोडकर जो सर्वतोपरि उस कार्यके करनेके लिये योग्य होगा, उसीकी नियुक्ति उस कार्यके लिये करनी चाहिये। ऋषियोंने प्रजापतिको नियुक्त किया अथवा उसको प्रजापति करके माना, वह इसीलिये माना कि उसके समान वहां दूसरा कोई उस स्थानके लिये योग्य नहीं था। यह मन्त्रका प्रतिपादन कितने विशाल राज्यव्यवस्थाके बडे सिद्धान्तको बता रहा है यह यहां देखनेयोग्य है।

ऋषियोंने प्रजापतिको तब प्रजापति करके माना कि जब उनके सामने उनके समान अथवा उससे अधिक दूसरा कोई नहीं था। अध्यात्मका सिद्धान्त विश्वराज्यका सिद्धान्त है, वह जिसके ध्यानमें आया, वह पृथ्वीपरके राज्यव्यवस्थाके लिये उस सिद्धान्तको बरत सकता है। विश्वशासकका आदर्श पृथ्वीपरके राज्यशासकके लिये है, वह इस तरह सिद्ध हुआ है।

वसिष्ठ आदि ऋषियोंने भारत राष्ट्रकी संघटना करके उस भरत राष्ट्रको उन्होंने विजयी और प्रभावशाली बनाया। ऐसे जो वर्णन हम देखते हैं, उनकी सत्यता इस मन्त्रके भावकी ओर ठीक तरह ध्यान देनेसे उत्तम रीतिसे ध्यानमें आ सकती है। "राष्ट्रका जो कार्य करना होगा, उस कार्यको करनेके लिये जो अधिकसे अधिक योग्य हो उसकी नियुक्ति करनी चाहिये," यही नियम राष्ट्रको प्रभावशाली बनानेके लिये पालन करनेयोग्य है। ऋषियोंने इस नियमका पालन करके ही अपने राष्ट्रको प्रभावी बनाया था।

मन्त्रका उपदेश इस तरह व्यवहारमें लाना योग्य है। इस तरहके ईश्वर विषयक वर्णन राज्यव्यवहारमें किस तरह उपयोगी होते हैं यह अब देखिये-

स पर्यगात् शुक्रं ··· शुद्धं अपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। याथातथ्यतः
अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

वा० यजु० ४०।८ ईश० ८

(१) **सः पर्यगात्**— वह ईश्वर सबको व्यापता या घेरता है,

(२) **शुक्रं**— वह वीर्यवान् है,

(३) **शुद्धं**— वह शुद्ध अर्थात् निर्दोष है,

(४) **अपापविद्धं**— वह पापसे विद्ध हुआ नहीं है, वह निष्पाप है,

(५) **कविः**— वह कवि-क्रान्तदर्शी-दूरदर्शी है,

(६) **मनीषी**— वह मनको अपने आधीन करनेवाला है,

(७) **परिभूः**— वह सबपर अपना प्रभाव रखता है, शत्रुका पूर्ण पराभव करता है, चारों ओरसे सबको घेरता है,

(८) **स्वयंभूः**— वह स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है, उसको किसी दूसरेसे शक्ति प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है,

(९) **याथातथ्यतः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः अर्थान् व्यदधात्**— वह सदा जो कार्य जैसा करना चाहिये वैसा ही ठीक तरह करता रहता है।

यह वर्णन ईश्वरका है, अर्थात् यह विश्वके महान् शासकका वर्णन है। इसीलिये यह वर्णन पृथिवीके ऊपरके छोटे छोटे राष्ट्रोंके शासकोंको आदर्श करके अपने सामने रखनेयोग्य है। यह आदर्श पृथ्वीके ऊपरके राज्यशासकोंने अपने सामने रखा, तो उनका राज्यशासन कैसा होगा, वह मननपूर्वक अब देखिये—

(१) **सः पर्यगात्**= (सः परितः सर्वतः अगात्)= वह सर्वत्र, सब स्थानोंमें जाता है, पहुंचता है, सबका ठीक तरह निरीक्षण करता है। इसी तरह राज्यशासकने राष्ट्रमें

सर्वत्र जाकर सब परिस्थितिका निरीक्षण उत्तम रीतिसे करना चाहिये। राष्ट्रपति एक स्थानपर बैठे और सब राज्य-शासन नीचले अधिकारियोंके अधीन ही हो जाय, यह योग्य नहीं है। सब परिस्थितिका निरीक्षण स्वयं मुख्य शासकको करना चाहिये।

(२) शुक्रं= वह वीर्यवान्, बलवान होना चाहिये। किसी भी स्थानपर निर्बलता नहीं रहनी चाहिये। जहां निर्बलता रहेगी वहींसे शत्रु अन्दर घुसेगा। इसलिये सर्वत्र वीर्यवान् संरक्षकोंके द्वारा सुरक्षाका उत्कृष्ट प्रबन्ध होना चाहिये।

(३) शुद्धं= राज्यशासन परिशुद्ध रहना चाहिये, निर्दोष रहना चाहिये। किसी भी स्थानपर दोष रहने देना योग्य नहीं है। शासनाधिकारी आचरणके परिशुद्ध होने चाहिये।

(४) अपापविद्धं= राज्यशासनमें किसी भी स्थानपर पाप नहीं होना चाहिये। सर्वत्र निर्दोष निष्पाप शासन-व्यवस्था होनी चाहिये। शासनाधिकारी निष्पाप रहने चाहिये, रिश्वतखोरी आदि दोष नहीं होने चाहिये।

(५) कविः (क्रान्तदर्शी)= राज्यशासक ज्ञानी होने चाहिये, वे दूरदर्शी हों। जो साधारण लोगोंको दीखता नहीं, वह भविष्यकालमें होनेवाला उनको स्पष्ट दीखना चाहिये। आज जो हम कर रहे हैं, उसका परिणाम भविष्यमें क्या होगा, इसका ज्ञान यथार्थतः शासकोंको होना चाहिये।

(६) मनीषी= शासनाधिकारी मननशील हो, मनको स्वाधीन रखनेवाले हो, संयमी हों, मननपूर्वक शासन-कार्य करनेवाले हों।

(७) परिभूः (परितः भवति)= सर्वत्र संचार करके सब परिस्थितिका प्रत्यक्ष निरीक्षण करनेवाले, सर्वत्र पहुंचकर अपना शासन सर्वत्र सुस्थिर रखनेवाले शासक हों। राष्ट्रके किसी स्थानपर शासन नहीं पहुंच रहा, वहां ढिलाई हो रही है, ऐसा कहीं भी न हो।

(८) स्वयंभूः (स्वयं एव प्रभवति)= स्वयं अपनी शक्तिसे रहनेवाला। राज्यशासन ऐसा हो कि जिसमें कभी दूसरे राष्ट्रसे शक्ति प्राप्त करनेकी आवश्यकता उत्पन्न न हो। अपनी निजशक्तिसे सब कार्य चल सके। अपनी शक्तिसे शत्रुको दूर कर सके, ऐसा बलवान राष्ट्र हो। वह अपनी शक्तिसे विराजे।

(९) याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्= जो कार्य जैसा करना चाहिये वह कार्य ठीक वैसा ही सुयोग्य रीतिसे करें, ऐसे शासनाधिकारी हों। राज्यशासनाधिकारी प्रमाद-शील न हों। अपने कर्तव्यमें कदापि कोई प्रमाद न करें। निर्दोष राज्यशासन करनेवाले सब अधिकारी हों और सब अधिकारी प्रमाद न करते हुए उत्तम राज्यशासन करें।

इस मननसे पता लग सकता है कि, जो परमेश्वरका वर्णन है, वही उत्तम राज्यशासकका वर्णन है और उत्तम राज्यशासनका भी वही वर्णन है जिसमें कुछ भी हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं। इतनी पूर्ण रीतिसे ईश्वरका वर्णन अच्छे राज्यशासनका स्वरूप प्रकट करता है। ईश्वरके वर्णनका ही यह अर्थ है कि वह सर्वोत्तम राज्यशासकका वर्णन ही है। ऋषियोंने परमेश्वरको विश्वका शासक मान लिया और विश्वशासकके रूपसे उसका वर्णन किया। जिसमें कुछ भी दोष नहीं, कुछ भी वैगुण्य नहीं, ऐसा जो राज्य-शासन है, वही परमेश्वरका राज्यशासन है। अतः वह मानवी राज्य संचालकोंके लिये आदर्शरूपसे स्वीकार करने-योग्य है।

मनुष्यके सामने ईश्वरका ही उत्तम आदर्श है। ‘ जीव ’ ने किसी न किसी समय ‘ शिव ’ बनना है। ‘ पुरुष ’ ने ‘ पुरुषोत्तम ’ बनना है। ‘ नर ’ ने ‘ नारायण ’ बनना है। मनुष्य इसी मार्गमें है। परमेश्वर पूर्ण है और जीवने कभी न कभी पूर्णत्व प्राप्त करना है। इसीलिये जीवके लिये सदा ही परमेश्वरका आदर्श है। इसी तरह विश्वका नियंता राष्ट्रके नियंताके सामने आदर्श मार्गदर्शक करके रहने-योग्य है। इसलिये विश्वके नियन्ताका वर्णन राज्यशासक देखे, उसका मनन करे और अपना राज्यशासन उसके शासनके समान निर्दोष बनानेका यत्न करे।

इस तरह मनन करनेवालेके लिये ईश्वरके वर्णनसे उत्तम निर्दोष राज्यशासन पद्धतिका ज्ञान हो सकता है। इसमें इतनी ही विभिन्नता होगी कि ईश्वरका शासन अमर्याद रहेगा और मानवका राज्य मर्यादित रहेगा। बाकी सब बातोंमें समानता रहेगी।

इसी तरह अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओंके वर्णनोंसे राज्यशासनके अनेकविध अधिकारियोंके कर्तव्योंका

बोध हो सकता है। इस सम्बन्धमें यह ध्यानमें यहां धारण करना योग्य है कि, ये सब देवताएं परमेश्वरके विश्वव्यापक राज्यशासनका कार्य करनेवाले परमेश्वरसे नियुक्त हुए शासनाधिकारी ही हैं।

विश्वशासनके ये अधिकारी जैसा विश्वशासनका कार्य करते हैं, वैसा ही कार्य पृथ्वीके ऊपरके राज्यके अधिकारी करें। इन विश्वराज्यके अधिकारियोंके पास जो कार्य हैं, उनको देखनेसे हमें पता लग सकता है कि, हमारे राष्ट्रके शासनाधिकारी कौनसे कार्य किस तरह करें। अब यहां हम परमेश्वरके विश्वशासनके अधिकारी कौन कौन हैं और उनके कार्य कौनसे हैं यह देखते हैं—

विश्वकी शासन व्यवस्था

ब्रह्म (ईश्वर, परमेश्वर) विश्वराज्याध्यक्ष, राष्ट्रपति, द्रष्टा।

माया (प्रकृति) सर्व कर्म करनेवाली प्रकृति, कार्यक्षम प्रजासंघ। माया=कौशल्यपूर्ण कार्य करनेवाला संघ।

१ ब्रह्म-विभागः

ब्रह्मणस्पतिः पुरोहित, वैश्वानर, (विश्वनेता)
बृहस्पतिः, उपाध्यायः ज्ञानं, संज्ञानं, वाक्, सरस्वती, अग्निः (अग्रणिः) भारती, सावित्री, मेधा।

२ क्षत्र-विभागः

इन्द्रः, उपेन्द्रः, विष्णुः, रुद्रः, मरुतः, यमः, पितरः (रक्षितारः) अर्यमा, मन्युः, रथः, रथांगानि, धनुः, शराः, दुन्दुभिः, वज्रं, अशनिः, क्षेत्रपतिः, प्रजापतिः, वास्तोष्पतिः, राजा, धाता, मित्रः, वरुणः, सविता, अर्कः, आदित्यः

३ आरोग्य-विभागः

अश्विनौ (चिकित्सकः, शल्यकर्मा) पूषा, ओषधयः, रक्षोहा, राजयक्ष्मघ्नं, सोमः, तनूनपात्, असुनीतिः, असुः, जीवः आत्मा।

४ उद्योग-विभागः

त्वष्टा, विश्वकर्मा, ऋभवः, मायाभेदाः।

५ कृषि-विभागः

कृषिः, भूमिः, पृथिवी, गौ, वृषभः, अश्वः, अजावयः, वाजिनः, सीता, आपः, नद्यः, पर्जन्यः, ग्रावाणः, सरमा, श्वा, पणयः।

६ गृहस्थ-विभागः

पुरुषः, स्त्री, दम्पती, पुत्रः, वीरः, वीरा, अन्नं, दानं, रात्री, दिनः, उषा।

इत्यादि देवताएं और उनके विभाग हैं। वास्तविक देवताएं और भी अधिक हैं। उन सब देवताओंके मंत्रोंका मनन करके राज्यव्यवस्थाके कई अनेक विभाग हो सकते हैं। इन सब देवताओंके मन्त्रोंका विचार करनेसे हमें राज्यशासनके कई विभागोंका तथा उन विभागोंके अधिकारियोंके कार्यक्षेत्रका ज्ञान होना संभव है। राज्यशासनके तथा उनके अधिकारियोंके नाना विभागोंके पृथक् पृथक् कर्तव्य कौनसे हैं, इसका ज्ञान भी इसीसे हो सकता है। ये विभाग राज्यशासनके ही विभाग हैं यह स्पष्ट ही है।

यज्ञका आडंबर

यज्ञके आडंबरके नीचे इनमें जो राजकीय बोध था वह ढंक गया है। अब संशोधकोंको आगे आकर इनकी खोज करके इनके अन्दर जो राज्यशासनके तत्त्व हैं उनको प्रसिद्ध करना चाहिये। संशोधकोंके द्वारा आज भी यह हो सकेगा।

एक एक देवताके मन्त्र पृथक् पृथक् अभ्यासके लिये लेने चाहिये और उस देवताका स्थान विश्वके साम्राज्यमें कौनसा है, यह इस अभ्याससे नियत करना चाहिये। इस अभ्याससे पुराणोंमें जो इन देवताओंके वर्णन हैं उनका भी उपयोग हो सकता है। पर वह बडी सावधानीके साथ करना आवश्यक है।

इन्द्र और मरुत्

इस विषयके उदाहरणके लिये हम '' इन्द्र और मरुतों '' का विचार यहां करते हैं। वेदमंत्रोंमें इन्द्र और मरुत् शत्रुसे युद्ध करते हैं। ये दोनों देव शत्रुओंका पूर्ण रीतिसे निर्दालन और स्वपक्षीयोंका संरक्षण करते हैं। इन्द्र सेनापति है और मरुत् उसके सैनिक हैं। मरुतोंकी सेनाकी रचना अनुशासनसे बन्धी रहती है। सात सातोंकी एक पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिके दोनों बाजुओंमें दोनों ओर दो पार्श्वरक्षक रहते हैं। ऐसी सात पंक्तियोंका एक गण होता है अर्थात् यह गण (९×७)=६३ सैनिकोंका होता है—

७ सैनिक प्रत्येक पंक्तिमें
+ २ पार्श्व रक्षक पंक्तिके दोनों ओर
९ एक पंक्तिमें कुल सैनिक
× ७ ऐसी सात पंक्तियाँ
६३ कुल सैनिकोंका एक गण।

६३×७=४४१ सैनिकोंका एक 'शर्ध' होता था और ४४१×७=३०८७ इतने सैनिकोंका एक 'व्रात' होता था। प्रत्येक गणपर एक अधिकारी, शर्धका एक अधिकारी और व्रातका एक अधिकारी होता था, इनके क्रमशः नाम गणपति, शर्धपति और व्रातपति ये होते थे। इस तरह यह सेना विभागोंकी रचना होती थी। इनके अन्दर अनेक प्रकारकी व्यूह रचना भी होती थीं।

(१) पदाति, (२) रथी और (३) अश्वारोही ये इनमें भेद होते थे। (४) रथारोही भी होते थे। परन्तु सबकी संख्या ७।७ में ही विभक्त होती थी। सर्वत्र मरुतोंकी सेनामें ७।७ का ही अनुपात होता था। गण, शर्ध और व्रात ये नाम सैनिकोंकी संख्याके अनुसार होते थे।

मरुतोंकी यह सेनारचना देखकर अपने राष्ट्रकी सेनाकी वैसी रचना करनायोग्य है। छोटी बडी सेनाके अनुसार तथा विभागोंके अनुसार अधिकारियोंके नाम भी होते थे। गणपति, गणाध्यक्ष, गणमंडलाध्यक्ष, महागणपति आदि नाम छोटे बडे सेनाधिकारियोंके होते हैं। आर्तिहर, रोग-मोचक आदि नाम उनके कार्यके अनुसार सेनापथकोंके और उनके अधिकारियोंके होते थे।

सब सैनिकोंकी समानता

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्नि-मातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥

ऋ० ५।५९।६

"सब मरुत् सैनिक समान हैं, उनमें (अ-ज्येष्ठासः) कोई श्रेष्ठ नहीं, (अ-कनिष्ठासः) कोई कनिष्ठ नहीं और (अ-मध्यमासः) कोई मध्यम भी नहीं है। ये सैनिक (उद्+भिदः) अपनी शक्तिसे ऊपर उठते हैं। वे (महसा विवावृधुः) महत्वाकांक्षासे बढते हैं। ये (जनुषा सुजातासः) जन्मसे कुलीन, (पृश्नि-मातरः) ये मातृभूमिके भक्त हैं, ये (दिवः मर्याः) दिव्य मर्त्य हैं, ये हमारे पास आजाय।" इस तरह इनकी समानता वर्णन की है। ये सैनिक एक ही बडे मकानमें रहते हैं, इसलिये उनका वर्णन इस प्रकार किया है—

१ समोकसः (ऋ० १।६४।१०)= एक घरमें रहनेवाले,

२ उरुक्षयाः सगणाः (अथर्व० ७।७७।३)= एक बडे विस्तीर्ण मकानमें गणशः रहनेवाले,

३ सनीळाः मर्याः स्वश्वाः नरः (ऋ० ७।५६।१)= एक घरमें रहनेवाले उत्तम घुडसवार वीर।

यह मरुत् वीरोंका वर्णन है। जैसे यूरोपीयनोंके सैनिक बऱ्याकोंमें रहते हैं, वैसी ही इन मरुतोंकी यह रहनेकी रीति है ऐसा दीख रहा है।

मराठा शाहीमें तथा पेशवाओंके समयमें वेदपठनके लिये उत्तेजना मिलती थी। उस समय वेदको कंठस्थ रखनेवाले वैदिक ब्राह्मण सहस्रशः थे। पर उस समय वेद केवल पठनका ही विषय था और केवल यज्ञयागमें वेदमन्त्र बोले जाते थे। वेदके मन्त्रोंमें जो ज्ञान है वह व्यवहारमें लानेका विचार कोई उस समय करता नहीं था। इससे कितनी हानि हुई है, इसका विचार करके देखना चाहिये।

अनुशासनयुक्त सैन्यरचना

मरुतोंका वर्णन वेदमन्त्रोंमें है। मरुतोंके सैन्यकी रचना ठीक युरोपीयन सेनाकी शिस्तबद्ध अनुशासनशील सैन्य रचनाके समान थी। वेदपाठियोंको संस्कृतभाषा आती नहीं थी और शास्त्री, पण्डित वेदको कण्ठ करते नहीं थे। इसलिये वेदमें शिस्तबद्ध अनुशासनयुक्त सैनिकीय रचना है, इस बातका पता किसीको भी नहीं लगा और इस कारण वेदमें अनुशासनयुक्त सैन्य रचनाका उपदेश है, पर हम भारतीयोंकी सेना अनुशासनरहित रही और युरोपीयन यहां आये, उन्होंने यहां अनुशासनयुक्त सेनाकी रचना की, मरुतोंकी सेनाके समान अपनी सेना उन्होंने यहां बनायी और हमारा पराभव किया!!! यह अनुशासन-युक्त सेनारचनापद्धति यूरोपमें थी, वही उन्होंने यहाँ की और हमारा पराभव किया। पर ऋषियोंने अनुशासनयुक्त सेनाकी रचना करनेका आदेश वेद द्वारा दिया था। वह वेदमन्त्रोंमें ही रहा। व्यवहारमें नहीं आया!!!

मरुतोंके सूक्त मुखसे बोलनेवाले यहां थे। उनको हम क्या बोल रहे हैं उनका ज्ञान नहीं था। वेदपाठको सुननेवालोंको हम क्या सुन रहे हैं इसका ज्ञान नहीं था। ज्ञान अपने पास होते हुए भी अज्ञानकी परम सीमामें हम लिपटे थे। यूरोपीयनोंने यहां आकर यहांके ही सैनिकोंकी रचना गटबद्धपद्धतिसे की, अनुशासनशील सैन्य यहांके लोगोंका उन्होंने बनाया और उन्होंने मरुतोंके सूक्त कंठस्थ रखनेवाली आर्यजातिका पूर्ण रीतिसे पराभव किया !!! इससे स्पष्टरीतिसे समझमें आसकता है कि, यद्यपि हम वेदको कण्ठ करते थे, पर वेदकी विद्याका ज्ञान हमारे पास नहीं था। वह वेदकी विद्या हमारे दैनंदिनीय व्यवहारमें लानी चाहिये यह बात किसीके भी ध्यानमें नहीं आई। हम और हमारा भारतराष्ट्र उस समय वेदविद्यासे इतनी दूर हो चुका था !!

इस तरहकी सैन्यरचना और राज्यशासन पद्धति वेदमें है इसका ज्ञान भी लोगोंको नहीं था। वेदमन्त्र कण्ठस्थ करनेके हैं, यज्ञ, पूजा अर्चा अथवा चर्चामें बोलनेके लिये ही वेदमन्त्र केवल हैं, व्यवहारके उपयोगी ज्ञान उनमें कुछ भी नहीं है। वेदमन्त्र श्रवणसे ही पाप दूर हो सकता है, ऐसा विचार उस समय प्रबल था। आज भी वेदमें हमारे दैनंदिनीय उपयोगका कुछ ज्ञान है, इसका ज्ञान जनताको नहीं है और विद्वानोंको भी नहीं है। इस कारण हमारी अपरिमित हानि हो चुकी है और हो रही है।

इस तरह शिस्तबद्ध अनुशासनशील सेना रचनाका वर्णन वेदमन्त्रोंमें है। यह वर्णन देखनेसे राज्यशासनके एक महत्वपूर्ण संरक्षणतन्त्रमेंसे एक महत्त्वके विभागकी उत्तम रचना वेदमें है इसका ज्ञान हो सकता है।

राष्ट्रके शासनमें संरक्षक मन्त्री, सेनापति और उत्तम शिक्षित गटबद्धशिस्तमें स्थित अनुशासनशील सैनिकोंका महत्त्वपूर्ण कार्य रहता है इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं होगा।

अनुशासनशील सैनिकोंके गण बनाना, उनकी रचना गणशः करना, वे एक बडे घरमें गणपद्धतिसे रहें, वे अपने शस्त्र और अस्त्र उत्तम तेजस्वी स्थितिमें सदा रखें, यह वेदके मरुत् देवताके मंत्र हमें सिखा रहे हैं। हम यह सीख रहे हैं या नहीं यह प्रश्न विचारणीय है।

कर्मकाण्डके लोगोंने इन्हीं मन्त्रोंका विनियोग मनमाना किया और इस कर्मकाण्डके जालसे बाहर आनेका प्रयत्न आजतक किसीने भी जैसा करना चाहिये था वैसा नहीं किया। इस कारण इस महत्त्वपूर्ण विभागकी ओर भारतीयोंका पूर्ण रीतिसे दुर्लक्ष्य हुआ। जो सेनारचनाकी विद्या हमारे प्राचीन पूर्वजोंने उत्तम रीतिसे सिद्ध की थी और जिसमें उन्होंने प्राविण्य भी प्राप्त किया था, वही विद्या आज हमारेमें रही नहीं ! इसमें आश्चर्यकी बात यह है कि, उसी वेदोक्त गणबद्ध सेनारचनाकी पद्धतिका अवलंबन करके यूरोपीयनोंने यहां आकर हमारा ही पूर्ण रीतिसे पराभव किया !!!

हमारे पासकी यह राष्ट्ररक्षणकी विद्या– यह सैनिकीय रचना करनेकी विद्या हमारे धर्मग्रन्थोंमें ही रही और केवल पठनमें ही रही ! इन मन्त्रोंके विषयमें हमारे अन्दर अभिमान तथा आदर भी था। परन्तु इस सैनिकीय विद्याको जानना, उस विद्याको व्यवहारमें लाना और इस विद्यासे सैनिकीय रचना करके अपने राष्ट्रको अधिक बलशाली बनाना इस विषयकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं गया। आज भी इस वेदकी विद्याकी खोज करके उसमें जो महत्त्वके विषय हैं, उनको व्यवहारमें लानेकी ओर किसीका ध्यान नहीं है !!

सेनामें सैनिकोंकी भरती

सेनामें सैनिकोंकी भरती करनेके समय आगे दिया मन्त्र विशेष बोध दे रहा है—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।

ऋ० १।१८।५

'जो सुन्दर दीखते हैं, विशाल शरीरके हैं, उत्तम शूर हैं और शत्रुका नाश करनेमें कुशल हैं' ऐसे पुरुषोंको सेनामें भरती करना योग्य है।

इस तरहके योग्य आदेश वेदमन्त्रोंमें हैं। ये सदा बोधप्रद हैं। 'इन्द्र और मरुत्' देवताओंके मन्त्र इस तरह हमें स्वराष्ट्रके संरक्षणके लिये करना चाहिये, इस बातके आदेश देते हैं। यह सब ज्ञान राज्यशासनके लिये सहायक नहीं है ऐसा कौन कह सकता है ? वास्तवमें यह ऋषिप्रणीत ज्ञान अत्यंत प्राचीन होनेपर भी आजके व्यवहारके लिये अत्यंत उपयोगी है।

आरोग्य और बलवर्धन

अश्विनौ देवताओंके मन्त्र रोगोंकी चिकित्सा, शल्यतंत्र, दीर्घायु प्राप्ति आदि विषयोंका ज्ञान देते हैं। राष्ट्रकी आयु

बढनी चाहिये, राष्ट्रमें रोगोंका प्रादुर्भाव नहीं होना चाहिये यह सब ज्ञान अश्विनौ देवताके मन्त्र दे रहे हैं। वृद्धोंको तरुण बनाना, टूटी हुई टांगके स्थानमें लोहेकी टांग लगाकर उस मनुष्यको चलने, घूमने योग्य बनाना, अन्धेको दृष्टी देना, दूध न देनेवाली गौको दुधारू बनाना, दुर्बलको हृष्टपुष्ट बनाना, परम दुर्बलको पुनः तरुण और प्रजोत्पादनमें समर्थ बनाना। इन सब कार्योंका उल्लेख अश्विनौ देवताके मन्त्रोंमें हम देख सकते हैं। आरोग्यमन्त्रीका यह कार्यालय दीखता है। राष्ट्रके संरक्षणके कार्यमें आरोग्य संरक्षणके कार्यका विशेष महत्त्व है।

आरोग्यपथकका कार्य

वेदमन्त्रोंसे ऐसा दीखता है कि एक तुग्र नामक राजा था। उसका पुत्र भुज्यु था। वह अपनी सेना लेकर परदेशमें युद्ध करनेके लिये गया था। वहां उसका पराभव हुआ और उसकी सेना वहां समुद्रमें डूबने और मरने लगी। इसकी खबर अश्विनौ देवताओंको मिली। इन्होंने अपने शुश्रूषापथकोंको तत्काल तैयार किया और विमानोंसे उनको वहां भेजा और मरनेवाले घायल सैनिकोंको विमानमें लेकर अपने राज्यमें लाकर रखा–

> तुग्रो ह भुज्युं अश्विनोदमेघे रयिं न कश्चित् ममृवां अवाहाः। तमूहथुः नौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः। ऋ० १।११६।३

'तुग्र राजाने अपने पुत्र भुज्युको समुद्रके पार विजय प्राप्त करनेके लिये भेजा। पर जैसा कोई मरनेवाला अपने धनकी आशा छोड देता है उस तरह उसकी अवस्था हो गयी। अर्थात् वहां भुज्युका पराभव हुआ। पश्चात् अश्विदेवोंने अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले वायुयानोंमेंसे उन वीर सैनिकोंको वापस घर लाकर पहुंचा दिया।' तथा–

> तिस्रः क्षपः त्रिरहातिव्रजद्भिः नासत्या भुज्युं ऊहथुः पतंगैः। समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः॥
>
> ऋ० १।११६।४

'समुद्रके पार रेतीके स्थानसे भी परे गये हुए भुज्युको सेनाके साथ तीन दिन और तीन रात्रीतक सतत उडनेवाले पक्षियोंके समान आकारवाले विमानोंसे अश्विदेवोंने वापस लाकर उसके घर पहुंचा दिया।'

राष्ट्रके आरोग्यमंत्रीके वैमानिक आरोग्यपथकका यह कार्य है। ऐसे अनेक कार्य देवराष्ट्रके तथा आर्यराष्ट्रके रक्षणार्थ अश्विनीकुमार करते थे। यह हम वेदमन्त्रोंमें देखते हैं। यह कार्य राष्ट्रशासकोंका नहीं है, ऐसा कौन किस तरह कह सकते हैं?

नरमेधकी मूल कल्पना

अब हम एक महत्वपूर्ण विषयका विचार करना चाहते हैं। 'नरमेध' का प्रकरण यजुर्वेदमें है। इस नरमेधमें १८४ देवताओंके उद्देश्यसे १८४ बलि दिये जाने चाहिये ऐसा बहुत लोग मानते हैं। इस अध्यायका बलिपरक ही अर्थ करनेका संप्रदाय बहुत दिनोंसे प्रचलित है। शतपथ ब्राह्मणमें स्पष्ट कहा है कि– "यदि मनुष्यका बलि दिया गया तो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको खाने लगेगा, इसलिये इस नरमेधमें मनुष्यका बलि नहीं करना चाहिये।" ऐसा स्पष्ट और असंदिग्ध रीतिसे कहा है, तथापि आजके विद्वान ऐसा मानते हैं कि नरमेधमें नरबलि दिया जाता था। पर नरमेधके जो दो अध्याय यजुर्वेद वाजसनेयी संहितामें और काण्व संहितामें हैं, उनका ध्यानपूर्वक और मननपूर्वक अध्ययन करनेकी ओर किसीका ध्यान नहीं जाता यह सचमुच अत्यंत ही आश्चर्य है!

पुरुष सूक्तका एक अध्याय है और दूसरे अध्यायमें बलियोंकी नामावली लिखी है। पुरुष सूक्तमें तो बलि देनेका नामतक नहीं है। अब इस बलिनामावलीके अध्यायमें क्या है सो हम कुछ बलियोंके वचन देकर उनका विचार करेंगे और देखेंगे कि इन वचनोंमें क्या कहा है। सभी वचनोंका यहां विचार नहीं करेंगे, नमूनेके लिये थोडेसे बलियोंके वचन यहां उद्धृत करते हैं और उन वचनोंके मननसे क्या सिद्ध होता है यह हम देखते हैं–

१ ब्रह्मणे ब्राह्मणं– ब्रह्मदेवताके लिये ब्राह्मण है। क्या यहां ब्रह्मदेवताकी प्रीतिके लिये ब्राह्मणका बलि दिया जावे, अथवा ज्ञानका प्रचार करनेके लिये ज्ञानी पुरुषको नियुक्त किया जावे? अथवा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञानी पुरुषको प्राप्त करें किंवा ज्ञानीके पास जावें? कौनसा अर्थ योग्य है। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत' यहां 'आलभेत' यह क्रियापद है। इसके दो अर्थ है 'प्राप्त करना' और 'बलि देना अर्थात् वध करके देवताको समर्पण करना।'

कौनसा भाव यहां लेना चाहिये। ब्राह्मणके वधसे ब्रह्म-देवता संतुष्ट होगी अथवा ब्राह्मणकी सुरक्षासे ब्रह्मदेवता आनन्दित होगी ?

ब्रह्मदेवता ज्ञानकी देवता है, उस देवतामें निज ज्ञान है। जो ज्ञानी देवता है वह ज्ञानीके वधसे संतुष्ट होगी ऐसा मानना भी असंभवनीय है। ज्ञानप्रचारसे उसको आनन्द होगा और ज्ञानीकी सुरक्षासे ही वह प्रसन्न हो सकेगी यह तो निःसन्देह है। इसलिये 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत' का अर्थ 'ब्रह्मदेवताकी प्रसन्नताके लिये ब्राह्म-णको-ज्ञानीको-प्राप्त करो' ज्ञानीको ज्ञान प्रचार करनेके लिये नियुक्त करो यह अर्थ सयुक्तिक दीखता है।

ब्रह्मदेवता ब्रह्मज्ञानीके वधसे सन्तुष्ट होगी ऐसा किस तरह माना जा सकता है ? ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञानके प्रचारके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करे यह योग्य है, पर इसमें भी ब्रह्मज्ञानीका वध नहीं है, परन्तु जीवनसमर्पण है। इस विचारसे स्पष्ट होगा कि आजकल इस वचनका जो भाव समझा जाता है वह अशुद्ध है। तथा जो शुद्ध भाव है वह उत्तम है। इसका निर्णय हम एक ही वचनसे न करते हुए और भी वचन यहां लें और उनके अर्थ कैसे बनते हैं इसका मनन करें और उस मननका परिणाम क्या होता है वह देखें। अब दूसरा वचन देखिये-

२ **क्षत्राय राजन्यं**- क्षत्र देवताके लिये क्षत्रियका बलि दिया जाय वा (क्षत्राय-क्षत्+त्राय) दुःखोंसे संर-रण करनेके लिये, इस शत्रुसे अपने राष्ट्रका रक्षण करनेके कार्यके लिये क्षत्रियको प्राप्त करें, या नियुक्त करें अथवा लगा दें। संरक्षणके कार्य करनेके लिये क्षत्रियको नियुक्त करें, अथवा संरक्षणके कार्यके लिये क्षत्रियको समर्पित करें अर्थात् क्षत्रियको ही संरक्षणका कार्य सौंप दें। राष्ट्रके क्षत्रिय राष्ट्रके संरक्षणके लिये समर्पित हों, राष्ट्रसंरक्षणके कार्यमें राष्ट्रके सब क्षत्रिय अपना जीवित सर्वस्व अर्पण करें। इस तरहका अर्पण यहां है, पर जैसा आज समझा जाता है वैसा यहां नहीं है।

राष्ट्रसंरक्षणके कार्य करनेके समय युद्ध करना पडे तो उस युद्धमें क्षत्रियोंका वध भी हो तो कोई आपत्ति नहीं। पर क्षात्रदेवताके लिये यज्ञमें क्षत्रियका बलि देना यह कल्पना भी असह्य है।

३ **धर्माय सभाचरं**- धर्मके लिये सभासदका, सभामें जानेवाले सदस्यका बलि दिया जाय ? अथवा विधानके नियम जाननेके लिये राष्ट्रसभाके सभासदको प्राप्त करें। राष्ट्रके विधानमें कौनसे नियम हैं, उनका आशय क्या है इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये राष्ट्रकी विधानसभाके सदस्यके पास जाना और उससे उस सम्बन्धका ज्ञान पूछना योग्य है। पर धर्मकी प्रसन्नताके लिये सभासदका बलि देना यह अज्ञानकी परमसीमा है। जहां इस तरह सभासदोंका बलि दिया जाय वहां राष्ट्रकार्यकी सभामें कौन जाय और धर्मसभा भी किस तरह बने ? वास्तवमें यह ठीक है कि धर्मके निर्णय करनेके लिये धर्मसभाके सदस्य आत्मसमर्पण करें, निर्णय करनेके कार्यको तत्पर-तासे करें, अपना मन इधर उधर होने न दें। अपना जीवन लगाकर सभाका कार्य उत्तमसे उत्तम जितना हो सकता है उतना करें।

४ **पवित्राय भिषजं**- पवित्र नामक देवताके लिये वैद्यका बलि दिया जाय अथवा पवित्रता-व्यक्तिमें तथा राष्ट्रमें करनेके लिये- वैद्य तत्परतासे लगे। व्यक्ति और राष्ट्रमें पवित्रता करनेके कार्यमें वैद्य अपने आपको लगा देवे, अपना जीवन ही इस पवित्रता करनेके कार्यमें समर्पित करे। पर आज ऐसा समझा जाता है कि पवित्रताके लिये वैद्यका बलि दिया जाय !

५ **संधये जारं**— संधिदेवताके लिये जारका बलि दिया जावे अथवा दो युध्यमान पक्षोंमें स्थायी सन्धि करनेके लिये वृद्ध मनुष्यकी नियुक्ति करें। यह वृद्ध मनुष्य अपने प्रदीर्घ अनुभवसे दोनों युध्यमान पक्षोंमें ऐसी स्थायी सन्धि करेगा कि इससे विपरीत भावना ही पुनः उत्पन्न न होगी। सन्धि करनेके लिये वृद्धको नियुक्त करना यह उत्तम व्यवहारकी सूचना है। यदि यहां जारका बलि माना जाय तो समाजमें जार चाहिये, समाजमें जार न रहा तो नरमेध ही नहीं होगा, ऐसी आपत्ति उत्पन्न होगी। जिस समाजमें जार नहीं होगा, वह समाज नरमेध कर ही नहीं सकेगा। ऐसी आपत्ति आती है इसलिये प्रचलित समझा जानेवाला अर्थ ठीक नहीं है। जारका बलि मिलनेसे सन्धिदेवता किस तरह सन्तुष्ट होगी, यह भी समझमें आना कठिन है ?

६ **पुष्टयै गोपालं, वीर्याय अविपालं, तेजसे अजपालं।**

पुष्टि, वीर्य और तेजनामक देवताओंके लिये गोरक्षक, मेंढीका रक्षक और बकरीका रक्षक जो होगा, उनके बलि देने, या अपने शरीरको पुष्ट करनेके लिये गोरक्षकको प्राप्त करना और उससे गौका दूध पीना और शरीरको हृष्टपुष्ट करना, तथा वीर्य बढानेके लिये मेंढियोंके रक्षकके पास जाकर उनका दूध पीना तथा तेजस्विता बढानेके लिये बकरीके रक्षकके पास जाना और बकरीका दूध पीना। यहां गोरक्षकका बलि देना इष्ट है अथवा गोरक्षकको प्राप्त करना इष्ट है इसका विचार करना चाहिये। इसी तरह बकरी और मेंढीके पालकका बलि देना योग्य है अथवा इनके पालकोंके पास जाना इष्ट है, इसका विचार करना चाहिये।

७ वनाय वनपं– वनदेवताके लिये वनके पालकका बलि देना या वनके संरक्षण करनेके लिये वनरक्षककी नियुक्ति करना? यहां यदि ऐसा भाव समझा जाय कि वनके संरक्षणके लिये वनका रक्षणकर्ता अपना सर्वस्व अर्पण करे तो वह अर्थ योग्य हो सकता है। पर वनदेवता रक्षणकर्ताके बलिसे प्रसन्न होगी ऐसा मानना असंभव है, पर इस समय श्रद्धालु लोग ऐसा ही समझ रहे हैं यह सचमुच आश्चर्यकी बात है।

८ योगाय योक्तारं— योगदेवताकी सन्तुष्टिके लिये योग जाननेवाले अथवा योग करनेवालेका बलि देना योग्य है अथवा योगसाधन सीखना हो तो योगविद्या जाननेवालेको प्राप्त करना योग्य है इसका विचार लोग करें। (योगाय) जोडनेके कार्य करनेके लिये (योक्तारं) अच्छी तरह जोडनेवालेको नियुक्त करना चाहिये।

९ क्षेमाय मोक्तारं– क्षेमदेवताके लिये मुक्त करनेवालेका बलि देना चाहिये, या कल्याण प्राप्त करनेके लिये दुःखसे मुक्त करनेवालेको प्राप्त करना चाहिये।

१० शुभे वपं– शुभनामक देवताके लिये नायीका बलि देना योग्य है, अथवा मुखकी शोभा बढानेके लिये नायीके पास जाकर हजामत करवाना योग्य है। नायीके पास जाकर दाढी करवानेसे मुख सुंदर दीखता है। आजकल नायीके पास लोग न जाते हुए स्वयं ही अपनी हजामत करते हैं। इसलिये इस समय वपनकर्ताके पास जानेकी आवश्यकता रही नहीं है। इस वचनका अर्थ कौनसा युक्तियुक्त है इसका विचार करके देखनेसे पता लगता है कि इस समय परंपरासे जो अर्थ माना जाता है वह युक्तियुक्त नहीं है।

११ रूपाय मणिकारं, वर्णाय हिरण्यकारं—

रूप और वर्ण देवताओंकी संतुष्टिके लिये सुनार और जेवर बनानेवालेका बली देना योग्य है अथवा अपनी सुंदरता बढानेके लिये सुनार तथा जेवर बनानेवालेको प्राप्त करना योग्य है? जेवर बनानेवालेसे जेवर लेकर धारण करनेसे शरीरका सौंदर्य बढता है। पर इनका बलि देनेसे किसका किस तरह लाभ हो सकता है?

१२ मायायै कर्मारं– कुशलताकी देवता माया है, इस मायाको प्रसन्न करनेके लिये कुशल कारीगरका बलि देना योग्य है अथवा कौशल्यके कार्य करनेके लिये उत्तम कारीगरके पास जाना योग्य है?

१३ अरण्याय दावपं, पर्वतेभ्यः किं पुरुषं, सानुभ्यो जम्भकं, गुहाभ्यः किरातं, नदीभ्यः पुञ्जिष्ठं, सरोभ्यो धैवतं, तीर्थेभ्य आन्दं, विषमेभ्यो मैनालं।

अरण्य, पर्वत, पहाडोंकी उतराई, गुहा, नदी, तालाव, तीर्थ अर्थात् नदीमेंसे उतरकर पार हो जानेके स्थान, दुर्गम स्थान आदि स्थानोंके संरक्षणके लिये किरात, धैवत आदिकोंको नियुक्त करना यह वास्तविक अर्थ दीखता है, परन्तु इनका अर्थ इन देवताओंके लिये किरातादिकोंका बलि देना चाहिये ऐसा समझा जाता है यह आश्चर्यकी बात है!

१४ तुलायै वणिजं= तोलनेकी तागडी रूपदेवताके लिये बनियेका बलि देना चाहिये, या तोलनेके लिये बनिया तागडी बर्ते अथवा तोलनेके कार्यके लिये उत्तम वणिकको नियुक्त करना? कौनसा अर्थ युक्तिसे सयुक्तिक प्रतीत होता है?

१५ ईरायै कीनाशं= अन्नदेवताके लिये किसानका बलि देना अथवा अन्नके लिये किसानको प्राप्त करना? अथवा अन्न उत्पन्न करनेके लिये किसानको नियुक्त करना?

१६ जवाय अश्वपं= वेगदेवताके लिये घोडेका पालन करनेवालेका बलि देना अथवा वेगसे कोई कार्य करनेके लिये घुडसवारको नियुक्त करना?

१७ शरव्यायै इषुकारं, हेत्यै धनुष्कारं, कर्मणे ज्याकारं—

शस्त्रोंके लिये धनुष्य, बाण और धनुष्यकी डोरी आदि करनेवालोंके बलि देने चाहिये कि इन कारीगरोंको प्राप्त करना चाहिये और उनसे ये शस्त्र लेने चाहिये?

१८ भूत्यै जागरणं– ऐश्वर्यके लिये जागनेवालेका बलि देना चाहिये अथवा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये जागते हुए रक्षणका कार्य करनेवालेको नियुक्त करना चाहिये ?

१९ नृत्ताय वीणावादं, पाणिघ्नं, तुणवध्मं– नृत्यके लिये वीणा बजानेवाला, ताल धरनेवाला तथा तबला बजानेवाला जो होता है उसका बलि देना चाहिये अथवा नृत्यके समय इनको बुलाना चाहिये ?

२० महसे गणकं– महत्त्व प्राप्त करनेके लिये गणित-विद्या जाननेवालेका बलि देना योग्य है अथवा हिसाब, किताब ठीक रखनेके लिये गणित जाननेवालेको नियुक्त करना चाहिये ?

२१ यमाय यमसूं— नियम करनेके लिये नियम करनेमें जो प्रवीण है उसको नियुक्त करो। यम देवताके लिये नियमन करनेवालेका बलि देना अयुक्त है।

२२ वपुषे मानस्कृतं— शरीरके लिये प्रमाणबद्ध शरीरकी सुस्थिति करनेवालेको नियुक्त करो। शरीर सुडौल तथा प्रमाणबद्ध होना चाहिये, इसलिये जो शरीरको सुप्रमाणबद्ध कर सकता है, व्यायाम योगादि शिक्षा द्वारा शरीरको सुडौल बना सकता है उसको प्राप्त करो और उससे शिक्षा प्राप्त करके अपने शरीरको प्रमाणबद्ध हृष्टपुष्ट करो। शरीरको प्रमाणबद्ध करनेवालेका बलि देनेसे किसका हित हो सकेगा ?

२३ बलाय अनुचरं— बल बढानेके लिये अनुयायियोंको प्राप्त करो। अनुयायियोंसे, अनुकूल आचार व्यवहार करनेवालोंसे बल बढता है। अनुचरोंका बलि देनेसे क्या बनेगा ? अनुचर लाक्षणिक अर्थसे अपने जीवनका बलि अर्पण करते ही हैं। इस अर्थसे जो बलि है वह होगा ही। परन्तु देवताके उद्देश्यसे वध करनेका अर्थ सुसंगत नहीं हो सकता, यही यहां बताना है।

२४ पिशाचेभ्यो वि-दल-कारीं— पिशाचोंके लिये विशेष प्रकारकी दलकी रचना करनेवालेको नियुक्त करो। 'पिशाच' रक्त पीनेवाले क्रूरकर्मा दुष्ट लोगोंको कहते हैं (पिशितं रक्तं आचामति)। रुधिरप्रिय लोगोंके उपद्रवका शासन करनेके लिये विशेष प्रकारके सेनाविभागोंकी विशेष रचना करनेवाले अधिकारीको नियुक्त करो। वे इन क्रूर लोगोंको दूर करेंगे और समाजको सुरक्षित रखेंगे।

२५ यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीं— यातना देनेवाले दुष्टोंके दूर करनेके लिये नोकदार शस्त्र धारण करनेवाली सेनाको नियुक्त करो। चारों ओर कांटे जैसे कील होते हैं ऐसे कांटोंवाले शस्त्र धारण करनेवाले सैनिक इन दुष्ट डाकुओंको दूर करें। इस कार्यके लिये ऐसे शस्त्रवाले लोग रहें।

२६ अवऋत्यै वधाय उपमन्थितारम्— बारंबार हमला करके कष्ट देनेवाले दुष्टोंका वध करनेके लिये शत्रुका मन्थन करनेवाले वीरको नियुक्त करो। वह उनका मन्थन करेगा और नाश करेगा।

२७ द्वार्भ्यः स्त्रामं, गेहाय उपपतिं, भद्राय गृहपं– द्वारोंकी सुरक्षा करनेके लिये, घरकी रक्षा करनेके लिये तथा सबका कल्याण करनेके लिये गृहरक्षकको नियुक्त करो। गृहादिकी सुरक्षाके लिये रक्षक रखना योग्य है।

२८ सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम्— सब लोगोंके हितके लिये वृक्षादिकोंका उपसिंचन करनेवालेको नियुक्त करो। इससे वृक्षादि बढेंगे और फल फूल आदिकी वृद्धि होकर सब मानवोंका कल्याण होगा।

२९ श्रेयसे वित्तधं— कल्याणके लिये धनका धारण करनेवालेको नियुक्त करो। धनकोशका रक्षक नियुक्त करो जिससे सबका कल्याण होगा।

३० हसाय कारीं— हास्य आनन्द बढानेके लिये कारीगरोंको नियुक्त करो। कारीगर करीगरीके कार्य करके लोगोंका आनंद बढा सकते हैं।

३१ प्रियाय प्रियवादिनं— हितसाधन करनेके लिये प्रिय भाषण करनेवालेको नियुक्त करो। वह प्रिय भाषण करके शत्रुको भी मित्र बना देगा जिससे हित होगा।

इन मंत्रोंका स्पष्ट अर्थ निःसंदेह राज्यव्यवस्थाके प्रबंधका है। राज्यशासन चलानेके लिये ये नाना अधिकार क्षेत्रोंके ये नाना अधिकारी हैं। इनको उन देवताओंके उद्देश्यसे बलि समझना बडे प्रमादका विषय है।

बलिकी प्रथा

यहां कई कहेंगे कि ऐसे बलि देनेकी प्रथा कई देशों और कई जातियोंमें थी, इसलिये इस प्रथाके आधारसे ये बलि ही हैं। हम कई देशोंमें ऐसी प्रथा थी यह मानते

हैं। पर ऐसी प्रथा कई देशोंमें थी इस कारण वेद-मन्त्रोंका अर्थ वैसा करना चाहिये यह हेतु ठीक नहीं है। वेदमन्त्र बडे प्राचीन हैं और ये प्रथाएं अर्वाचीन हैं। हमारे ही देशमें किसी मन्त्रका विनियोग कर्मकांडीयोंने मन माना कैसा भी किया है, इससे हम उस मन्त्रका अर्थ बिगाडने लगे तो अर्थका अनर्थ होनेमें देरी नहीं लगेगी।

'उद्बुध्यस्व' इस मन्त्रका उपयोग 'बुध' देवताकी पूजाके लिये, 'शमग्नि' इस मन्त्रका उपयोग 'शनि' देवताकी पूजाके लिये करते हैं, इसलिये ये मन्त्र बुध और शनि देवताके हैं ऐसा मानना अयुक्त है। ऐसे भयंकर विपरीत उपयोग कर्मकांडीयोंने किये हैं यह सत्य है, परन्तु इन प्रमाणोंको मानकर वेदमन्त्रोंके अर्थ बदलना किसीको भी उचित नहीं है।

मन्त्रोंका सरल अर्थ करनेके साधन भाषा, कोश, व्याकरण, निरुक्त, अलंकार आदि हैं। इनसे अर्थका ज्ञान ठीक तरह हो सकता है और अर्थनिश्चय करनेके समय पूर्वापर सम्बन्ध भी देखना योग्य है। इतने साधनोंसे मन्त्रोंके अर्थ ठीक तरह हो सकते हैं। यह कोई कठिन बात नहीं है। इस प्रकार अर्थ होनेके पश्चात् उसका विनियोग देखना। वह अनुकूल हुआ तो ठीक है, पर यदि प्रतिकूल हुआ तो उस अर्थहीन विनियोगको दूर फेंकना और सरल होनेवाले अर्थका ग्रहण करना योग्य है।

कर्मकांडी लोगोंने जो विनियोग किये हैं उनमें सेंकडा ९० विनियोग अशुद्ध हैं। मन्त्रके अर्थका और उसके विनियोगका वास्तविक दृष्टीसे कोई सम्बन्ध ही रहा नहीं है। कर्मके विधि पहले बन गये। पश्चात् मन्त्र उन कर्मोंमें बोलने चाहिये ऐसा आग्रह शुरू हुआ। इसलिये किसी तरह मन्त्रोंको घसीटकर कर्ममें लगाया गया है। इसलिये किसी विनियोगसे हम मन्त्रके अर्थका निर्णय नहीं कर सकते।

राज्यके अधिकारी

अस्तु। इस नरमेध प्रकरणमें १८४ बलि पृथक् पृथक् देवताओंके उद्देश्यसे लिखे हैं। याजकोंकी दृष्टिसे ये बलि ही हैं। परन्तु संशोधककी दृष्टिसे ये बलि हैं ऐसा दीखता नहीं है, परन्तु यह राज्यशासनमें आवश्यक अधिकार विभागका कार्य करनेवाले नाना अधिकारियोंकी यह नामावली है ऐसा स्पष्ट दीखता है। विभिन्न संरक्षण विभागोंपर विभिन्न जातिके कार्यकर्ताजनोंकी नियुक्ति किस तरह करना योग्य है, यह इस नामावलीमें स्पष्ट रीतिसे दिखाई देता है। आज ही हम १८४ अधिकारियोंका निर्णय नहीं कर सकते यह बात भिन्न है, क्योंकि परिभाषा अतिप्राचीन हुई है और कई अधिकारस्थानोंके अर्थ ठीक तरह जानना आज कठिनसा हुआ है। तथापि बहुतसे संज्ञाओंके अर्थ स्पष्ट समझमें आते हैं, इसलिये इनसे अन्योंका भी अर्थ हम अनुमान करके जान सकते हैं और कई वचनोंका अर्थ ठीक तरह न भी समझमें आया, तो भी उससे उनका बलिपरक ही अर्थ करना चाहिये ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता।

उदाहरणके लिये देखिये कि 'वनाय वनपं' और 'अरण्याय दावपं' ये दो मन्त्र हैं। इनका अर्थ यह है कि 'वनका संरक्षण करनेके लिये एक वनरक्षक अधिकारी नियुक्त करना' तथा 'अरण्यका आगसे संरक्षण करनेके लिये एक अग्निरक्षक अधिकारी रखना।' इन मन्त्रोंके अर्थके विषयमें किसी तरह सन्देह होनेका कारण ही नहीं है।

इसी तरह 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं' और 'क्षत्राय राजन्यं' इनके भी अर्थ "ज्ञानका प्रचार करनेके लिये ज्ञानीको तथा संरक्षणके कार्यको करनेके लिये क्षत्रियको नियुक्त करना" इनके इन अर्थोंके सम्बन्धमें भी किसी तरह किसीको सन्देह उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है।

ये सब मन्त्रभाग यही बता रहे हैं कि नरमेधका यह सब प्रकरण मनुष्योंकी उन्नतिके लिये जो राज्यशासन चलाना है; उसमें किस कार्यके करनेके लिये किस तरहके अधिकारीकी नियुक्ति करना उचित है। अर्थात् यह सब नरमेध प्रकरण राज्यशासनका प्रकरण है। इसमें सन्देह नहीं है।

ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ तथा इनके आधारपर रचे भाष्य सबके सब हमारे विरोधमें खडे हैं यह हमें पता है। पर संशोधकको इसकी भीति नहीं है।

हमारा कहना इतना ही है कि वेदके मन्त्र क्या बोलते हैं यह प्रथम देखो, वह अर्थ सबसे प्रथम मनमें धारण करो और पश्चात् बाकीके साक्षीदारोंकी साक्षीका विचार करो। वेदमन्त्रोंका अधिकार सबके ऊपर है और श्रेष्ठ है। इस

कारण जो मन्त्र बोलते हैं वह प्रमाण मुख्य है और उसकी अपेक्षासे अन्य प्रमाण गौण हैं।

संशोधकोंको उचित है कि वे सबसे प्रथम मन्त्र क्या बोलते हैं वह देखें और पश्चात् उसके सम्बन्धमें दूसरे क्या बोलते हैं इसका विचार करें। आधुनिक मतमतान्तरोंके अनुसार वेदमंत्रोंको घसीटना कदापि योग्य नहीं है।

इससे पूर्व ' प्रजापतिकी दुहिता ' की कथामें हमने देखा है कि ब्राह्मणकारोंने यह दुहिता ' द्यु उषा अथवा वाणी ' है ऐसा कहा है, परन्तु वेदमन्त्रोंने कहा है कि यह प्रजापतिकी दुहिता ' ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति ' है। वेदमन्त्रोंमें दिया यह अर्थ है इसलिये अन्योंके दिये अर्थोंसे यह अर्थ अधिक प्रमाण मानने योग्य है। इस वेद-मन्त्रोक्त अर्थसे इस कथाका राज्यशासन विषयक भाव किस तरह होता है इसका विचार हमने अन्यत्र किया है। इससे सिद्ध हुआ है कि वेदमन्त्रसे किया अर्थ योग्य है और ब्राह्मणग्रन्थोक्त तथा पुराणोक्त अर्थ माननीय नहीं है। ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थोंके अर्थ तथा विनियोग कैसे भी हों और कर्मकाण्डमें इनका तात्पर्य कुछ भी निकाला हो, तो भी उन सबके द्वारा वेदमन्त्रोंका अर्थ बदलना कदापि योग्य नहीं है। क्योंकि वेदमन्त्रका अर्थ स्थायीभाव बताता है वैसा भाव अन्य ग्रन्थ नहीं बताते, अन्य ग्रन्थोंमें सामयिक भाव है।

संशोधकोंको इस विरोधकी पर्वाह नहीं करनी चाहिये। तथा सब प्रकारके पूर्वग्रह दूर करके अपना संशोधनका कार्य चलाना चाहिये।

वेदमंत्रोंका अर्थ

वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेकी विविध पद्धतियां बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, ऐतिहासिक, नैरुक्त, याज्ञिक ऐसे अनेक दृष्टि-कोण ये हैं। वेदमन्त्रोंका अर्थ करनेकी ये विभिन्न पद्ध-तियां निरुक्तकारके पूर्व समयसे प्रचलित हैं। इन अनेक पद्धतियोंमें याज्ञिक दृष्टिकोण भी एक है। पर यह याज्ञिक दृष्टिकोण अन्योंको मार नहीं सकता।

इन सब पद्धतियोंमेंसे याज्ञिक पद्धति इस समय वेदपर अपना आसन जमाकर बैठ गयी है और हमारे सामने संशोधकोंका विरोध करनेके लिये तैयार होकर रही है। यह याज्ञिक पद्धति कितनी भी प्रबल है ऐसा प्रतीत हुआ, तो भी, उसने किये मन्त्रोंके विनियोग मन्त्रके अर्थके अनुसार नहीं हैं, यह सिद्ध करनेके लिये बहुत परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जैसे नवग्रहोंके मन्त्र कर्मकाण्डमें लिये हैं, वस्तुतः वे नवग्रहोंके नहीं हैं, उसी तरह यज्ञकर्मके बहुतसे मन्त्र ऐसे ही बनावटी विनियोगके ही हैं देखिये—

१ **शर्मासि** (त्वं शर्म असि)= तुम्हारा स्वरूप कल्याण-रूप है, तू सुखस्वरूप है। इस अर्थका मन्त्र चमडा झिडक-नेके लिये बर्ता जाता है।

२ **स्वधिते मा एनं हिंसीः**- (हे शस्त्र ! तू इसकी हिंसा न कर) यह अहिंसा प्रतिपादक मन्त्र पशुवध करनेके लिये ही प्रयुक्त किया गया है। पशुका वध करके भी मन्त्र-सामर्थ्यसे हिंसा नहीं होती ऐसा भी और बोला जाता है।

३ (सविता देवः) **त्वा इषे** (प्रार्पयतु)= (सविता देव तुझे अन्न प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करे यह मन्त्र-शाखा काटनेके लिये बर्ता जाता है।

ऐसे सेकडों मन्त्र बताये जा सकते हैं कि जिनका विनि-योग अर्थके साथ कोई किसी तरहका सम्बन्ध नहीं रखता है। वस्तुतः वेदमन्त्रोंका अर्थ स्पष्ट होता है। वेदमन्त्रका मुख्य अर्थ आध्यात्मिक है, इसलिये कहा है-

सर्वे वेदा यत् पदं आमनन्ति। कठ० उ० २।१५

' सब वेद एक आत्माका वर्णन करते हैं। ' यह नितान्त सत्य है। यह ' आत्मा ' ही **ईश्वर** है और ' **ईश्वर** ' है इसका अर्थ ' **यह संपूर्ण विश्वका अध्यक्ष, संचालक, शासक अथवा राज्यसंचालक है।** ' अर्थात् इसके वर्णनके जो जो मन्त्र हैं, वे सबके सब मन्त्र परमश्रेष्ठ राज्यशासकका वर्णन करनेवाले हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि हम जिस पद्धतिको देख रहे हैं वह पद्धति ही वेद प्रतिपादित पद्धति है तथा वही वेदके मुख्य अर्थको बतानेवाली है।

वेदोक्त कर्म

' **वेदोक्त कर्म** ' का अर्थ ' **वेदमन्त्रेण उक्तं कर्म** ' वेदमन्त्रने प्रतिपादन किया कर्म ऐसा यदि है, तब तो यह निःसन्देह ही है कि पूर्वस्थानमें दिये मन्त्रों द्वारा बलि आदिका भाव प्रकट नहीं होता। मन्त्रोंके अर्थसे जो सिद्ध

हो रहा है वह कुछ और है और आज जो माना जाता है वह उससे विभिन्न ही है। वेदके मन्त्रोंके अर्थसे जो सिद्ध नहीं होता वह भाव वेदमन्त्रोंपर लगाना योग्य नहीं है। वेदके मन्त्रका जो ठीक अर्थ है उसे देखकर उसको व्यवहारमें किस तरह ढालना चाहिये इस बातका विचार संशोधक करें।

'वेदमन्त्रः उक्तः यस्मिन् तत् वेदोक्तं कर्म' वेदमन्त्र जिस कर्ममें बोले जाते हैं वह वेदोक्त कर्म है, ऐसा यदि पक्ष कोई स्वीकार करें तो सभी कर्म जो आज धर्मके नामपर चालू हैं वे वेदोक्त कर्म बनेंगे। पर यदि हम ऐसा मानेंगे तो हमारे इस माननेसे ही सिद्ध होता है कि वस्तुतः यह कर्म वेदमें उक्त नहीं है।

वेद एक ही था

अतिप्राचीन कालमें वेद प्रारम्भमें एक ही था। 'एक एव पुरा वेदः' (श्रीमद्भागवत) प्राचीन समयमें एक ही वेद था। अध्ययनकी तथा यज्ञकी सुविधाके लिये वेदव्यासने एक वेदके चार वेद बनाये। वे आज चालू हैं। व्यासजीके पूर्वकालमें कैसा क्रम था उसका पता किसीको नहीं है। आजका जो मन्त्रक्रम है वह विषयवार नहीं है। आजका क्रम प्रायः मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है, देखिये--

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, मेधातिथि ऋषि

सूक्त	१२	से	१५	प्रत्येक सूक्तमें	१२	मन्त्र
,,	१६	से	१९	,,	९	,,
,,	२०			,,	८	,,
,,	२१			,,	६	,,

सव्य ऋषि

सूक्त	५१	से	५२	प्रत्येक सूक्तमें	१५	मन्त्र
,,	५३	से	५४	,,	११	,,
,,	५५			,,	८	,,
,,	५६	से	५७	,,	६	,,

कुत्स ऋषि

सूक्त	९४	प्रत्येक सूक्तमें	१६	मन्त्र
,,	९५	,,	११	,,
,,	९६	,,	९	,,
,,	९७	,,	८	,,
,,	९८	,,	३	,,

यह ऋग्वेदकी व्यवस्था है। अथर्ववेदकी भी ऐसी ही व्यवस्था है देखिये-

काण्ड	१	में	४	मन्त्रोंके	बहुसंख्य सूक्त	हैं।
,,	२	में	५	,,	,,	,,
,,	३	,,	६	,,	,,	,,
,,	४	,,	७	,,	,,	,,
,,	५	,,	९	,,	,,	,,
,,	६	,,	३	,,	,,	,,

इसके नन्तर विभिन्न व्यवस्था दीखती है। यह मन्त्र संग्रह मन्त्रोंकी संख्याके अनुसार है, विषयके अनुसार नहीं है। इस कारण हमें आवश्यक है कि हम विषयवार मन्त्र संग्रह करके अर्थ जाननेका यत्न करें।

वैदिक राज्यशासन

हमारे प्रतिपादनका विषय "वैदिक राज्यशासन" है इसलिये वेद प्रतिपादित अन्यान्य विषयोंका विचार यहां हम नहीं करेंगे। जो साक्षात् राज्यशासन विषयके मन्त्र होंगे, अथवा जो परंपरया राज्यशासनके तत्त्वका प्रतिपादन करते होंगे, उनका ही विचार हम यहां कर सकते हैं।

यहां यज्ञके विषयमें कहनेका कारण ऐसा हुआ कि नरमेधके कई मन्त्र राज्यशासनके पृथक् पृथक् विभागोंके अधिकारियोंकी नियुक्तिके आदेश देनेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट होते हुए भी, उनका दूसरा ही उपयोग करनेकी परिपाठी बहुत वर्षोंसे प्रचलित हुई है। इसलिये इस पद्धतिके सत्य वा असत्य होनेके सम्बन्धमें कुछ प्रमाण जनताके सामने रखनेकी आवश्यकता उत्पन्न हुई। इस कारण यह विषय यहां किंचित् विस्तारसे विचार करनेके लिये लिया।

ईश्वरका वर्णन

जो वेदमन्त्र ईश्वरका वर्णन करते हैं और जो ब्रह्म, आत्मा या परमात्माके वर्णन करनेके लिये हैं, वे सीधे ही राज्यशासनके आदेश दे रहे हैं। विश्वशासकका वर्णन राष्ट्रशासकके लिये आदर्श है इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता।

इस वर्णनके अतिरिक्त इन्द्र, मरुत्, अग्नि, अश्विनौ आदि अनेक देवताओंके मन्त्र वेदोंमें हैं। वे भी विश्व साम्राज्यके अनेक अधिकारियोंके वर्णन करनेवाले हैं। इसलिये इन देवताओंके मन्त्र उस उस राज्यशासनके

विभागके अधिकारियोंके कर्तव्योंका बोध दे रहे हैं। अर्थात् ये अन्याय देवताओंके वर्णनके मन्त्र राज्यशासनके विविध अधिकारियोंके कर्तव्यका बोध कराते हैं।

जैसा देखिये– ' इन्द्र और मरुत् ' के मन्त्र सेनापति और सैनिकोंके कर्तव्य बताते हैं। ' अश्विनौ ' देवताके मन्त्र वैद्यकीय विभागके कर्तव्योंका बोध कराते हैं।

इस तरह विचार करनेसे वेदमन्त्रोंके वर्णनसे हमें संपूर्ण राज्यशासनकी पूर्ण कल्पना हो सकती है। ऋषियोंने जो देवताओंका वर्णन किया, वह उस उस स्थानके ' आदर्श शासनाधिकारी ' के वर्णनके रूपमें किया। ' अग्नि ' का वर्णन केवल ' आग ' का वर्णन नहीं है और ' इन्द्र ' का वर्णन ही केवल ' विद्युत् ' का वर्णन नहीं है। पर यह वर्णन परमेश्वरके विश्वके साम्राज्यके प्रमुख सेनापतिका वर्णन इन्द्रके वर्णनके रूपसे किया है और पुरोहितका वर्णन अग्निके वर्णनके रूपसे किया है। इस विषयकी देवताओंकी नामावलि राज्यशासनमें उनके स्थान बताकर इसी व्याख्यानमें इससे पूर्व की है। उस नामावलिको देखनेसे किस देवतासे राज्यशासनके किस अधिकारीके क्षेत्रका बोध होता है इसका ज्ञान हो सकता है और इस तरह संपूर्ण राज्यव्यवस्थाका बोध होना संभव है।

संशोधन करनेवालोंके सामने अनेक कठिनाइयाँ आनेवाली हैं। उनका सामना धैर्यसे करना चाहिये। संशोधकको आवश्यक है कि वह अपने मनसे सब प्रकारके पूर्वग्रह दूर करे और अपना संशोधन चलावे। पूर्वके विद्वानोंने यह कहा है वा वह कहा है, वह सब वे देखें और विचारें, पर आंखें बन्द करके उसका अनुसरण न करें। अपनी शुद्ध दृष्टिसे निरीक्षण करें और जो अपनी दृष्टिसे सत्य प्रतीत होता हो, वह ऐसा है, ऐसा संशोधक असंदिग्ध रीतिसे कहे।

राज्यशासनके सम्बन्धमें वैसा प्रयत्न यहां किया गया है।

प्रश्न

१ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श क्या था ?

२ जिनके सामने ईश्वर ही आदर्श हो, उनका आचरण कैसा होगा ?

३ आत्मा अकर्ता और प्रकृति सब कार्य करनेवाली है, इस अध्यात्म तत्त्वसे कौनसा राज्यपद्धति सिद्ध होती है।

४ ईश्वरके गुणोंका मनन करनेसे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रका कल्याण किस तरह हो सकेगा ?

५ मरुतोंकी सैन्यरचना किस तरह थी ?

६ नरमेधकी मूल कल्पना क्या थी और उसका भाव क्या बना ?

७ क्या नरमेधमें मनुष्यका बलि दिया जाता था ? शतपथ ब्राह्मणका इस विषयमें क्या कथन है ?

८ वेदमंत्रोंके अर्थ कितनी विभिन्न पद्धतियोंसे होते थे ?

९ कर्मोंमें जो मंत्रोंके विनियोग किये गये हैं क्या वे सबके सब अर्थानुकूल हैं ?

१० वेदोक्त कर्म किस कर्मको कह सकते हैं ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है ?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया ?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है ?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

ॐ

वैदिक व्याख्यान माला — २५ वाँ व्याख्यान

वैदिक समयकी
राज्यशासन व्यवस्था

कलकत्ता निवासी " श्रीमान् शेठ श्री निरंजनलालजी गुन्दका " की ओरसे प्राप्त २००) दो सौ रुपयोंसे इस व्याख्यानका मुद्रण हुआ है।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था

राजविहीन अवस्था

अब हम वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था किस प्रकारकी थी इसका विचार करेंगे। इस पृथिवीपर जिस समय मनुष्य प्रथम उत्पन्न हुए, उस समय किसी भी प्रकारकी शासनव्यवस्था नहीं थी। राजा नहीं था, राष्ट्राध्यक्ष नहीं था, ग्रामसभा नहीं थी, राष्ट्रसमिति नहीं थी अथवा किसी भी तरहका कोई शासन प्रबंध नहीं था। इसका वर्णन एक वेदका मंत्र कर रहा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायाः सर्वं अबिभेद्
इयमेवेदं भविष्यतीति। अथर्व० ८।१०।१

"प्रारंभमें 'वि+राड्' अर्थात् (वि+राज्) राजा नहीं ऐसी स्थिति थी। यह राजविहीन स्थिति देखकर सबको भय प्रतीत होने लगा। वे लोग यही समझने लगे कि, यही अवस्था सर्वकाल रहेगी तो कैसा होगा?"

'विराज्' का अर्थ (वि+राज्) राजा नहीं, शासक नहीं ऐसी स्थिति। ऐसी स्थिति इस पृथिवीपर प्रारंभमें थी। इस पृथ्वीपर लोग तो उत्पन्न हुए थे, पर उनके शासन करनेकी कोई व्यवस्था नहीं हुई थी। लोगोंके द्वारा शासनकर्ता बनाया नहीं गया था। यह स्थिति बहुत भयंकर थी। शासनकी स्थायी व्यवस्था न बननेतक लोग सुखसे और शान्तिसे रह सकेंगे ऐसा संभव नहीं था। इस कारण इस राजविहीन अवस्थाको देखकर लोगोंको भय प्रतीत हुआ। यह भयानक अराजकताकी परिस्थिति बहुत दिनतक न रहे और किसी तरह राष्ट्रके लिये उत्तम शासनकर्ता नियत हो जाय इसलिये लोग विचार करते रहे। राजा न रहा तो कोई बलवान् गुण्डा आजाय और दूसरोंको लूटे और उस गुण्डेको दण्ड न मिले ऐसी स्थिति अच्छी नहीं; अतः इस स्थितिको बदलना चाहिये।

वैराज्य शासन

ऐसी राजविहीन अवस्थामें सब लोग इकट्ठे होते हैं और सब मिलकर अपने संरक्षणकी तैयारी करते हैं। सब लोग इकट्ठे होते हैं और अपने अडचनोंको दूर करनेका उपाय सोचते हैं। सबका सब समाज इकट्ठा होकर अपना संरक्षण करनेका यत्न करने लगता है, इसीका नाम 'वैराज्य शासन' है। राजा बना नहीं है ऐसी अवस्थामें सबने मिलकर अपना शासनव्यवहार करना ही "(वि+राज्) वि-राज-शासन-पद्धति" है। अपने भारतमें इस समयमें भी वैराज्य परिस्थितिके समाज विद्यमान हैं। वे सरकारी कोर्टोंमें जाते नहीं, वे अपनी जातिके सब लोगोंको बुलाते हैं और अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करते हैं और उस निर्णयका वे पालन करते हैं। यह वैराज अवस्था कुछ समय रही और पश्चात्—

गृहपति संस्था

सा उदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्।
अथर्व० ८।१०।२

'वह राजविहीन स्थिति उत्क्रान्तिको प्राप्त हुई और वह गार्हपत्य अवस्थाको प्राप्त हुई।' अर्थात् यह मानवसमाज इस समय उन्नत होकर गार्हपत्य नामक द्वितीय स्थितिको पहुंच कर रहने लगा। इस समय लोग घर करके रहने लगे, इसलिये इस समय एक घर, घरका स्वामी, घरकी स्वामिनी आदि नाते हो गये। 'गृहिणी' घरका संचालन करने लगी। घरमें पुत्र, पुत्रियां, सेवक, सम्बन्धी ऐसा परिवार हुआ और स्वामीकी कल्पना यहां उत्पन्न हुई। यहां घरका ही राज्य शुरू हुआ। पालक और पालितकी पूर्ण कल्पना यहां उत्पन्न हुई। इस समय एक घरके परिवारमें झगडा न हो ऐसा उपदेश होने लगा—

घरमें झगडे न हो

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥
समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे
सह वो युनज्मि । सम्यञ्चो अग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥ अथर्व० ३।३०

' पिताके अनुकूल कार्य करनेवाला पुत्र हो । माताके साथ वह पुत्र उत्तम प्रसन्न मनके साथ बर्ताव करे । पतिके साथ पत्नी शान्तियुक्त भाषण करे । भाई भाईका द्वेष न करे । बहन बहनसे न झगडे । सब लोग एक प्रशस्त कार्यमें लगकर कल्याण करनेवाला भाषण आपसमें करें । सबका पानी पीनेका स्थान एक हो । सबने मिलकर एक स्थानमें बैठकर अन्नका सेवन करना चाहिये । सबने मिलकर एक कार्यमें दत्तचित्त होकर उसी कार्यको उत्तम रीतिसे सिद्ध करना चाहिये । तथा सबने मिलकर एक ही अग्निकी उपासना करनी चाहिये । '

इस तरह घरका स्वामीत्व एकके हाथमें आगया और घर तथा कुटुंब टिकना चाहिये, ऐसा सबको प्रतीत होने लगा । इससे पूर्व पशुके समान स्त्री-पुरुष पृथक् पृथक् रहते थे, अब इस अवस्थामें वे कुटुंब बनाकर कुटुंबमें रहना श्रेष्ठ है ऐसा मानने लगे ।

' अग्निं सपर्यत, आरा नाभिं इव अभितः '— जैसे रथचक्रके चारों ओर आरे लगे रहते हैं और मध्यमें चक्रकी नाभी रहती है उस तरह मध्यमें यज्ञकुण्डमें अग्नि रहे और कुटुंबके पारिवारिक जन उसके चारों ओर बैठें और हवनादि करें। इस तरहकी पारिवारिक एकताकी वृद्धि करनेवाली अग्निकी उपासना इस समय शुरू हुई । यह यज्ञ संस्थाका मूल है, यही आगे ' यज्ञसंस्था ' के रूपमें परिणत हुआ ।

यज्ञसंस्थाका प्रभाव

सा उदक्रामत् सा आहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति ॥ ५ ॥
अथर्व० ८।१०

' वह (वि-राज्) राजविहीन जनताकी स्थिति उत्क्रान्त हुई और यज्ञसंस्थामें परिणत हुई । देवताएं इस यज्ञमें आने लगी और यह यज्ञकर्ता देवोंको प्रिय होने लगा । '

नाना प्रकारके यज्ञ याग, क्रतु, सत्र वैसी ही नाना प्रकारकी इष्टियां होकर जनताकी बडी भारी संघटना होने लगी । पृथक् पृथक् कुटुंब थे, वे यज्ञके कारण एकत्रित होने लगे ।

यज्ञमें एक ओर यज्ञान्तर्गत हवनादि होता था और दूसरी ओर सभा आदि होती थी । इन सभाओंमें अपनी भविष्यकी उन्नतिका साधन किस तरह करना चाहिये इसका विचार होता था। इस कारण लोगोंको, इन यज्ञोंका अपनी उन्नतिके साथ घनिष्ठ संबंध है, इसका पता लगता था और इस कारण लोग यज्ञकी ओर आकर्षित होते थे । इस तरह इस यज्ञसंस्थाने जनताकी अच्छी संघटना की । यह यज्ञ-संस्था द्विजोंकी ही संस्था थी, प्रायः ब्राह्मण और विशेषतः वेदके ज्ञाता विद्वान् ही इस यज्ञमें कार्य करते थे । इसी कारण इसका नाम ' विप्र-राज्य ' करके प्रसिद्ध हुआ था। इससे पूर्व अनेक राज्यशासनोंके नाम दिये हैं, उनमें ' विप्र-राज्य ' यह एक नाम भी आगया है । यह ' विप्र-राज्य ' इस तरह यहां शुरू हुआ है ।

इस स्थानपर दिये मंत्रमें ' आहवनीये न्यक्रामत् ' ऐसा कहा है वह यज्ञका वाचक है । प्रारंभमें ये यज्ञ कौटुंबिक ही होते थे । पश्चात् ये राष्ट्रीय स्वरूपके बन गये । बीचमें अनेक प्रकारके स्थित्यन्तर हुए ही होंगे । इसके पश्चात् प्रचंड संघटना होकर राष्ट्रीय स्वरूपके यज्ञ होनेका समय आगया । इन यज्ञोंकी सभाओंमें नाना प्रकारकी राजकीय चर्चाएं होकर महत्त्वके प्रस्ताव भी होते थे । रावण राज्यको तोडकर आर्यराज्यकी प्रस्थापना करनेका प्रस्ताव दशरथने किये अश्वमेधमें ही ऋषियोंने किया था और वह सर्वानुमतिसे स्वीकृत भी हुआ था । इससे यज्ञमें होनेवाली सभाओंमें किस तरहके राज्यशासन विषयक विचार होते थे, इसकी कल्पना आ सकती है ।

प्रारंभमें ये यज्ञ छोटेसे ही होते थे यह सत्य है । पर इन कौटुंबिक यज्ञोंके पश्चात् पीछे पीछे बडे भारी राष्ट्रीय यज्ञ होने लगे थे । इस तरह यज्ञका क्षेत्र बढता गया । ऊपर दिये मंत्रमें ' देव इसके यज्ञमें आने लगे और यह यज्ञकर्ता

देवोंको प्रिय होने लगा ' ऐसा जो कहा है, यह यज्ञके क्षेत्र-की बडी वृद्धि हुई इसकी सूचना देता है।

ग्रामसभाकी स्थापना

कुटुंब संस्था बनकर यज्ञ होने लगे, पश्चात् यज्ञका क्षेत्र विशेष रूपसे बढने लगा और कुटुंबसे अधिक विस्तृत स्वरूपकी संघटना करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। तब ' ग्रामसभा ' की स्थापना यज्ञसे ही हुई—

सा उदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥
यन्ति अस्य सभां सभ्यो भवति ॥ ९ ॥
अथर्व० ८।१०

' वह विराज् शक्ति अधिक उन्नत हुई और वह ' ग्राम-सभा ' में परिणत हुई। इस सभामें जो जाते हैं उनको ' सभ्य ' कहते हैं। '

इस तरह ग्रामका राज्यशासन करनेके लिये ' ग्राम-सभा ' की स्थापना हुई। ग्रामके लोगोंके द्वारा चुने हुए ग्रामकी जनताके प्रतिनिधि इस सभामें आते थे और वे उस ग्रामका सब प्रकारके शासनका कार्य करते थे। गृहपति संस्थाकी अपेक्षासे इस ग्रामसभाका कार्य अधिक विस्तृत था। और यहां इस ग्रामसभा द्वारा ग्रामका राज्यशासन ही शुरू हुआ ऐसा यहां समझना योग्य है। ग्रामके लोगोंके झगडोंके निर्णय, ग्रामकी शिक्षा, ग्रामका आरोग्य, ग्रामका संरक्षण, ग्रामके धर्मकृत्य आदि सब कार्य इस ग्रामसभाके द्वारा ही अब होने लगे। ग्रामके लोग जैसे उन्नत होते जाते थे, उस रीतिसे ग्रामसभाके कार्य भी बढते ही रहते थे। पर जो जो कार्य ग्रामसभामें होते थे वे वे सब कार्य ग्रामसभाको ही करने पडते थे। ग्रामसभाने ये सब कार्य करने और ग्रामके लोगों-की संघटना करके उनकी एकताको सुस्थिर रखना और एकात्मताकी वृद्धि करना ये कार्य ग्रामसभाके थे। इस तरह ग्राम यह एक बडा कुटुंब ही बन गया।

प्रथम आरंभमें बिखरी जनता थी, कोई शासक नहीं था। उस शासकविहीन विराजक जनताकी शक्ति संघटित होकर उन्नत हुई, वह कुटुंब संस्थामें परिणत हुई। इस समय कौटुंबिक हवन होता था। इसीमेंसे यज्ञसंस्था उत्पन्न हुई। इससे ग्राम बना और ग्रामके नियंत्रणके लिये ग्राम-सभा नियत हुई और इस ग्रामसभा द्वारा ग्रामका शासन शुरू हुआ। सभा हुई तो अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मंत्री, उप-मन्त्री, कोशाध्यक्ष, सदस्य आदिकी आवश्यकता होनी ही है। इस कारण वे सभाके शासन चलानेवाले बने और यह एक शासकसंस्था ही नियत हुई। प्रथम जो जनता बिखरी हुई थी वह अब संघटित हुई और ग्रामकी संघटना निर्माण हुई।

अनेक ग्राम हुए। उन ग्रामोंकी ग्रामसभाएं हुईं और उनके द्वारा उन ग्रामोंका कार्य होने लगा।

जिस तरह व्यक्तियों और कुटुंबोंमें झगडे होते हैं, उसी तरह ग्रामग्राममें झगडे होना स्वाभाविक है। इसलिये अनेक ग्रामोंकी संघटना करके उनमें एकात्मताका भाव जाग्रत करनेकी अब आवश्यकता उत्पन्न हुई। इसी हेतुसे अनेक ग्रामोंकी एक ' नियामक समिति ' स्थापन करनेका विचार नेताओंमें उत्पन्न हुआ और समितिकी स्थापना हुई—

राष्ट्रसमिति और मंत्रीमंडल

सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥
यन्ति अस्य समितिं सामित्यो भवति ॥ ११ ॥
सा उदक्रामत् साऽऽमन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्ति अस्य आमंत्रणं आमन्त्रणीयो भवति ॥ १३ ॥
अथर्व० ८।१०

' वही जनताकी विराट् शक्ति उत्क्रान्त होने लगी और वह ' राष्ट्रसमिति ' में परिणत हुई। जो इस समितिके सदस्य होते हैं उनको ' सामित्य ' कहते हैं। वही जन-शक्ति और अधिक उन्नत हुई और ' आमंत्रण ' परिषद्में (मंत्रीमण्डलमें) परिणत हुई। जो इस मंत्रीमण्डलके सदस्य होते हैं उनको ' आमंत्रणीय ' अर्थात् ' मंत्री ' कहते हैं। '

यहां हमने देखा कि ग्रामसभाके पश्चात् ' राष्ट्रसमिति ' हुई और इसके पश्चात् ' मंत्रीमण्डल ' बना। यह उन्नति क्रमसे प्राप्त ही थी। जैसी जैसी संघटना होती गयी, जैसा कार्यक्षेत्र विस्तृत होता गया, वैसी इन सभाओंकी रचना हो गयी। प्रथम ग्रामसभा बनी तो वही ग्रामसभा रचनाकी बुद्धि राष्ट्रसमितिकी स्थापना करनेके लिये समर्थ हुई। छोटे राज्यमें ग्रामसभाके पश्चात् राष्ट्रसमिति कार्य कर सकती है, परंतु बडा राज्य होनेपर बीचमें एक दो सभाएं होना भी स्वाभाविक है। जिसको हम ' प्रान्तसमिति ' कह सकते हैं। इस तरह ग्रामसभा, प्रान्तसभा, राष्ट्रसमिति, मन्त्री-

मण्डल, राष्ट्रपति आदिकी योजना स्वयं ही बन जाना स्वाभाविक ही है।

(वैराज) राजविहीन अवस्थासे राष्ट्रपति अथवा 'प्रजापति' होनेतक प्रजाकी शक्ति संघटित हुई और केन्द्रित भी होती गयी। वह हमने मंत्रोंके मननसे बताया है।

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षां उपसेदुः अग्रे। ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ अथर्व०

'ऋषियोंने जनताका कल्याण करनेकी इच्छा की और अपने अतुलनीय प्रयत्नोंसे जो हलचल की उससे राष्ट्र बना, बल और ओज बना।' ऐसा जो कहा है वह कैसा बना वह यहां हमने बताया है। वि-राज् प्रारंभमें थी, पश्चात् गृहपति बना, तत्पश्चात् यज्ञसंस्था हुई, नंतर ग्रामसभा, प्रान्तसभा, राष्ट्रसमिति, मंत्रीमण्डल, राष्ट्रपति अथवा प्रजापति क्रमसे बने हैं। यह होनेतक आवश्यक समय लगा ही होगा। यह सब क्षणार्धमें हुआ ऐसा मानना कठिण ही है। जितना समय चाहिये उतना लगा ही होगा। पर यह सब अपने परिश्रमसे ऋषियोंने किया और उनके अथक परिश्रमसे राष्ट्रका शासनतंत्र योग्य रीतिसे खडा हुआ। इसके मीठे फल हमें आज दीखते हैं।

ग्राम हुए, उनके शासन करनेके लिये ग्रामसभाएं हुईं, अनेक ग्रामोंके प्रान्त बने, अतः प्रान्तोंका शासन करनेके लिये प्रान्तसमितियां बनी, अनेक प्रान्तोंका राष्ट्र बना, इस समय राष्ट्रका शासन करनेके लिये राष्ट्रसमिति बनी। पश्चात् मन्त्रीमण्डल बनाया गया। नाना प्रकारके छोटे और बडे अधिकारी नियत हुए। अधिकारीके स्थानके लिये सुयोग्य पुरुषकी नियुक्ति होने लगी। इस तरह उत्तम सुयोग्य अधिकारीकी पसंदगी करनेका समय आनेपर उस कार्यके लिये कुछ नियम होनेकी आवश्यकता है। इस विषयके नियम हम वेदमें देखते हैं। वे नियम ये हैं कि ये राष्ट्रके शासनाधिकारपर नियुक्त होनेवाले अधिकारी ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक उत्तम विद्वान् स्नातक होने चाहिये। इस विषयमें अब देखिये—

सब अधिकारी ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक स्नातक हुए विद्वान् ही हों

इस विषयमें ये वेदमंत्र देखनेयोग्य है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिः विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥
अथर्व० ११।५

"'आचार्य' अर्थात् शिक्षक और प्राध्यापक तथा शिक्षा विभागके अधिकारी ब्रह्मचर्य पालन करके स्नातक जो बने हैं वे ही हों। तथा 'प्रजापति' अर्थात् प्रजाके पालनके कार्यमें नियुक्त किये शासनाधिकारी भी ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक स्नातक बने हुए ही हों। इस तरहके संयमी ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक विद्याव्रत स्नातक बने हुए विद्वान् यदि प्रजापालनके कार्यके लिये नियुक्त किये गये तो ही वे (विराजति) अपने अधिकारके क्षेत्रमें अच्छी प्रकारसे शोभते हैं। वे अपना नियत कर्तव्य उत्तम रीतिसे करेंगे और उनसे वह कार्य निर्दोष रीतिसे हो सकेगा।

इस तरह बने हुए प्राध्यापकों और अधिकारियोंमें जो (वशी) अपने सब इंद्रियोंको अपने स्वाधीन रखकर अपना कार्य निर्दोष करनेवाला होगा वही (इन्द्रः अभवत्) राष्ट्रका अधिपति–राष्ट्राध्यक्ष होगा। ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रका उत्तम संरक्षण कर सकता है। आचार्य भी स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करता है और अपने पास अध्ययन करनेके लिये आनेवाले ब्रह्मचारी भी वैसे ही ब्रह्मचर्यका पालन करें ऐसी इच्छा वह करता है।

राष्ट्रकी शिक्षाके विभागमें ब्रह्मचर्यका पालन करके विद्वान बने हुए स्नातक ही नियुक्त किये जांय और राष्ट्रके शासनकार्यके लिये भी ब्रह्मचर्य पालन करके विद्वान तथा सुशील बने स्नातक ही नियुक्त किये जाय। इससे राज्यशासन निर्दोष होगा और प्रजाका सुख बढेगा।

राष्ट्रके शासनक्षेत्रमें किसी भी स्थानपर असंयमी अविद्वान कदापि नियुक्त न किया जावे। असंयमी मनुष्यके इन्द्रिय उसके स्वाधीन नहीं होते, इस कारण वह लोभ–मोहमें फंसता है और रिश्वतखोरी, कपट, ढोंग, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, काला बजार करता है और इस कारण ऐसे अधिकारीसे प्रजाको बडे कष्ट भोगने पडते हैं। इसलिये राष्ट्रशासनके किसी भी कार्यपर जो कार्य करनेवाला अधिकारी नियत किया जावे, वह ब्रह्मचर्य पालन करके स्नातक बना ही संयमी अधिकारी हो। असंयमी दुराचारी किसी भी परिस्थितिमें नियुक्त न किया जावे। इन मंत्रोंका

यह आदेश सब राज्यशासनोंके लिये हितकारी ही सिद्ध होगा। इसमें संदेह नहीं है।

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे पवित्र तथा संयमी बने पुरुष यदि राज्यशासनके अधिकारी बने तो वे अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे करेंगे जिससे प्रजाको सुख प्राप्त हो सकेगा। वैसा सुख असंयमी दुराचारी अधिकारी नियुक्त हुए तो कदापि होना संभव नहीं है।

ग्रामसभाके सभासद चुनना हो, राष्ट्रसमितिके सदस्य पसंद करना हो, राष्ट्रके शासनाधिकारी नियुक्त करना हो अथवा शिक्षाक्षेत्रमें प्राध्यापक नियत करना हो, सर्वत्र संयमी वशी इन्द्रियनिग्रही विद्वानोंकी ही नियुक्ति होनी चाहिये। यह कसौटी कितनी उत्तम है इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

स्वराज्यके अधिकारी तथा संसद्के सदस्य

' बहुपाय्य स्वराज्य ' के राष्ट्रीय संसदके सदस्योंके गुण ब्रह्मचर्यपालनके साथ साथ और भी होने चाहिये ऐसा बहुपाय्य स्वराज्यके मंत्रमें कहा है। (ईयचक्षसः) व्यापक दृष्टि जिनकी है, (मित्रः) जो मित्रवत् व्यवहार करनेवाले हैं और जो (सूरयः) ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, शास्त्रपर टीका लिखनेका जिनका अधिकार है, ऐसे राष्ट्रीय संसद्के सदस्य हों। ऐसा बहुपाय्य स्वराज्यके घोषणा मंत्रमें कहा है—

आ यद् वां ईयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

ऋ० ५।६६।६

' (ईयचक्षसा) विस्तृत दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले तथा ज्ञानी ऐसे सदस्य राष्ट्रकी संसद्में हों और वे मिलकर बहुतोंद्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे विस्तृत स्वराज्य शासनमें जनताकी उन्नतिके लिये शासन करनेका (आयतेमहि) प्रयत्न करें। '

ब्रह्मचर्यपालन जिन्होंने किया है जो सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं, जो बडे विद्वान हैं वे राष्ट्रीयसभाके सदस्य हों और राष्ट्रका शासन करें अथवा राष्ट्रके शासकोंका मार्गदर्शन करें। जो गुरुकुलोंमें १२ अथवा २४ वर्ष रहकर उत्तम विद्याध्ययन करके ज्ञानी बने हैं, संयमी तथा सद्व्यवहारी बने हैं, जिनकी दृष्टि व्यापक बनी हैं, जिनके अन्दरका विद्वेषका भाव दूर हो चुका है, वे सदस्य ही (बहुपाय्ये स्वराज्ये आयतेमहि) बहुपाय्य स्वराज्यका संचालन करनेके लिये योग्य हैं।

आज भी विश्वविद्यालयके पदवीधर ही इस कार्यके लिये पसंद किये जाते हैं। परन्तु आजके शिक्षाक्रममें ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, यमनियम पालन, आदिको स्थान ही नहीं है। इस समय शिक्षालयोंमें केवल साक्षरताकी ओर ही ध्यान दिया जाता है। इस कारण आजके पदवीधारी संयमी होंगे ही ऐसा कोई नियम नहीं है। पदवीधारी संयमी ही हों ऐसी हमारे राष्ट्रीय शिक्षाविभागकी अपेक्षा भी नहीं है। इस कारण असंयमी शासनाधिकारी राज्यशासन चलाते हैं। इसके जो दुष्परिणाम हैं वे प्रजाको भोगने ही पडते हैं। आज इसपर कोई उपाय अपने पास नहीं है। ऋषियोंने वैदिक शासनमें इसका उपाय देखा था। वह वेदका उपाय आज भी करके देखनेयोग्य है। हम अपने शिक्षणालयोंमें संयम तथा यमनियमका वायुमंडल तैयार करें और हमारे पदवीधर संयमशील हों ऐसा यत्न करें।

शिक्षाका ध्येय

प्राचीन गुरुकुलकी शिक्षापद्धतिमें स्नातकोंके सन्मुख तथा आचार्योंके सन्मुख इन्द्रियसंयम तथा मनोनिग्रहका ध्येय था। उस समय सहशिक्षण नहीं था। शृंगार करके अपना सौंदर्य बढानेके लिये प्रतिबंध था। सीधासादा रहनसहन करनेकी ओर ध्यान दिया जाता था। अमुक प्रकारके ग्रंथ ही पढे जांय और बुरे ग्रंथोंका पाठ न हो इस विषयमें बडी दक्षता ली जाती थी। अर्थात् संयम पालन हो इस विषयकी दक्षता अधिकसे अधिक की जाती थी। आजकी शिक्षणसंस्थाओंमें ऐसा परिशुद्ध वायुमंडल किसी भी स्थानमें नहीं है। इसलिये उत्तम स्वराज्यशासन चलानेके लिये जैसे मनःसंयमी कार्यकर्ता मिलने चाहिये वैसे इस समय मिलते नहीं हैं। इस हेतुसे आजकी शिक्षापद्धतिमें ऐसा सुधार करना चाहिये कि जिससे संयमी तथा मनोनिग्रही पुरुष अधिकसे अधिक निकल सकें। ऐसा करना अत्यंत आवश्यक है।

आयुकी मर्यादाकी ही योग्यता

आजके अपने राष्ट्रके संविधानके अनुसार जो मनुष्य २१ वर्षोंकी आयुका हुआ है, वह मताधिकारी तथा संसद्का

सदस्य होनेयोग्य है ऐसा माना गया है। यदि वह अपने अनुकूल बहुमती प्राप्त कर सकेगा तो वह मन्त्रीपदपर भी चढ सकता है। क्या यही आयुकी ही कसोटी पर्याप्त है? विद्या, सदाचार और मनःसंयमकी कसोटी होगी, तो कितना अच्छा होगा? यही सदाचारकी कसोटी ऋषिकालके स्वराज्यशासनमें थी। वह उत्तम थी ऐसा आज भी हम कह सकते हैं। आज भी वह अनुकरणीय है इसमें संदेह नहीं है। अपना आजका स्वराज्यशासन निर्दोष और सुखदायक करनेकी इच्छा है तो अपनेको आज संयमी तथा कार्यक्षम पुरुष स्वराज्यशासन चलानेके लिये मिलें ऐसा करना अत्यंत आवश्यक है।

संयमी कार्यक्षम शासकों द्वारा चलाया शासन ही उत्तम होगा

साम्राज्यशासन बहुत ही बुरा है ऐसा आज सब लोग मानने लगे हैं। एकतंत्री राज्यपद्धति बहुत ही बुरी है ऐसा भी आज माना जाता है। आजके शासनके अनुभवसे वह सत्य भी है। पर यदि राष्ट्रशासनके सब अधिकारके स्थानोंके लिये यमनियमोंका पालन करनेवाले, इन्द्रियोंका संयम करनेवाले, संयमशील वशी कार्यक्षम कर्तव्यदक्ष विद्वान अधिकारी मिल गये, तो साम्राज्य हो अथवा एकतंत्रीराज्य हो वह निःसन्देह प्रजाको कष्ट देनेवाला ही होगा ऐसा मानना अयोग्य है। हमारी आजकी कल्पना और ऋषियोंकी प्राचीन कल्पना इसमें ऐसा यह बडा अन्तर है। ऋषियोंने उस ऋषिकालमें ये शासनतन्त्र अत्यंत परिशुद्ध किये थे और उनकी पद्धति अन्तःशुद्धीपर आश्रित थी।

वैदिक समयके ऋषियोंने ग्रामसभा, प्रान्तसमिति, राष्ट्रपरिषद्, मन्त्रीमण्डल आदिके सदस्य तथा राज्यशासनके अधिकारी, शिक्षासंस्थामें अध्यापनका कार्य करनेवाले अध्यापक आदि सब संयमशील हों, उत्तम ज्ञानी हों और मित्रवत् आचरण करनेवाले हों ऐसा निश्चित किया था और वह वेदके वचनके अनुसार निश्चित किया था। इससे उनका राज्यशासन सबका सब परिशुद्ध हो गया था। इस कारण कोई राज्यशासन हो वह इस तरहकी परिशुद्धताके कारण प्रजाके कष्ट बढानेवाला होता नहीं था। यदि हम अपना राज्यशासन इस तरह संयमशील अधिकारियों द्वारा चला सकेंगे तो यह भी प्रजाका दुःख नहीं बढा सकेगा। इस कारण हमें आज ऐसा प्रयत्न करना योग्य है।

परन्तु आज यदि किसीने कहा कि ' राज्यशासनके अधिकारी संयमी होने चाहिये ' तथा ' विद्यापीठोंसे संयमशील पदवीधर ही बाहर आ जांय ' तो आज इस विधान करनेवालेका उपहास ही होगा। आजकी मनःप्रवृत्ति ऐसी है। ऋषिकालका ध्येय और आजका ध्येय इसमें ऐसा महदन्तर है।

सेवक और स्वयंसेवक

राष्ट्रशासनका कार्य करनेवाले मन्त्री, उपमंत्री, प्रान्ताधिकारी, सेनापति, सैनिक आदि अनेक अधिकारी होते हैं इनकी नियुक्ति राज्यशासन करनेवाले करते हैं।

प्रश्नोपनिषद्में प्राणोंके अधिकार बतानेके लिये यही अधिकारियोंको अधिकारस्थानपर रखनेका रूपक दिया है वह ऐसा है—

यथा सम्राडेव अधिकृतान् विनियुंक्ते,
एतान् ग्रामान्, एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्वेति,
एवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान्
पृथक् पृथगेव संनिधत्ते। प्रश्न उ० ३।४

जिस तरह सम्राट् अधिकारियोंकी नियुक्ति करनेके समय कहता है कि तू इन ग्रामोंपर और तू उन ग्रामोंपर शासनका कार्य कर और इस आज्ञानुसार वे अधिकारी अपने अपने नियत स्थानपर कार्य करने लगते हैं, उस तरह मुख्य प्राणकी आज्ञाके अनुसार अन्य प्राण शरीरके विभिन्न भागोंमें जाकर रहते और अपना अपना वहांका कार्य करने लगते हैं।'

यहां मुख्य प्राण सम्राट् और अन्य प्राण प्रान्तके अधिकारी हैं। सम्राट्का आदेश जैसा राज्यमें चलता है वैसा ही मुख्य प्राणका आदेश अन्य प्राणोंपर चलता है।

शरीरस्थ प्राणोंका वर्णन अध्यात्म वर्णन है, इसीके समान राष्ट्रके सम्राट्का वर्णन है। इस तरह अध्यात्मके वर्णनके साथ राष्ट्रव्यवहारका अथवा मानवी व्यवहारका सादृश्य है।

वाजसनेयी यजुर्वेदमें ' राजा मे प्राणः ' (वा० य० २०।५) मुख्य प्राण राजा है ऐसा कहा है। यह प्राणरूप राजा इतर गौण प्राणोंको शरीरके विभागोंका कार्य करनेकी आज्ञा करता है। यह वर्णन राज्यशासनके वर्णनके समान ही है। ऊपर दिये प्रश्नोपनिषद्में यह साम्य स्पष्ट रूपसे बताया है। राष्ट्रमें जैसा सम्राट् वैसा शरीरमें प्राण है।

प्राणके वर्णनसे राजाके कर्तव्यका बोध मिल सकता है अथवा राजाके वर्णनसे प्राणके व्यापारका बोध मिल सकता है। यह साम्य प्राणव्यवहार और राष्ट्रशासक व्यवहारमें स्पष्ट है।

यहां राजा और उसके शासनाधिकारीका वर्णन है। पर यहां राज्यशासनमें दूसरे भी स्वयंसेवक होते हैं। इनका वर्णन हम बृहदारण्यकोपनिषद्में देखते हैं—

प्रजापतिः हि कर्माणि ससृजे। तानि सृष्टानि अन्योन्येनास्पर्धन्त।...तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा उपयेमे।... श्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः। अथ इमं एव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः...... अयं वै नः श्रेष्ठः यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते अथो न रिष्यति। बृ० उ० १।५।२१

'प्रजापतिने अपने पालनके कार्यके सम्बन्धमें अनेक कर्म उत्पन्न किये और उनपर अधिकारियोंको नियुक्त किया। उनमें आपसमें स्पर्धा होने लगी।... उनके पीछे मृत्यु श्रमरूपसे लगा।... इसलिये वाणी थक जाती है, चक्षु थकता है। पर मुख्य प्राणको उस श्रमरूपी मृत्युसे कुछ भी नहीं हुआ। इसलिये यह प्राण अन्दर और बाहर संचार करता हुआ भी थकता नहीं।'

आंख, नाक, कान, मुख, हाथ पांव, आदि इन्द्रियाँ थोडा कार्य करनेपर थकती हैं। विश्राम लेनेके विना वे पुनः कार्य नहीं कर सकती। परन्तु प्राण कैसा है देखिये। यह जन्मसे मृत्युतक विश्राम न लेता हुआ कार्य करता है पर थकता नहीं और विश्राम भी नहीं लेता। इस प्रकार इन्द्रियोंसे प्राण श्रेष्ठ है।

इन्द्रियोंको भोग चाहिये, विश्राम चाहिये, नहीं तो वे इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकते। ऐसा प्राणका नहीं है। प्राण शरीरके रक्षणार्थ अन्दर और बाहर संचार करनेका कार्य सतत करता रहता है, पर वह कभी थकता नहीं, कभी विश्राम भी नहीं करता। यह अपने शरीररूपी राष्ट्रका संरक्षण करनेका कार्य सतत करता रहता है। इसलिये शरीररूपी राष्ट्रके लिये प्राणकी सेवाकी अत्यन्त आवश्यकता है।

शरीररूपी राष्ट्रमें इन्द्रियां वैतनिक सेवक हैं और प्राण अवैतनिक स्वयंसेवक हैं। शरीरस्वास्थ्यकी दृष्टिसे इन्द्रियोंकी सेवाकी अपेक्षासे प्राणकी सेवाका महत्त्व बहुत ही अधिक है। राष्ट्रसेवामें भी इसी तरह वैतनिक सेवकोंकी अपेक्षा अवैतनिक स्वयंसेवक अधिक महत्त्वका कार्य करते हैं। अध्यात्मके सिद्धान्त इस तरह राष्ट्रके शासनमें परिवर्तित होते हैं। यह बात यहां स्पष्ट होगयी। इन्द्रियां भोग भोगनेवाले सेवक हैं और प्राण किसी प्रकार भोग न लेते हुए निष्काम सेवा करते रहते हैं। इस कारण इनकी योग्यता अधिक है।

जो पिण्डमें वही ब्रह्माण्डमें

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।

अथर्व०

'जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है।' पिण्डमें अर्थात् एक शरीरमें जो ब्रह्म जानता है वह ब्रह्माण्डमें परमेष्ठी प्रजापतिको जानता है। इस शरीरमें इन्द्रियां वैतनिक स्वयंसेवक हैं, इन्द्रियोंके भोग ही उनका वेतन है। विश्राम ही उनकी छुट्टी है। इन वैतनिक सेवकोंसे भिन्न यहां 'प्राण' ये अवैतनिक स्वयंसेवक हैं। जन्मसे मरनेतक ये शरीरके रक्षणका कार्य करते हैं। इनके लिये किसी तरह भोगरूपी वेतन मिलता नहीं, तथा कभी विश्राम भी नहीं मिलता। तथापि ये स्वयंसेवक इस शरीररूपी राष्ट्रकी निष्कामभावसे अविश्रान्त सेवा करते ही रहते हैं। यही इन स्वयंसेवकोंका ध्येय है।

वैतनिक सेवकोंकी अपेक्षा ये अवैतनिक स्वयंसेवक बडा ही महत्त्वका कार्य करते हैं। इनकी इस निष्कामभावसे राष्ट्रसेवासे ही यह शरीररूपी राष्ट्र जीवित रहता है। शरीररूपी पिंडमें जो व्यापार है उसे जानकर राष्ट्रमें भी वैसा ही व्यवहार है ऐसा जानना चाहिये।

वेतनपर दृष्टि रखकर सेवा करनेवाले नौकर वेतन लेते हैं, छुट्टी भोगते हैं, कभी कभी हडताल करके काम भी बंद रखते हैं और वेतन बढानेकी मांग करते हैं। वेतनपर दृष्टि रखनेवाले सेवकोंका ऐसा ही बर्ताव सदा होता रहता है।

राष्ट्रकी निष्काम सेवा करनेके लिये तत्पर रहनेवाले स्वयंसेवक राष्ट्रकी सेवा केवल सेवाभावसे करते हैं। वे वेतन नहीं लेते, परंतु राष्ट्रके संरक्षणका कार्य जो जिस समय उपस्थित होगा वह तत्परतासे करनेके लिये सदा तैयार रहते हैं। इन अवैतनिक स्वयंसेवकोंके कार्यका राष्ट्रोत्कर्षमें महत्त्व शरीरके अन्दरके प्राणके कार्यके महत्त्वके समान विशेष रूपसे

रहता है। राष्ट्रमें ऐसे निष्काम स्वयंसेवक जितने अधिक होंगे, उतना उस राष्ट्रका तेज अधिक बढता जायगा।

सकाम और निष्कामसेवा

राष्ट्रकी जो सेवा वेतन लेकर करते हैं वह सकाम सेवा कहलाती है और जो अवैतनिक स्वयंसेवक सेवा करते हैं वह निष्कामसेवा कही जाती है। वैतनिक सेवकोंकी सेवाकी अपेक्षा अवैतनिक निष्ठावान स्वयंसेवकोंकी सेवा बहुत ही महत्त्वकी होती है। ऋषियोंने यह जान लिया था और इसीलिये वैतनिक सेवकोंकी तुलना उन्होंने इन्द्रियोंके साथ की थी और अवैतनिक स्वयंसेवकोंकी तुलना प्राणोंके साथ की थी और इससे यह बताया था कि अवैतनिक स्वयं–सेवकके कार्यका राष्ट्रीय महत्त्व अत्यधिक है। इस अध्यात्म-ज्ञानके आधारपर ही उन्होंने अपने राष्ट्रकी रचना की थी। इस राष्ट्र संरक्षणकी व्यवस्थामें स्वयंसेवकोंका संमान अधिक होता था।

शरीरमें राष्ट्र

अपना शरीर एक राष्ट्र ही है। इस शरीरमें करोडों अणु जीव रहते हैं। इस शरीररूपी राष्ट्रमें अंग, अवयव और इन्द्रिय ये प्रांत हैं। प्रत्येक प्रांतका एक अधिकारी उस प्रांतमें रहता है और वहांका कार्य करता है।

इस शरीररूपी राष्ट्रपर रोगकृमियोंका हमला होता है। ये रोगकृमि भी अणुजीव ही हैं। वे रोगकृमि शरीरके अणु–जीवोंके शत्रु होते हैं। रोगकृमि शरीरके अणुजीवोंपर आक्रमण करते हैं। इस समय शरीरके अणुजीव और रोगकृमि इनमें घोर युद्ध शुरू होता है और इस युद्धमें दोनों दलोंके सैनिक मरते हैं।

जैसा राष्ट्रपर हमला करनेवाले शत्रुसैनिकोंसे युद्ध होता है और दोनों दलोंके सैनिक उस युद्धमें मरते हैं वैसे ही इस रोगकृमियों और शरीरके अणुजीवोंका युद्ध होता है और दोनों दलोंके सैनिकोंका नाश होता है।

दोनों स्थानके युद्ध समान ही हैं। शरीरस्थ अणुजीव अति सूक्ष्म होते हैं और राष्ट्रके मानव बडे विशाल देह–धारी होते हैं। अन्यथा दोनों स्थानकी अवस्था समान ही होती है। ऋषियोंने इस पिण्ड शरीरमें स्वभावसे क्या चलता है यह देखा और वैसी व्यवस्था अपने राष्ट्रमें की। यही अध्यात्मज्ञानके आधारसे राज्यशासनकी व्यवस्था करना है।

इस शरीरके सब अवयव अपना कार्य सब शरीरकी सुस्थिति करनेके लिये ही करते रहते हैं। इसी तरह राष्ट्रके मनुष्योंको अपने सबके हितार्थ करना उचित है यह नियम ऋषियोंने अध्यात्मके नियमको देखकर निश्चित किया। राष्ट्रके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये राष्ट्रके मुख, बाहू, पेट और पांव है। अर्थात् जैसा मुख, बाहु आदिकोंका सहकार्य शरीरमें होता है वैसा ही सहकार्य इन वर्णोंका राष्ट्रमें होना चाहिये।

> स्व-कर्मणा तं अभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।
> गीता

यह नियम इस तरह ऋषियोंने बनाया था और यह नियम इस मानव शरीरमें स्वभावतः चला हुआ कार्य देखकर, तदनुसार बनाया होनेके कारण उसमें मानव हितका स्थायी भाव है। प्रत्येक मनुष्यने अपने स्वभाव सिद्ध कर्मसे राष्ट्रपुरुषकी सेवा करनी चाहिये। निष्कामसेवा राष्ट्रके लिये जितनी होगी उतनी वह उस राष्ट्रकी शक्ति बढायगी।

पापभक्षणका दोष न बनाओ

जो केवल अपने लिये ही अन्न पकाता है और उसे स्वयं ही खाता है; उसमेंसे दूसरोंको कुछ भी नहीं देता वह दोषका भागी होता है। ऐसा एक वेदमन्त्र भी कहता है देखिये—

> मोघं अन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी। ऋ० १०।११७।६

'अप्रबुद्ध मनुष्यको यदि अन्न प्राप्त हुआ तो वह व्यर्थ ही है। मैं सच कहता हूं कि वह उसका वध ही है। वह श्रेष्ठ पुरुषको दान नहीं देता और मित्रको भी देता नहीं है। वह अकेला ही खाता है, इसलिये वह सचमुच पाप ही खाता है।' मनुष्य किस प्रकार अपना बर्ताव करे इस विषयमें यह कथन बडा महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है।

> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।
> गीता ३।१३

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं वे पाप ही खाते हैं।' यह गीताका वचन ऊपरके वेद वचनका अनुवाद ही

है। राष्ट्रके लोगोंने आपसमें तथा राष्ट्रके शासनके अधिकारियोंने किस तरहका व्यवहार करना चाहिये उसका आदेश इस वचनमें स्पष्ट रीतिसे दिया है। राष्ट्रशासनमें सर्व जनोंका हित साधन होनेकी दृष्टि रहनी चाहिये। यह इस विवेचनका तात्पर्य है।

राष्ट्र एक देह है

"राष्ट्रके सर्व प्रजाजन मिलकर एक ही देह है यह वैदिक कल्पना है। ऋषियोंने इस सिद्धान्तपर ही अपना राज्यशासन खडा किया था। एक शरीरमें सिर, बाहू, पेट और पांव ये चार अवयव रहते हैं, उसी तरह राष्ट्रमें ज्ञानी वीर व्यापारी और कर्मचारी रहते हैं। जैसे चार अवयवोंका मिलकर एक शरीर होता है उसी तरह ये चार वर्ण मिलकर राष्ट्रका एक शरीर होता है। इस एकताका स्वीकार करके पश्चात् जैसा आचरण करना योग्य होगा वैसा आचरण करना चाहिये। शिक्षा विभागने इस ध्येयके तरुण तैयार करके उनके द्वारा राष्ट्रका शासन करना चाहिये।

सब 'विश्वरूप' ही वस्तुतः एक 'पुरुष' है। पर सब मनुष्योंको यह समझता नहीं, इसलिये एक राष्ट्रका एक देह है ऐसा कहा। इसका नाम हम 'राष्ट्र पुरुष' रख सकते हैं। सब विश्वको 'विराट् पुरुष' कहा जाता है। जैसा 'व्यक्ति पुरुष' एक है, वैसा ही 'राष्ट्र पुरुष' एक ही है और वैसा ही 'विराट् पुरुष' एक ही है। इस तरह एकात्मता समझमें आगयी और 'अनन्यभाव' का यह स्वरूप समझमें ठीक तरह आगया, तो मानवी व्यवहारमें दोष उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं है। जो दोष उत्पन्न होता है वह पृथग्भावसे होता है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' दूसरा रहा तो उससे भय होता है। सब राष्ट्र मिलकर एक ही पुरुष हुआ तो सब मानवोंमें अनन्यभाव रहेगा और व्यवहारमें किसी तरह दोष नहीं हो सकेगा। अन्यभावसे ही सब दोष होते हैं, अनन्यभावसे सबका एकात्म्य होनेपर जिस तरह एक अवयव दूसरेकी सहायता करता है उसी तरह एक मानव दूसरेका सहायक ही होगा। अनन्यभावका यह महत्त्व है।

राज्यके अधिकारी

राज्यके अधिकारी कौन कौन हों इस विषयमें इसके पूर्व कुछ लिखा गया है। परन्तु अब यहां यजुर्वेदसे कुछ अधिकारियोंके नाम क्रमशः तथा प्रकरणशः लिखते हैं जिससे शासनके अधिकारियोंकी कुछ कल्पना आ सकती है।

ज्ञानप्रचार-विभाग

मंत्री– नाना प्रकारके राष्ट्रकार्यके मन्त्री। शिक्षामन्त्री, संरक्षणमन्त्री, युद्धमंत्री, उद्योगमंत्री, उद्यममंत्री, गृहमंत्री, विदेशमंत्री आदि।

अधिवक्ता– प्रचारमंत्री, उपदेशक, धर्माधिकारी, अध्यापक, प्राध्यापक आदि।

उद्गुरमाण– उन्नतिके नाना योजनाओंका विचार और प्रचार करनेवाला।

श्रुतः– प्राचीन ज्ञानविज्ञान इतिहास आदिका प्रवक्ता,

देवानां हृदयः– देवोंका हृदय जाननेवाला, ध्यान धारणा करनेवाला, दिव्य हृदयवाला।

सभा– ग्रामसभा, प्रान्तसमिति, राष्ट्रपरिषद्, मंत्रीमण्डल आदि।

सभापति– सभाओंका अध्यक्ष,

लोक्य– लोकसम्बन्धी कार्य करनेवाला,

श्रवः– अध्ययन करनेवाला,

प्रतिश्रवः– अध्यापक वर्ग,

रुद्रः– (रुत्+रः)—शब्दज्ञान देनेवाला,

सूतः– कथाकार, इतिहासका व्याख्याता।

संरक्षण-विभाग

जगतां पतिः, दिशां पतिः, पुष्टानां पतिः, सत्वनां पतिः, पशूनां पतिः, क्षेत्राणां पतिः, वनानां पतिः, कक्षाणां पतिः, अरण्यानां पतिः, स्थपतिः, क्षेत्रपतिः, व्याधिनीनां-पतिः– ये विविध अधिकारी हैं। इनमें 'व्याधिनीनां पतिः' यह सेनाविभागका अधिकारी है।

निकृन्तानां पतिः– शत्रुकी सेनाको काटनेवाली वीर सेनाका प्रमुख,

कुलुंचानां पतिः– शत्रुका भेदन करनेवाले वीरोंका प्रमुख,

गणपतिः, व्रातपतिः, शर्धपतिः– छोटे बडे सेनाविभागोंका प्रमुख अधिकारी,

शूरः, विचिन्वत्कः– शूरवीर, शत्रुवीरोंको ढूंढ ढूंढकर काटनेवाला,

रथी, आशुरथ- रथपर बैठकर युद्ध करनेवाला, शीघ्रगामी रथपर बैठनेवाला,

आशुषेणः आशु-सेनः- सेनाको शीघ्र गतिसे चलानेवाला वीर,

सेनानी- सेनापति,

दुन्दुभ्यः- ढोल बजानेवाला सैनिक,

असिमान्, इषुमान्, सृकायी, निषंगी, धन्वायी, आयुधी, शतधन्वा, तीक्ष्णेषु, स्वायुध, सुधन्वा, वर्मी, कवची, बिल्मी, वरूथी- ये नाम विभिन्न शस्त्रधारी सेनाविभागोंके वाचक है ।

कृत्स्नायतया धावन्, निव्याधी, जिघांसत्, आहन्त्य, विध्यत्, अवभेदी, हन्ता, हनीयान्, विक्षीणक, अभिघ्नत्, अग्रेवध, दूरेवधः, आहनन्यः, धृष्णुः- ये नाम शत्रुकी कतल करनेमें प्रवीण वीरोंके हैं ।

हिरण्यबाहुः- बाहुपर सुवर्णका कवच धारण करनेवाला,

सहमानः- शत्रुका पराभव करनेवाला,

आतन्वानः, प्रतिदधानः, आयच्छत्, अस्यत्, विसृजत्, आखिदत्, प्रखिदत्- ये नाम शत्रुके ऊपर अचूक प्रहार करनेवाले वीरोंके हैं ।

आव्याधिनी, विविध्यन्ती, संहती- ये नाम शत्रुपर हमला करनेवाले सेना समूहके वाचक हैं ।

अश्वपतिः- घुडसवार,

श्वपति- कुत्तोंका पालन करनेवाला वीर,

पथीनां पतिः- प्रवासीयोंका रक्षक अधिकारी,

अवसान्यः- सीमा प्रदेशका संरक्षण करनेवाले वीर और उनके अधिकारी,

धनुष्कृत्, इषुकृत्- धनुष्य, बाण आदि शस्त्रास्त्र तैयार करनेवाले,

जाग्रत्, आसीनः, तिष्ठत्, धावत्- ये नाम जागता पहारा करनेवालोंके हैं ।

ये नाम संरक्षक दल तथा उन दलोंके अधिकारियोंके हैं। कितनी बारीकाईसे यह संरक्षणकी आयोजना रची थी इसकी कल्पना इन शब्दोंके अर्थोंको देखनेसे सहजहीसे हो-सकती है । ये नाम कार्यकर्ताओंके हैं; इसलिये इतने कार्यकर्ता होंगे ही और इतने विविध कार्योंके विविध निरीक्षक जहां होंगे, वहां सुरक्षाकी योजना अच्छी ही होनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं है । कितने कार्योंके लिये कितने विविध प्रकारके रक्षक वैदिक समयमें नियत किये गये थे । इनको पृथक् पृथक् शिक्षा देकर इनको विविध कार्योंपर नियुक्त करना यह बिना निश्चित् आयोजनाके नहीं हो सकता । विविध कार्योंके लिये अनेक सेनापथक पहिलेसे शिक्षा देकर तैयार रहते थे ऐसा इससे प्रतीत होता है ।

युद्धके व्यूहोंकी रचना करते समय स्थिर सेना एक स्थान पर रहती थी और दौडते सेनाविभाग, तथा पीछेसे आक्रमण करनेवाले सेना विभाग तैयार रहते थे, ऐसा इन नामोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है ।

आरोग्य-विभाग

भिषक्- वैद्य, आरोग्य विभागका मुख्य अधिकारी,

वृक्षणां पतिः, औषधीनां पतिः- औषधि तैयार रखनेवाला अधिकारी,

दैव्यः भिषक्- दैवी चिकित्सा करनेवाला, जलचिकित्सक, विद्युच्चिकित्सक, सूर्यकिरणचिकित्सक आदि चिकित्सक, जल विद्युत्, सूर्यकिरण, वायु, अग्नि आदि देवताओंकी सहायतासे चिकित्सा करनेवाला ।

क्षेम्यः- आरोग्य बढानेवाला,

सोमः- सोम वनस्पति । **हरिकेशः**- हरी वनस्पति । **वृक्षः**- ये सब चिकित्साके साधन हैं । इस तरह आरोग्य-विभागके कार्यका विचार हुआ ।

व्यापार-विभाग

अब हम व्यापार व्यवहारका विचार देखते हैं—

वणिक्- बनिया, व्यापार व्यवहार करनेवाला,

संगृहीता- व्यापार व्यवहारके अनेक वस्तुओंका संग्रह करनेवाला,

अन्धसस्पतिः, अन्नानां पतिः- अन्नके वस्तुओंका संग्रह करनेवाला, खाद्य पदार्थोंका संचय करनेवाला,

पशूनां पतिः, पशुपतिः, गोपतिः, अश्वपतिः- अनेक पशुओंका पालन करनेवाला ।

शिल्प-विभाग

क्षत्ता, तक्षा, रथकारः- सुतार, रथ बनानेवाला,

कर्मारः- लुहार,

कुलालः- कुंभार,

निषादः- बनवारी,
गिरिचरः- पहाडपर रहनेवाला,
पुञ्जिष्ठः- छोटे छोटे संघ करके रहनेवाले,
उत्तरणः- नदीके उतारके स्थानपर रहनेवाले ।

सेवक वर्ग

परिचरः, निचेरुः- सेवक, नौकर,
जघन्यः- नीच कर्म करनेवाला, नीच अवस्थातक पहुंचा।

आततायी वर्ग

आततायी, स्तेनः, तस्करः, मुष्णत्, स्तायुः, वंचत्, परिवंचत्, प्रतरणः, लोप्यः, नक्तंचरः— ये सब चोरी, डाका आदि दुष्ट आचार व्यवहार करनेवाले लोगोंके नाम हैं। राष्ट्रमें ऐसे गुन्हेगार होते ही हैं। इनसे प्रजाको सुरक्षित रखना चाहिये। इसी कार्यके लिये संरक्षण करनेका कार्य पूर्वदर्शित वीरोंको और स्वयंसेवकोंको करना होता है।

पूर्वस्थानमें दिये और यहां दिये ये नाम लोगोंके और अधिकारीयोंके हैं और ये यजुर्वेदमें क्रमसे दिये हैं। यह देखनेसे पता लगता है कि ऋषियोंने गुन्हा करनेवालोंको पृथक् गिना है और उनसे समाजको सुरक्षित रखनेवालोंको पृथक् गिना है। इससे उनकी सुव्यवस्थित राज्यशासन व्यवस्था थी यह बात सुस्पष्ट हो जाती है। अब हम देखते हैं कि उनका शिक्षाका ध्येय क्या था। राष्ट्रशासन उत्तम है वा नहीं यह उसके शिक्षाके ध्येयसे निश्चित होता है, इसलिये वही हम अब देखते हैं—

गुरुकुलीय शिक्षापद्धति

वैदिक समयमें गुरुकुलकी शिक्षापद्धति थी। बालककी आयुके ६ या ८ वें वर्षमें उसको गुरुकुलमें भेजा जाता था। द्विजोंका उपनयन होता था। कुमारिकाओंका भी उपनयन होता था। सहशिक्षा कुमार-कुमारिकाओंकी नहीं थी। कुमारोंका तथा कुमारिकाओंकी शिक्षाकी शिक्षा-व्यवस्था पृथक् पृथक् होती थी। सच्छूद्रोंका भी उपनयन होता था। जो अनाथ होंगे उन कुमार-कुमारिकाओंकी शिक्षाव्यवस्था राज्यशासनके द्वारा की जाती थी। विद्या-स्नातक होनेके पश्चात् उसकी सम्पदा उसको सरकार देती थी। अर्थात् तबतक अनाथोंकी सम्पदा सरकारके पास रहती थी।

अध्ययनके विषय

उस समयके गुरुकुलोंमें अध्ययनके विषय ये होते थे— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदोंका वेद (मीमांसा), पितृविद्या (वंश शास्त्र), गणित-विद्या, देवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्य, एकायन, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन-विद्या (छां. उ. ७।१) इस रीतिसे अनेक विद्याओंका पाठ्यक्रम होता था। देव, असुर तथा आर्योंके कुमार इसमें प्रविष्ट होकर शिक्षा पाते थे। इन्द्र और विरोचन ये देव तथा असुर कुमार एक ही गुरुके पास सीख रहे थे। शिक्षा का ध्येय यह होता था—

शिक्षाका ध्येय

(१) सह नाववतु, (२) सहनौ भुनक्तु, (३) सहवीर्यं करवावहै, (४) तेजस्वि नाव-धीतमस्तु, (५) मा विद्विषावहै। उपनिषच्छान्ति

'(१) विद्या पढनेसे (अवतु) संरक्षण करनेकी शक्ति प्राप्त हो, (२) ज्ञान प्राप्त होनेसे (भुनक्तु) खानपानकी चिन्ता दूर हो, (३) ज्ञान प्राप्त होनेसे (वीर्यं करवावहै) पराक्रम करनेका सामर्थ्य बढे, (४) (अधीतं तेजस्वी) हमारा प्राप्त किया ज्ञान तेजस्वी हो, ज्ञानसे हमारा तेज बढे, (५) (मा विद्विषावहै) ज्ञानसे आपसमें द्वेष न बढे।' यह शिक्षाका ध्येय है। ये पांच बातें ज्ञानवृद्धि होनेसे राष्ट्रमें होनी चाहिये।'

इस मन्त्रमें (नौ) 'हम दोनों' यह पद है। हम दोनोंको ये पांच बातें प्राप्त होनी चाहिये। हम दो कौन हैं? शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, बलवान-निर्बल, मालिक-मजदूर आदि प्रकारके प्रजाजन होते हैं। इन दोनोंको ये लाभ पहुंचने चाहिये। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेपर ये दोनों प्रकारके जनोंको सुख तथा समाधान पहुंचना चाहिये।

वेदाध्ययनके पूर्व और पश्चात् यह मन्त्र बोला जाता है इसका उद्देश्य यही है कि विद्याध्ययनका फल यह है यह बात सबको विदित हो। तथा—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ ऋ० १।८९।८

'(१) हम कानोंसे कल्याण करनेवाला भाषण सुनें और (२) आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य देखें।' यह भी

रथी, आशुरथ- रथपर बैठकर युद्ध करनेवाला, शीघ्रगामी रथपर बैठनेवाला,

आशुषेणः आशु-सेनः- सेनाको शीघ्र गतिसे चलानेवाला वीर,

सेनानी- सेनापति,

दुन्दुभ्यः- ढोल बजानेवाला सैनिक,

असिमान्, इषुमान्, सृकायी, निषंगी, धन्वायी, आयुधी, शतधन्वा, तीक्ष्णेषु, स्वायुध, सुधन्वा, वर्मी, कवची, बिल्मी, वरुथी- ये नाम विभिन्न शस्त्रधारी सेनाविभागोंके वाचक है।

कृत्स्नायतया धावन्, निव्याधी, जिघांसत्, आहन्त्य, विध्यत्, अवभेदी, हन्ता, हनीयान्, विक्षीणक, अभिघ्नत्, अग्रेवध, दूरेवधः, आहनन्यः, धृष्णुः- ये नाम शत्रुकी क़तल करनेमें प्रवीण वीरोंके हैं।

हिरण्यबाहुः- बाहुपर सुवर्णका कवच धारण करनेवाला,

सहमानः- शत्रुका पराभव करनेवाला,

आतन्वानः, प्रतिदधानः, आयच्छत्, अस्यत्, विसृजत्, आखिदत्, प्रखिदत्- ये नाम शत्रुके ऊपर अचूक प्रहार करनेवाले वीरोंके हैं।

आव्याधिनी, विविध्यन्ती, सृंहती- ये नाम शत्रुपर हमला करनेवाले सेना समूहके वाचक हैं।

अश्वपतिः- घुडसवार,

श्वपति- कुत्तोंका पालन करनेवाला वीर,

पथीनां पतिः- प्रवासीयोंका रक्षक अधिकारी,

अवसान्यः- सीमा प्रदेशका संरक्षण करनेवाले वीर और उनके अधिकारी,

धनुष्कृत्, इषुकृत्- धनुष्य, बाण आदि शस्त्रास्त्र तैयार करनेवाले,

जाग्रत्, आसीनः, तिष्ठत्, धावत्- ये नाम जागता पहारा करनेवालोंके हैं।

ये नाम संरक्षक दल तथा उन दलोंके अधिकारियोंके हैं। कितनी बारीकाईसे यह संरक्षणकी आयोजना रची थी इस की कल्पना इन शब्दोंके अर्थोंको देखनेसे सहजहीसे हो-सकती है। ये नाम कार्यकर्ताओंके हैं; इसलिये इतने कार्यकर्ता होंगे ही और इतने विविध कार्योंके विविध निरीक्षक जहां होंगे, वहां सुरक्षाकी योजना अच्छी ही होनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं है। कितने कार्योंके लिये कितने विविध प्रकारके रक्षक वैदिक समयमें नियत किये गये थे। इनको पृथक् पृथक् शिक्षा देकर इनको विविध कार्योंपर नियुक्त करना यह विना निश्चित् आयोजनाके नहीं हो सकता। विविध कार्योंके लिये अनेक सेनापथक पहिलेसे शिक्षा देकर तैयार रहते थे ऐसा इससे प्रतीत होता है।

युद्धके व्यूहोंकी रचना करते समय स्थिर सेना एक स्थान पर रहती थी और दौडते सेनाविभाग, तथा पीछेसे आक्रमण करनेवाले सेना विभाग तैयार रहते थे, ऐसा इन नामोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है।

आरोग्य-विभाग

भिषक्- वैद्य, आरोग्य विभागका मुख्य अधिकारी,

वृक्षणां पतिः, औषधीनां पतिः- औषधि तैयार रखनेवाला अधिकारी,

दैव्यः भिषक्- दैवी चिकित्सा करनेवाला, जलचिकित्सक, विद्युच्चिकित्सक, सूर्यकिरणचिकित्सक आदि चिकित्सक, जल विद्युत्, सूर्यकिरण, वायु, अग्नि आदि देवताओंकी सहायतासे चिकित्सा करनेवाला।

क्षेम्यः- आरोग्य बढानेवाला,

सोमः- सोम वनस्पति। हरिकेशाः- हरी वनस्पति। वृक्षः- ये सब चिकित्साके साधन हैं। इस तरह आरोग्यविभागके कार्यका विचार हुआ।

व्यापार-विभाग

अब हम व्यापार व्यवहारका विचार देखते हैं—

वणिक्- बनिया, व्यापार व्यवहार करनेवाला,

संगृहीता- व्यापार व्यवहारके अनेक वस्तुओंका संग्रह करनेवाला,

अन्धसस्पतिः, अन्नानां पतिः- अन्नके वस्तुओंका संग्रह करनेवाला, खाद्य पदार्थोंका संचय करनेवाला,

पशूनां पतिः, पशुपतिः, गोपतिः, अश्वपतिः- अनेक पशुओंका पालन करनेवाला।

शिल्प-विभाग

क्षत्ता, तक्षा, रथकारः- सुतार, रथ बनानेवाला,

कर्मारः- लुहार,

कुलालः- कुंभार,

निषादः- बनवारी,
गिरिचरः- पहाडपर रहनेवाला,
पुञ्जिष्ठः- छोटे छोटे संघ करके रहनेवाले,
उत्तरणः- नदीके उतारके स्थानपर रहनेवाले ।

सेवक वर्ग

परिचरः, निचेरुः- सेवक, नौकर,
जघन्यः- नीच कर्म करनेवाला, नीच अवस्थातक पहुंचा।

आतताई वर्ग

आततायी, स्तेनः, तस्करः, मुष्णत्, स्तायुः, वंचत्, परिवंचत्, प्रतरणः, लोप्यः, नक्तंचरः— ये सब चोरी, डाका आदि दुष्ट आचार व्यवहार करनेवाले लोगोंके नाम हैं। राष्ट्रमें ऐसे गुन्हेगार होते ही हैं। इनसे प्रजाको सुरक्षित रखना चाहिये। इसी कार्यके लिये संरक्षण करनेका कार्य पूर्वदर्शित वीरोंको और स्वयंसेवकोंको करना होता है।

पूर्वस्थानमें दिये और यहां दिये ये नाम लोगोंके और अधिकारीयोंके हैं और ये यजुर्वेदमें क्रमसे दिये हैं। यह देखनेसे पता लगता है कि ऋषियोंने गुन्हा करनेवालोंको पृथक् गिना है और उनसे समाजको सुरक्षित रखनेवालोंको पृथक् गिना है। इससे उनकी सुव्यवस्थित राज्यशासन व्यवस्था थी यह बात सुस्पष्ट हो जाती है। अब हम देखते हैं कि उनका शिक्षाका ध्येय क्या था। राष्ट्रशासन उत्तम है वा नहीं यह उसके शिक्षाके ध्येयसे निश्चित होता है, इसलिये वही हम अब देखते हैं—

गुरुकुलीय शिक्षापद्धति

वैदिक समयमें गुरुकुलकी शिक्षापद्धति थी। बालककी आयुके ६ या ८ वें वर्षमें उसको गुरुकुलमें भेजा जाता था। द्विजोंका उपनयन होता था। कुमारिकाओंका भी उपनयन होता था। सहशिक्षा कुमार-कुमारिकाओंकी नहीं थी। कुमारोंका तथा कुमारिकाओंकी शिक्षाकी शिक्षा-व्यवस्था पृथक् पृथक् होती थी। सच्छूद्रोंका भी उपनयन होता था। जो अनाथ होंगे उन कुमार-कुमारिकाओंकी शिक्षाव्यवस्था राज्यशासनके द्वारा की जाती थी। विद्या-स्नातक होनेके पश्चात् उसकी सम्पदा उसको सरकार देती थी। अर्थात् तबतक अनाथोंकी सम्पदा सरकारके पास रहती थी।

अध्ययनके विषय

उस समयके गुरुकुलोंमें अध्ययनके विषय ये होते थे— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदोंका वेद (मीमांसा), पितृविद्या (वंश शास्त्र), गणित-विद्या, देवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्य, एकायन, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन-विद्या (छां. उ. ७।१) इस रीतिसे अनेक विद्याओंका पाठ्यक्रम होता था। देव, असुर तथा आर्योंके कुमार इसमें प्रविष्ट होकर शिक्षा पाते थे। इन्द्र और विरोचन ये देव तथा असुर कुमार एक ही गुरुके पास सीख रहे थे। शिक्षा का ध्येय यह होता था—

शिक्षाका ध्येय

(१) सह नाववतु, (२) सहनौ भुनक्तु, (३) सहवीर्यं करवावहै, (४) तेजस्वि नावधीतमस्तु, (५) मा विद्विषावहै। उपनिषच्छान्ति

'(१) विद्या पढनेसे (अवतु) संरक्षण करनेकी शक्ति प्राप्त हो, (२) ज्ञान प्राप्त होनेसे (भुनक्तु) खानपानकी चिन्ता दूर हो, (३) ज्ञान प्राप्त होनेसे (वीर्यं करवावहै) पराक्रम करनेका सामर्थ्य बढे, (४) (अधीतं तेजस्वी) हमारा प्राप्त किया ज्ञान तेजस्वी हो, ज्ञानसे हमारा तेज बढे, (५) (मा विद्विषावहै) ज्ञानसे आपसमें द्वेष न बढे।' यह शिक्षाका ध्येय है। ये पांच बातें ज्ञानवृद्धि होनेसे राष्ट्रमें होनी चाहिये।'

इस मन्त्रमें (नौ) 'हम दोनों' यह पद है। हम दोनोंको ये पांच बातें प्राप्त होनी चाहिये। हम दो कौन हैं? शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, बलवान-निर्बल, मालिक-मजदूर आदि प्रकारके प्रजाजन होते हैं। इन दोनोंको ये लाभ पहुंचने चाहिये। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेपर ये दोनों प्रकारके जनोंको सुख तथा समाधान पहुंचना चाहिये।

वेदाध्ययनके पूर्व और पश्चात् यह मन्त्र बोला जाता है इसका उद्देश्य यही है कि विद्याध्ययनका फल यह है यह बात सबको विदित हो। तथा—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ ऋ० १।८९।८

'(१) हम कानोंसे कल्याण करनेवाला भाषण सुनें और (२) आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य देखें।' यह भी

ज्ञान प्राप्त होनेसे राष्ट्रमें होना चाहिये। आप जहां जांय वहां अपने कानोंसे अच्छे भाषण सुनें। आपके कानोंमें कहां भी गये तो भी बुरे शब्द नहीं आने चाहिये और आपके आंखोंके सामने बुरा दृश्य भी नहीं आना चाहिये। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होकर ऐसी परिस्थिति निर्माण होनी चाहिये। तथा और देखिये—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो, न मद्यपो, नानाहिताग्निः, नाविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः ? छां. उ. ५।११।५

'हमारे राष्ट्रमें चोर, कृपण, मद्यपी, अयाजक, अविद्वान्, स्वैरी तथा स्वैरिणी नहीं है।' ऐसा हम कह सकें ऐसा ज्ञानका प्रचार होना चाहिये। शिक्षाका वैदिक समयमें यही ध्येय था। योग्य सुशिक्षा द्वारा राष्ट्रकी काया पलटती है। सुशिक्षाके सम्बन्धमें जितना लिखा जाय उतना थोडा ही है। पर यहां दिये इन वचनोंसे शिक्षाके विषयमें वैदिक समयमें कौनसा ध्येय उस समयके नेताओंके सामने था इसकी कल्पना यहां हो सकती है।

नगरके चारों ओर दुर्ग

नगरोंका संरक्षण करनेके लिये नगरके चारों ओर दुर्ग रहता था। इस विषयमें यह मन्त्र देखिये—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
अथर्व०

'देवोंकी अयोध्या नगरी है, उसके चारों ओर बडा दुर्ग है और उसकी दिवारपर आठ चक्र हैं और उस कीले में नौ द्वार हैं।' यह वर्णन इस शरीरका ही है। हृदयके अन्दरकी आत्मिक शक्तिका यह वर्णन है। परन्तु यह अध्यात्मतत्त्वका वर्णन बडे दुर्गके वर्णनके समान किया है। जैसी यह देवोंकी नगरी बनायी गयी है वैसी नगरी मानव अपने रहनेके लिये बनावें, इसलिये यह वर्णन है।

नगरीमें 'सुवर्ग' के लोगोंका रहनेका स्थान हो। नगरीके बाहर दुर्भेद्य दीवार हो। उस दीवारमें आवश्यक हैं उतने द्वार हों। कीलेकी दीवारपर संरक्षणके लिये तोफें तथा अन्य आवश्यक शस्त्र, अस्त्र हों। इस कीलेके संरक्षणके लिये जितना सैन्य तथा शस्त्रास्त्र आवश्यक हो उतना वहां तैयार रहे। शत्रुका आक्रमण होनेपर इधर उधर दौडधूप करनी न पडे। कीलेके द्वार पक्के मजबूत हों। वहां जागते पहारे लगे हों और आने जानेवालोंपर उत्तम निरीक्षण हो। न मालूम होकर कोई शत्रु अन्दर प्रवेश न पासके ऐसा कडा प्रबंध हो।

अपने शरीरमें इसी तरह प्रत्येक द्वारपर उत्तम संरक्षणकी आयोजना परमेश्वरने निर्माण करके रखी है। वैसी मनुष्योंको अपने नगरोंमें करनी चाहिये।

सुवर्ग और दुर्वर्ग लोगोंकी पृथक् बस्ती

नगरमें मध्यभागमें अत्यंत सुरक्षित स्थानमें 'सुवर्ग' के लोगोंकी रहनेकी व्यवस्था करनी चाहिये। यह स्थान ऐसा सुरक्षित हो कि जहां दुष्ट लोग पहुंच भी न सकें। उत्तम आचरण करनेवाले लोगोंने ही वहां रहना है। दुर्वर्ग के लोगोंका स्थान कीलेके बाहर हो। यदि ये दुर्वर्गके लोग अपना आचार व्यवहार सुधारेंगे और सत्कर्ममें ही अपना जीवन लगा देंगे उस समय उनका भी प्रवेश सुवर्गके स्थान हो सकेगा और यदि सुवर्गके लोगोंमेंसे कोई दुष्ट वर्तन करेंगे, तो उनको भी सुवर्गके स्थानसे हटाया जायगा।

'सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते' ऐसे निर्देश जो मिलते हैं वे इस भावके द्योतक हैं। सत्कर्मसे 'सुवर्ग लोक' की प्राप्ति और असत्कर्मसे सुवर्गके स्थानसे गिरावट होती है। सत्कर्मकी कसौटी थी। जो सत्कर्म करेगा वह वहां जाकर रह सकेगा।

'सुवर्ग' और 'दुर्वर्ग' ऐसे सुष्टों और दुष्टोंके रहनेके विभाग इस समय थे। जो उत्तम कर्म करते, अपना रहन सहन सुधारते वे सुवर्ग स्थानमें रहनेका अधिकार प्राप्त करते थे और वहां जाकर आनन्दसे रहते थे। इससे हरएक मनुष्यके अन्दर यह महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि मैं अपना रहन सहन सुधारकर उत्तम स्थानमें जाकर रहूंगा। किसीको स्थायीरूपसे बुरी हालतमें रखना, यह इसका उद्देश्य नहीं था। परन्तु सब शुभ कर्म करें और उन्नत हों यह इसका हेतु था।

यम और पितर

मरणोत्तर सुवर्ग लोककी प्राप्ति होती थी ऐसी एक कल्पना आज जनतामें प्रचलित है। पर जीतेजी ही अर्जुन स्वर्गमें गया था और वहांसे उन्होंने शस्त्रास्त्र लाये थे।

उर्वशीके साथ उसका सम्बन्ध होनेका प्रसंग भी आया था। अर्जुन जीतेजी कैलासपर भी गया था। इससे स्पष्ट होता है कि स्वर्गमें या कैलासमें जानेके लिये मरनेकी जरूरी नहीं है। आज भी कोई मनुष्य कैलासमें जा सकता है। इसलिये आजकी धारण योग्य नहीं है। रावण कई वार स्वर्ग और कैलास जीतेजी गया था। ऐसी ही धारणा 'यम और पितरों' के सम्बन्धमें हुई है।

'पितरः' का अर्थ 'पातारः रक्षकाः' यह है। इससे सिद्ध होता है कि ये रक्षक थे। ये रक्षक थे इसीलिये कृष्ण-पक्षमें और अमावास्याके दिन इनको बुलाया जाता था और इनका सत्कार भी इसी समय किया जाता था। कृष्ण-पक्षमें तथा अमावास्याकी रात्रीमें चोरी, लूट आदि गुन्हे अधिक होते हैं, इसीलिये इन दिनोंमें इन रक्षकोंको बुलाया जाता था। यह योग्य ही था। इनका वर्णन करने-वाला एक मन्त्र अब देखिये—

स्वादुसंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्ति-मन्तो गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्रा सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥ वा० यजु० २९।४९

'(स्वादुसंसदः) जिनकी मित्रता हितकारी है ऐसे ये पितर (वयोधाः) अन्नका धारण या रक्षण करते हैं (कृच्छ्रे श्रितः) कष्टके समय इनका आश्रय किया जाता है, ये (शक्तिमन्तः) शक्तिमान हैं और गंभीर हैं। (चित्रसेना) अपने साथ उत्तम सेना रखते हैं, (इषुबलाः) बाणोंसे युद्ध करते हैं और जो सुदृढ है तथा जो (सतो वीराः) सत्पक्षके रक्षणार्थ अपनी वीरताका उपयोग करते हैं ऐसे ये वीर विशाल शक्तिवाले हैं और शत्रुके समूहोंका पराभव करते हैं।'

यह पितरोंका वर्णन बता रहा है कि ये रक्षक ही हैं। 'यम और पितर ये शब्द बोलते ही जो कल्पना अपने मनमें इस समय खडी होती है वही वैदिक वाङ्मयमें सर्वत्र है ऐसा मानना योग्य नहीं है। प्राचीन राष्ट्ररक्षणकी आयोजनामें ये रक्षणका कार्य करनेवाले आरक्षक थे। इनका मुख्य अधिकारी यम था, जो इन सबका नियमन करता था। आजकी पितरोंकी कल्पना भिन्न है पर वे इनसे पृथक् हैं। आज सब कल्पनाओंकी गलत हुई है।

संरक्षणकार्यके अधिकारियोंमें इन्द्र, रुद्र, मरुत् ये विशेष महत्त्वका काम करनेवाले हैं। इस विषयमें हमने इससे पूर्व देखा ही है। इन्द्र शत्रुके कीले तोडता है, मरुत् उसके सहायक हैं इत्यादि वर्णनका कुछ अंश हमने इससे पूर्व देखा है।

अयोग्य राजाकी पदच्युति

वैदिक समयमें अयोग्य राजाकी पदच्युति की जाती थी इतना अधिकार उस समय जनताके हाथोंमें था। इस सम्बन्धमें अब थोडासा दिग्दर्शन करना यहां आवश्यक है—

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु
मा त्वद्राष्ट्रं अधिभ्रशत्। ऋ० १०।१७३।१

'हे राजन्! सब प्रजाजन तुझे ही राज्यपर रखनेकी इच्छा करें। तेरे हाथसे यह राज्य भ्रष्ट न हो।' ऐसा एक मन्त्र राज्याभिषेकके प्रकरणमें है। इसमें पुरोहित जो लोगोंका नेता है, राजासे ऊपर लिखा मन्त्र कहता है और समझाता है कि प्रजाजनोंकी अनुमतिपर राजाका राजगद्दीपर रहना या न रहना निर्भर है। प्रजाजनोंकी अनुकूल सम्मति ही राजाको राज्यपर स्थिर रहनेका मुख्य साधन है।

'प्रजापति' के वधकी कथामें भी हमने यही देखा है। 'वेन' राजाकी पदच्युतिमें भी यही दिखाई देता है। बालखिल्योंने इन्द्रको पदच्युत करनेकी हलचल चलायी थी परन्तु कश्यप ऋषिकी शिफारससे वे उस कार्यसे पीछे हटे इसलिये इन्द्र अपने स्थानपर रहा, नहीं तो वह पद-च्युत हो जाता। इससे सिद्ध है कि राजगद्दीपर राजाका शाश्वत अधिकार नहीं था। इस विषयका नियम यह है—

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥८॥
स विशो अनुव्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च
सेना च सुरा च अनुव्यचलन् ॥ २ ॥ ९ ॥
अथर्व० १५।९।१

'वह प्रजाका रंजन करता है इसलिये वह राजा हो गया है। वह प्रजाके बन्धुबान्धवों और अन्न तथा उनके खानपानकी ओर ध्यान देने लगा। वह प्रजाके अनुकूल बर्ताव करने लगा। इस कारण ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति, राष्ट्रकी सेना और राष्ट्रका धनकोश इनकी अनुकूलता उसे प्राप्त हुई।' ऐसी अनुकूलता जिसको प्राप्त होती है वही

राज्यपदपर रहता है। जिसको सभासमिति सेना और धनकोशकी अनुकूलता नहीं होती वह राज्यकी गद्दीसे नीचे उतारा जाता है।

ग्रामसभा और राष्ट्रसमितिका इतना महत्व इस वैदिक समयमें था।

राज्यशासनकी व्यवस्थामें अर्थव्यवस्था, भूमिकी व्यवस्था, करग्रहण, युद्धनीति आदि अनेक बातोंका विचार करना आवश्यक है। पर इन सब बातोंका मन्त्रोंके प्रमाण देकर संपूर्णतया विचार करना हो तो उसके लिये बहुत समय लगेगा, उतना समय आज अपने पास नहीं है। इस कारण इन सब बातोंका विचार आज इस समय नहीं हो सकता।

सुवर्गके लोगोंकी पृथक् बस्ती

लोगोंमें 'सुवर्ग' के लोग और दूसरे दुर्वर्गके लोग ऐसे जनतामें दो वर्ग होते हैं और उनकी बस्ति पृथक् पृथक् होनी चाहिये यह बात यहां विशेष कही है। अतः इस विशेष व्यवस्थाका थोडासा अधिक विचार होना चाहिये। इसलिये इन सुवर्गके लोगोंके नामोंसे क्या बोध मिलता है वह प्रथम देखिये—

१ सुवर्गः – उत्तम वर्गके लोग,

२ सुकृतां लोकः – उमत्त कर्म, उत्तम कृति, उत्तम आचरण करनेवालोंका स्थान। अतः यहां अपराध या दुष्कृत्य करनेवाले नहीं रह सकते। जो कभी बुरे कार्य नहीं करेंगे वेही यहां रहेंगे।

३ निर्जरः लोकः – जरा अर्थात् जीर्ण अवस्था जिनको नहीं होती, योगादि साधनसे जो वृद्धावस्थामें भी तरुण जैसे रहते हैं।

४ त्रिदशाः – (तृतीया यौवनदशा सदा येषां) – बाल्य, कौमार और यौवन ये तीन ही अवस्थाएं जिनको रहती है। जीर्ण और क्षीण अवस्था जिनको आती ही नहीं, योगसाधन तथा पथ्य आहारविहारसे यह हो सकता है।

५ विबुधः – उत्तम ज्ञानी, ज्ञानविज्ञान संपन्न।

६ सु-पर्वाणः – शरीरके जोड जिनके निर्दोष होते हैं। शरीरके संधियोंमें मलसंचय होनेसे रोग होते हैं। जिनके शरीरके संधि निर्दोष रहते हैं।

७ सुमनसः – उत्तम मनवाले, जिनके मनमें कभी बुरे विचार आते ही नहीं। स्वभावसे जिनका मन सुविचार ही करता रहता है।

८ लेखाः – जो लिखना जानते हैं। जो साक्षर अर्थात् ज्ञान विज्ञानसंपन्न, जो पढे लिखे हैं।

९ ऋभवः– जो कारीगरीके कार्यमें अत्यंत कुशल हैं। कलाकौशलके पदार्थ बनानेमें प्रवीण जो हैं। ये मर्त्य थे पश्चात् अपने कर्मसे इन्होंने देवत्व प्राप्त किया था।

१० अस्वप्नाः– जो सुस्त नहीं, जो आलसी नहीं। जो उद्यमी रहते हैं। सदा कुछ न कुछ अच्छा ही कार्य करते रहेंगे।

११ अ-मृत-अन्धसः– मुर्देका मांस जो नहीं खावे। पशु आदि जीव हिंसा जो करते नहीं और उससे बननेवाला जो भोजन नहीं करते।

१२ ऋतुभुजः– यज्ञ करके जो शेष रहा अन्न है वही जो खाते हैं। पवित्र अन्न जो खाते हैं।

१३ वृन्दारकाः– जिनकी संघटना अच्छी है (प्रशस्तं वृदं येषां) जो संघटित रहते हैं।

१४ देवाः– (दिव-क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु)– मर्दानी खेल खेलनेमें प्रवीण, विजिगीषु वृत्तिसे जो रहते हैं, व्यवहारमें जो निर्दोष रहते हैं, छल, कपट नहीं करते, तेजस्वी रहते हैं, अतएव जो प्रशंसाके योग्य हैं, जो आनन्दसे रहते हैं, सदा प्रसन्न रहते हैं, निद्रापर जिनका प्रभुत्व है, जिनके मुख पर तेज रहता है, जो प्रेमसे आकर्षण करते हैं और जो प्रगतिशील होते हैं।

इस तरह प्रशस्तकर्म करनेवाले, कभी बुरा कर्म न करनेवाले, योगसाधनादि द्वारा जिन्होंने उत्तम दीर्घजीवन प्राप्त किया है ऐसे लोग सुवर्गमें रहने योग्य हैं। कभी असत्य भाषण, असत्य व्यवहार, चोरी, व्यभिचार, ढोंग, निंदा, कपट, छल, कटु व्यवहार नहीं करते, परंतु सदा सद्व्यवहार ही करते हैं, ऐसे प्रशस्ततम कर्म करनेवाले सुवर्गके स्थानमें रहनेके लिये योग्य हैं।

'सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते' बुरा कर्म करनेसे सुवर्ग लोकोंके स्थानसे हटा दिये जाते हैं और 'सुकृत' करनेका

स्वभाव बनानेसे दुर्वर्गमें रहनेवाले भी ऊपर चढाये जा सकते हैं ।

सुवर्गके लोकमें गुन्हे, अपराध आदि नहीं होते । वे लोग अपने धर्ममर्यादामें सदा रहते हैं । इस कारण वहां आरक्षकोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

इस सुवर्गमें रहनेवाले लोग अपनी विद्याका उत्कर्ष करते जाते हैं । सर्व प्रकारसे ये आनंदप्रसन्न रहते हैं। ऊपर दिये पदोंसे स्वर्गमें रहनेवालोंके अन्दरके गुणोंका पता लग सकता है । कठोपनिषद्में स्वर्ग लोकके विषयमें ऐसा लिखा है—

सुवर्ग लोकके लक्षण

सुवर्ग (स्वर्ग) लोकमें यह सुख रहता है—

१ **स्वर्गे लोके किंचन भयं नास्ति**– स्वर्गलोकमें कुछ भी भय नहीं होता। चोर, डाकू, लुटेरे, वधकर्ता आदिसे भय वहां नहीं होता । निर्भयता यह पहिला गुण है ।

२ **न जरा**– जीर्ण अवस्था नहीं होती । वृद्ध अवस्थामें भी तरुण जैसी स्थिति रहती है ।

३ **अशनायापिपासे उभे तीर्त्वा**– भूख और प्याससे कष्ट वहां नहीं होता, क्योंकि खान और पानक प्रबंध उत्तमसे उत्तम होता है । इच्छा होते ही वह पदार्थ वहां मिलता रहता है ।

४ **शोकातिगः मोदते**– शोकका कारण वहां नहीं होता । वहां रोग नहीं, पीडा नहीं, भय नहीं, वहां सदा आनंद ही आनंद रहता है ।

स्वर्गमें '**संरक्षण मंत्री**' का कार्य इतना उत्तम रहता है कि कोई वहां भय उत्पन्न करके किसीको डरा नहीं सकता । वहां रहनेवाले भी बुरा आचरण नहीं करते । मानवधर्मका उत्तम पालन करते हैं। इस कारण वहां भय नहीं होता । वहां '**आरोग्यमंत्री**' का कार्य इतना उत्तम रहता है कि किसीको रोगका भय नहीं होता । सब लोग नीरोग, हृष्टपुष्ट तथा जरारहित रहते हैं । अकाल मृत्युका भी भय वहां नहीं है । '**अन्नमंत्री**' के उत्तम प्रबंधसे यथायोग्य तथा ऋतुके अनुकूल खानपान मिलता रहता है ।

ऐसा स्थान देशमें अथवा राष्ट्रमें पृथक् रहना चाहिये । जहां सत्कर्म करनेवाले जाकर रह सकते हैं । अर्जुन जीतेजी स्वर्गमें गया, कैलासमें गया और वहांसे उसने शस्त्रास्त्र लाये । राज्य ३० वर्ष करनेके पश्चात् सब पाण्डव पैदल स्वर्गमें गये थे (देखो स्वर्गारोहण पर्व) हरद्वारके उत्तर भागमें 'स्वर्ग द्वार' नामक एक स्थान है, उसके उत्तरभागमें उस समय स्वर्ग था । इसमें लोक सुकृत करनेवाले जाते थे ।

> मर्तासः सन्तो अमृतत्वं आनशुः ॥ ऋ. १।११०।४
> तेन देवत्वं ऋभवः समानश ॥ ऋ. ३।६०।२
> सौधन्वनासो अमृतत्वं एमिरे ॥
> विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया ॥ ऋ० ३।६०

ऋभु मर्त्य थे वे देवत्व प्राप्त करके सत्कर्मके प्रभावसे सुवर्गलोकमें रहनेकी योग्यता प्राप्त कर सके । इस तरहके ये स्थान सत्कर्म करनेवालोंके लिये राज्यप्रबंधसे राष्ट्रमें रहने चाहिये । पाठक इसका विचार करें ।

यहां इन सत्कर्म करनेवालोंकी पृथक् बस्ती हो; ऐसा स्पष्ट कहा है । सुकृत करनेसे सुवर्गवाले स्थानमें रहना हो सकता है और दुर्वर्तन करनेसे सुवर्गके स्थानसे हटाया जा सकता है । यह व्यवस्था वैदिक समयकी राष्ट्रव्यवस्थामें स्पष्ट दीखती है । क्या यह व्यवस्था अच्छी है ? इसका विचार विशेष मनन करके करना चाहिये । अपराध करनेवाले पृथक् रहें और अपराध न करनेवाले पृथक् रहें। अपना आचरण सुधारनेपर हरएकको सुकृतलोकमें रहनेकी आज्ञा मिलती है । इससे हरएकको यह उत्साह रह सकता है कि मैं अच्छा निर्दोष आचरण करके उत्तम बनूं और सुकृत करनेवाले लोगोंके स्थानमें जाकर सन्मानपूर्वक रहूं । इस पद्धतिसे मनुष्यका सुधार ही होता जायगा । यहां सदाके लिये कोई बहिष्कृत नहीं रहेगा । हरएकको अपनी उन्नति करनेके लिये उत्साह और अवसर रहेगा। इस प्रकार व्यवस्थासे मानवोंका सुधार ही होता रहेगा । इसलिये यह पद्धति व्यवहारमें लाकर देखने योग्य है ।

इस निबन्धमें मुख्यतः इन मुख्य बातोंका विचार किया है—

१ सब देवताएँ परमेश्वरके सार्वभौमत्वके नीचे विश्व–राज्यके शासनका कार्य करती हैं ।

२ ईश्वर वा परमेश्वर विश्वराज्यका मुख्य शासक है और अन्य देवताएँ उसके अधीन रहकर विश्वशासनमें अपना अपना कार्य करनेवाले छोटेमोटे अधिकारी हैं।

३ सर्व देवताएं विश्वात्माके शरीरके अवयव हैं।

४ परमेश्वरका यह विश्वशासन मानवोंके राज्यशासनके लिये आदर्श शासन है।

५ इसी कारण परमेश्वरके तथा अन्य देवताओंके वर्णन करनेवाले मन्त्र मानवी राज्यशासनके लिये आदर्श शासनपद्धति बताते हैं।

६ इस तरह वेद, उपनिषद् आदि ग्रंथोंमें जो परमात्मा का या परमेश्वरका वर्णन है वह आदर्श शासकका वर्णन है। इस बातको ध्यानमें धरकर इन ग्रन्थोंको देखनेसे हमें ऋषिनिर्दिष्ट शासनपद्धतिका ज्ञान हो सकता है।

इन निबन्धोंमें मैंने इस पद्धतिका स्वीकार करके राज्य-शासनके कुछ अंशोंका प्रतिपादन किया है सब विद्वान् इसका विचार करें। पूर्वग्रह छोडकर इसका विचार करनेसे उत्तम राज्यशासनके वैदिक सिद्धान्तोंका ज्ञान हो सकता है।

प्रश्न

१ राजविहीन अवस्थाका क्या स्वरूप है ?
२ गृहपति संस्थाका लक्षण क्या है ?
३ घरमें झगडे न हों; इस विषयक वेदके मंत्र कौनसे हैं ?
४ यज्ञसंस्थासे मानवोंकी उन्नति किस तरह हुई थी ?
५ ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति और मंत्रीमंण्डल कैसे बनते हैं और उनके कर्तव्य क्या है ?
६ ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले अधिकारी रहे तो क्या लाभ होगा ?
७ शिक्षाका ध्येय क्या है ?
८ आयु-मर्यादाकी कसोटी राज्यशासनके लिये कैसी है ?
९ यदि कार्यकर्ता संयमी हो तो उससे क्या लाभ होगा ?
१० वैतनिक सेवक और स्वयंसेवक, कौन श्रेष्ठ और क्यों ?
११ पिण्ड व ब्रह्माण्डका क्या संबन्ध है ?
१२ सकाम और निष्काम सेवा किस प्रकारसे की जाती हैं ?
१३ शरीरमें राष्ट्र किस तरह रहता है ?
१४ पापभक्षण कौन करता है ?
१५ राष्ट्ररूपी देहका स्वरूप कैसा होता है ?
१६ वैदिक राज्यके अधिकारी कौन होते हैं ?
१७ शिक्षाका ध्येय क्या होना चाहिये ?
१८ अयोग्य राजाकी पदच्युति किस कारण होनी चाहिये ?
१९ सुवर्गके लोगोंकी पृथक् बस्तीका वर्णन कीजिये।
२० सुवर्गके लोगोंके लक्षण क्या हैं ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — १६ वाँ व्याख्यान

रक्षकोंके राक्षस

कलकत्ता निवासी " श्री. एच्. जी. वर्माजी, ज्योति वीविंग फेक्टरी " की ओरसे प्राप्त दो सौ २००) रुपयोंसे यह व्याख्यान मुद्रित हुआ है।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मंडल, पारडी (जि. सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

रक्षकोंके राक्षस

'राक्षस' शब्दका उच्चारण करते ही सुननेवालोंके अन्तःकरणोंमें भय उत्पन्न होता है। इस समय राक्षस भय उत्पन्न करनेवाले समझे जाते हैं। इस समय किसी भी समाजमें राक्षसोंके विषयमें आदर नहीं रहा है। पर अति-प्राचीन कालमें 'राक्षसोंका आदर' होता था, राक्षसोंका सत्कार किया जाता था। यह बात वाल्मिकीय रामायणमें आप देख सकते हैं—

संरक्षकोंका नाम राक्षस

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा आपः सलिलसंभवः।
तासां गोपायने सत्वान् असृजत् पद्मसंभवः ॥९॥
ते सत्वाः सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः।
'किं कुर्म' इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥१०
प्रजापतिः तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन् इव।
आभाष्य वाचा यत्नेन 'रक्षध्वं' इति 'मानवाः' ॥११॥
'रक्षाम' इति तत्रान्यैः 'यक्ष्याम' इति चापरैः।
भुंक्षिताभुंक्षितैरुक्तं ततस्तान् आह भूतकृत् ॥१२॥
'रक्षाम' इति यैरुक्तं 'राक्षसाः' ते भवन्तु वः।
'यक्ष्याम' इति यैरुक्तं 'यक्षा' एव भवन्तु वः ॥१३॥

वा० रा० उत्तरकांड, सर्ग० ४

'प्रजापतिने प्रथम जल उत्पन्न किया और उसके संरक्षकके लिये उसीने प्राणी उत्पन्न किये। वे प्राणी क्षुधा और तृषासे व्याकुल होकर प्रजापतिके पास नम्रताके साथ पहुंचकर बोले कि, अब 'हम क्या करें?' प्रजापतिने किंचित् हंसकर उनसे कहा कि हे (मानवाः! रक्षध्वं) 'हे मनुष्यो! तुम संरक्षणका कार्य करो।' तब उनमेंसे कईयोंने कहा कि (रक्षामः) हम रक्षणका कार्य करेंगे, (हमारे खानपानका प्रबंध कीजिये।' इसी तरह कई दूसरे लोगोंने कहा कि हम (यक्षामः) यजन करेंगे। यह लोगोंका कथन श्रवण करके प्रजापतिने कहा कि जिन्होंने तो 'रक्षामः' (हम संरक्षण करेंगे) ऐसा कहा है, उनका नाम 'राक्षस' होगा और जिन्होंने 'यक्षामः' हम यज्ञ करेंगे, ऐसा कहा है उनका नाम 'यक्ष' होगा।

रक्षण करनेवाले स्वयंसेवक

इस तरह जो रक्षण करनेवाले स्वयंसेवक थे उनका नाम 'राक्षस' रखा गया था और जो यज्ञ करनेवाले थे उनका नाम 'यक्ष' रखा गया था। अर्थात् संरक्षण करने-वालोंका नाम 'राक्षस' था। संरक्षण करनेवाले वीर जनताके हितैषी होते हैं। शत्रुसे संरक्षण करना और जनताको निर्भयताका आनंद देना, यह कार्य प्रशंसनीय है, अत्यंत उत्तम है। ऐसा उत्तम कार्य करनेवाले इस प्रजापतिके प्रारंभिक राज्यशासनमें 'राक्षस' इस प्रशंसनीय नामसे वर्णन किये जाते थे।

इस पृथिवीपर मानवीय जनता उत्पन्न हुई, उस समय जिन स्वयंसेवकोंने जनताका संरक्षण करनेका कार्य अपने ऊपर स्वेच्छासे किया था, उन स्वयंसेवकोंका नाम 'राक्षस' था। इस समय 'राक्षस' पदका अर्थ 'रक्षक' था। इन रक्षकोंपर जनताका विश्वास था और प्रजापति नामके राज्य-शासन संस्थाके ये स्वयंसेवक थे, इसलिये प्रजापति संस्था का भी इनपर विश्वास था। इस तरह जनताका और शासकोंका, इन दोनोंका विश्वास संपादन करनेवाले ये राष्ट्रीय रक्षा करनेका कार्य करनेवाले, ये प्रशंसनीय 'आरक्षक' थे। इस कारण ये सबके आदरके लिये पात्र थे। इस समय 'राक्षस' का अर्थ 'रक्षक' ही था। यह इस विवेचनसे सिद्ध होता है।

रात्रिंचर, निशाचर

जो रक्षक जनताका, नगरका, ग्रामका संरक्षण करते हैं उनको रात्रीके समय विशेषकर पहरा करना होता है, क्योंकि रात्रीके समय ही चोरी, डाका, लूट आदि दुष्टोंके द्वारा की जाती है। शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें, तथा दिनकी अपेक्षा रात्रीमें तथा अमावास्याकी रात्रीके अधिक अन्धेरेके समयमें संरक्षणका कार्य करनेकी अधिक आवश्यकता रहती है। क्योंकि यही समय अधिक भयका रहता है। इसीलिये पहरा करनेवाले रात्रीके समय सामान्यतः और कृष्णपक्षमें तथा अमावास्याकी रात्रीमें विशेषतः विशेष दक्ष रहकर पहरा करते हैं।

जिस समय प्रजापतिसंस्थाके राज्यशासनमें ये आरक्षक पहरा करके नागरिकोंका संरक्षण करते होंगे, उस समय वे रात्रीके ही समय विशेष दक्षतासे पहरा करके संरक्षण करते होंगे। इसलिये इनका रात्रीके समय घूमना किसी तरह बुरा नहीं था। जनता इस तरह "इनका रात्रीके समय पहरा करना अच्छा है, हमारे लिये हितकारी है, इससे हमारा संरक्षण होता है इस कारण यह आवश्यक है" ऐसा ही मानती होगी, तो उसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है।

जब संरक्षक जनताका रक्षण करनेके लिये पहरा करेंगे, तो उसमें आवश्यकता होनेपर वे रात्रीके समय घूम घूम कर पहरा करने लगे तो उसमें बुरा क्या है? वह तो उनका आवश्यक कर्तव्य ही है। वे इसलिये रात्रीके समय घूमते हैं कि रात्रीके समय ही उनका संरक्षणका कार्य करनेकी आवश्यकता अधिक रहती है। इसीलिये 'रात्रिंचर, रात्रिचर, निशाचर, क्षपाचर, रजनीचर' आदि नाम रक्षकोंके कर्तव्यका ही वर्णन करते हैं। इस कारण ये नाम राक्षसोंका- आरक्षकोंका- गुणगान ही इस प्राथमिक समयके राज्यशासनमें करते होंगे, तो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। ये रक्षक रात्रीके समय जाग रहे हैं और हमें निद्राका सुख भोगनेका अवसर देते हैं। इस तरहकी कृतज्ञताकी बुद्धि इनके विषयमें जनतामें इस समय निवास करती होगी, तो भी उसमें किसी तरहका आश्चर्य नहीं है। इस तरह ये राक्षस इस समय अच्छी राष्ट्रसेवाका कार्य करते थे।

असु—र

ये रक्षक स्वयं कष्ट भोगते हैं और जनताको सुखका प्रदान करते हैं। यह इनकी उदारता है। क्रूर, घातक डाकुओंका आक्रमण हुआ, तो ये रक्षक उनपर हमला करते हैं और वैसा समय आनेपर अपना जीवन भी जनताके संरक्षण करनेके कार्यमें अर्पण करते हैं और जनताका रक्षण करते हैं। अपना प्राण देकर जनताका रक्षण करते हैं इसलिये इनको 'असु-र' अपने (असु) प्राणोंका (रा) अर्पण करनेवाले ऐसा कहते हैं। यह कितना श्रेष्ठ कर्तव्य है? अपने प्राणोंसे अधिक प्रिय वस्तु जगत्‌में दूसरी कोई नहीं है। ये आरक्षक जनताकी भलाई करनेके लिये पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेके लिये तैयार हैं। इसलिये यह 'असुर' नाम अच्छा ही अर्थ प्रारंभमें बताता था। वेदमें 'असुर' पद अच्छे अर्थमें भी अनेकवार प्रयुक्त हुआ दीखता है। इसके कुछ उदाहरण अब यहां देखिये—

असुर सूर्य

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यत्
गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
केदानीं सूर्यः कश्चिकेत
कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥ ऋ० १।३५।७

'(गभीरवेपा) गंभीर वेगवाला (असु-रः सुनीथः) जीवन देनेवाला, उत्तम मार्गसे चलनेवाला (सुपर्णः) उत्तम किरणोंसे जो युक्त है (अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्) वह अन्तरिक्षमें प्रकाश फैलाता है। (इदानीं सूर्यः क?) इस समय वह सूर्य कहां है? (कः चिकेत) यह कौन जानता है? (अस्य रश्मिः कतमां द्यां ततान) इसका प्रकाश अब किस द्युलोकपर फैला है?'

इस मंत्रका देवता 'सविता' है, इसका विशेषण यहांका 'असुर' पद है। तथा और देखिये—

असुर देव सूर्य

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः
सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानान्
अस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ ऋ० १।३५।१०

'वह हाथमें सोना धारण करनेवाला, जीवन देनेवाला, उत्तम मार्गसे जानेवाला, (सु-मृळीकः) उत्तम सुख

देनेवाला (स्व-वान्) अपनी शक्तिसे रहनेवाला यह सूर्य हमारे पास आजाय। (प्रति-दोषं गृणानः) प्रत्येक रात्रीमें प्रशंसित होनेवाला यह सूर्य (यातुधानान् रक्षसः अपसेधन्) यातना देनेवाले दुष्टोंको दूर करता है। '

यहां ' रक्षः ' शब्द नपुंसक लिंगमें है इसलिये यह निंद्य और हीन अर्थमें है। पुल्लिंगका ' राक्षस ' पद संपूर्ण ऋग्वेद वाजसनेयी तथा काण्व यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें किसी भी मंत्रमें नहीं है। ' रक्षः, रक्षांसि ' ये नपुंसकलिंगी हीन अर्थके पद ही वेदमें प्रयुक्त हुए हैं। यहां ' यातुधानान् रक्षसः ' यातना देनेवाले दुष्ट क्रूर कर्म करनेवालोंको दूर करनेवाला सूर्यदेव है ऐसा वर्णन है। यहांका ' रक्षः ' पद पुल्लिंगमें होनेपर भी इसका यहां हीन अर्थ है।

असुर इन्द्र

अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वचः
स्वक्षत्रं यस्य धृषतो धृषन्मनः।
बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः
पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि सः॥ ऋ० १।५४।३

' हे उपासक ! तू इस तेजस्वी महान् इन्द्रके लिये उत्तम स्तोत्रका गान कर। जिस बलवान् इन्द्रका मन बलवान् तथा अपने निज क्षात्रबलसे युक्त है। यह कीर्तिमान जीवन शक्ति देनेवाला और शत्रुका नाश करनेवाला है। इसका यह बलवान् रथ घोडे जोतकर तैयार हुआ है। ' इस मंत्रमें भी सूर्यदेवका विशेषण ' असु-र ' आया है। तथा और—

असुर रुद्र

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः। ऋ० २।१।६

' हे अग्ने ! तू (दिवः महः असुरः) द्युलोकमें बडा बलवान् जीवनदाता रुद्र है। ' यहां 'असुर' पद अग्निका विशेषण है। यहां भी इसका अर्थ (असु-रः) प्राणोंका बल बढानेवाला ऐसा है। और देखिये—

असुर अग्नि वैश्वानर

पिता यज्ञानां असुरो विपश्चिताम्। ऋ० ३।३।४

' यज्ञोंका पिता, ज्ञानियोंको प्राणका बल देनेवाला ' ऐसा ' असु-र ' का अर्थ यहां है। इस मंत्रमें ' वैश्वानर अग्नि ' देवताका विशेषण यह ' असुर ' है। तथा—

*

घृतप्रसत्तो असुरः सुशेवो
रायो धर्ता धरुणो वस्वो अग्निः। ऋ० ५।१५।१

' यह अग्नि (घृतप्रसत्तः) घृतसे प्रसन्न होनेवाला, (असु-रः) बल देनेवाला (सु-सेवः) उत्तम सेवा करने योग्य, धनोंका धारण करनेवाला है। ' यहां अग्नि देवताका वर्णन करनेके लिये यह ' असुर ' पद आया है। और भी देखिये—

गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः। ऋ० ५।२७।१

' गौवोंके समेत रहनेवाले बलवान् और धनवान् अग्नि ' का यहां वर्णन है। इसमें असुर शब्द बलवान् शक्ति प्रदाताके अर्थमें है।

असुर वायु

अतूर्तपन्था असुरो मयो भूः। ऋ० ५।४२।१

' जिसका मार्ग प्रतिबंधरहित है, जो बल बढानेवाला है और सुख देनेवाला है। ' यहां असुर पद वायु देवताका वर्णन कर रहा है, यह सुखदायी और बल देनेवाला अर्थात् हितकारी है। और भी देखिये—

पूषा असुर

स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः। ऋ० ५।५१।११

' बल बढानेवाला पूषा देव हमें कल्याण प्रदान करे। ' यहां ' पूषा ' देवताका विशेषण ' असुर ' है। अर्थात् यह जीवनका बल बढानेवाला पोषणकर्ता देव है। तथा—

असुर पर्जन्य

अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो
निषिञ्चन्नसुरः पिता नः॥ ऋ० ५।८३।६

' हे पर्जन्य ! तू बिजलीकी गर्जना करता हुआ और जलकी वृष्टि करता हुआ हमारे समीप आ, तू हमारा जीवनदाता पिता ही हो। ' यहां इस मंत्रमें, ' पर्जन्य ' देवताका वर्णन ' असुर ' पदसे किया है। तथा—

न्यग्निः सीददसुरो न होता
हुवानो अत्र सुभगाय देवान्॥ ऋ० ७।४०।२

' (देवान् हुवानः) देवोंको बुलाकर (सुभगाय) हमारा कल्याण करनेके लिये यह (असुरः अग्निः) बलवान् अग्नि यहां इस यज्ञशालामें बैठता है। ' यहां अग्निका वर्णन यह ' असुर ' पद करता है। और देखिये—

असुर पुत्रकी इच्छा

अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु
जनानां यो असुरो विधर्ता ।
अपो येन सुक्षितये तरेम
अध स्वमोको अभि वः स्याम ॥ ऋ० ७।५६।२४

' हे (मरुतः) मरुतो ! (अस्मे शुष्मी वीरः अस्तु) हमें उत्तम बलवान् उत्साही वीर पुत्र होवे, जो (जनानां विधर्ता असुरः) लोगोंका विशेष उत्तम रीतिसे धारण करनेवाला बलवान् हो । जिस पुत्रकी सहायतासे (सुक्षितये) हमारा निवास सुखकारक हो और शत्रुका (तरेम) पराभव करके हम सब संकटोंसे पार हो जांयगे और अपने स्थानपर उत्तम रीतिसे रहेंगे । ' यहां अपने पुत्रका वर्णन असुर पदसे हुआ है । ' अपना पुत्र असुर हो ' अर्थात् बलवान हो । इतना उत्तम अर्थ असुरका है । तथा—

असुर वरुण

अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा
अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड्
विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि ॥ ऋ० ८।४२।१

' सर्वज्ञानी वरुणने द्युलोकको सुस्थिर किया, पृथिवीकी महत्ता उसीने बनायी, सब भुवनोंका वही सम्राट् हुआ है, ये सब वरुणके वर्णनीय कृत्य हैं । ' यहां विश्वके निर्माणकर्ताका वर्णन 'असुर ' पदसे हुआ है। तथा—

असुर सोम

त्रीन् त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे
सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ॥ ऋ० ९।७३।१
सोमो मीढ्वाँ असुरो वेद भूमनः ॥ ऋ० ९।७४।७

' (असुरः) बलवर्धक सोम (त्रीन्) तीनों स्थानोंमें आता है और नौकाके समान यह उत्तम कर्मकर्ताको दुःखसे पार करता है । ' ' इच्छा पूर्ण करनेवाला बलवान् सोम विशेष धन सत्कर्म कर्ताओंको देना जानता है । ' तथा—

हव एषां असुरो नक्षत द्यां । ऋ० १०।७४।२

' इनकी बलवान् पुकार द्युलोकमें भर जावे । ' यहां 'असुरः हवः ' यह ' असुर ' पद 'हवः ' अर्थात् प्रार्थनाका विशेषण है । जिसमें मानसशक्तिका बल है वैसी मानवोंकी पुकार आकाशमें भर जावे ।

इस तरह ऋग्वेदमें ' असुर ' पद अच्छे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । नाना देवताओंके विशेषणमें, अपने पुत्रका वर्णन करनेके लिये, इस तरह सर्वत्र अच्छे ही अर्थमें ' असुर ' पदका उपयोग ऋग्वेदमें दिखाई देता है । अब यही ' असुर ' पद ऋग्वेदमें असुरत्वके रूपमें देखिये–

देवोंका बडा असुरपन

महद् देवानां असुरत्वं एकम् ॥ ऋ० ३।५५।१–२२

यह मंत्रभाग इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें है। इनमेंसे नमूनेके लिये एक मंत्र देखिये—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः
पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य
महद्देवानां असुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३।५५।१९

' त्वष्टा देव विश्वरूप है और वह (सविता) अपनेमेंसे सब विश्वका प्रसव करता है, (प्रजाः पुपोष) प्रजाजनोंका पोषण करता है । ये सब भुवन इसीके हैं । यही देवोंका एकमात्र बडा सामर्थ्य है । ' परमात्मा ही सब देवोंमें बडा सामर्थ्यवान् है ऐसा यहां कहा है । यही ' असुरत्व ' है अर्थात् यही ' बडा भारी सामर्थ्य ' है, इस अर्थमें ' असुरत्व ' पद यहां आया है ।

अयं देवानां असुरो विराजति
वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ॥ अ० १।१०।१

' यह वरुण देवोंमें बलवान् होकर विराजता है । इस राजा वरुणकी गौ है यह सत्य है ।'

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥ अ० ४।१५।१२

' जलकी वृष्टि करनेवाला (असु—रः) जीवनदाता मेघ हमारा पालनकर्ता है । '

तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ अ० ५।२७।१

' (तनू–न–पात्) शरीरका पतन न करनेवाला (असु-रः) प्राणोंका रक्षक अग्नि बहुत किरणोंसे युक्त है ।'

देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।
युष्माँ अस्तु दिवे दिवे प्रत्येव गृभायत ॥
अ० २०।१२५।१०

' देव आपको बल देवें और वह बल आपको उत्तम चेतना देनेवाला हो, आपको यह बल प्रतिदिन प्राप्त होता रहे । ' यहां ' असुर ' पद बलवाचक है ।

महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा
विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ऋ० ४।८।३

'वृष्टि करनेवाले जीवनदाता परमात्माका यश बडा विशाल है। वह विश्वरूप होकर अमर शक्तियोंका धारण करता है ।'

वपूंषि कृण्वन् असुरस्य मायया ॥ ऋ० ६।७२।१

' (असुरस्य मायया) बलवान परमात्माकी शक्तिसे वह अनेक शरीरोंकी रचना करता है । '

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा
दिवो धर्तारो उर्विया परिख्यन् । ऋ० १८।१।२

' परमेश्वरके पुत्र जो बलवान् शासकके वीर हैं जो विश्वका धारण करते हैं, वे सबके कार्य देखते हैं । ' इस प्रकार असुर पद अच्छे अर्थमें वेदमें प्रयुक्त है ।

इस तरह हम ऋग्वेदमें ' असुर ' पद अच्छे अर्थमें देखते हैं, तथापि वेदमें बुरे अर्थमें भी ' असुर ' पदका प्रयोग थोडे स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे दीखता है, देखिये—

कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः
पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः । ऋ० ६।२२।४

' हे (खिद्वः) शत्रुको खेद उत्पन्न करानेवाले (पुरुहूत पुरूवसो) हे बहुतोंद्वारा प्रशंसित और बहुत धनवाले इन्द्र ! हे (दु-ध्र) दुःसह अत्यंत शूर इन्द्र ! यज्ञमें (असुर-घ्नः कः ते भागः) असुरोंका नाश करनेवाला तुम्हारा कौनसा कार्य है और (किं वयः) अन्य भी कौनसा यज्ञमें देना है । ' यहां 'असुर-घ्न ' पद असुरोंका नाश करनेका कार्य बता रहा है, इसी तरह—

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने
मन्म धीतिं भरध्वम् । ऋ० ७।१३।१

' सबको प्रकाश देनेवाले, बुद्धि तथा कर्मका धारण करनेवाले और (असुर-घ्ने अग्नये) असुरोंका नाश करनेवाले अग्निकी स्तुति करो । ' यहां अग्निको असुर विनाशक कहा है तथा—

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं
ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा । ऋ० १०।१७०।२

' अमित्र, वृत्र, असुर, सपत्न आदिकोंका नाश करनेवाला सूर्य दस्युनाशक ज्योति फैलाता है । ' यहां ' असुर-हा ' पद है । वह असुरोंका नाश सूर्य करता है । ऐसा भाव बताता है ।

असुरक्षयणं वधं । अ० ११।१२।१०-१३

' असुरनाशक वधकारक शस्त्र ' यहां असुरोंका नाश लिखा है। अर्थात् ये दुराचारी दुष्ट डाकू हैं। शब्दका उच्चारण एक जैसा होनेपर भी ' असु—र ' यह पद अच्छे अर्थमें है और ' अ-सुर ' यह पद बुरे अर्थमें है । दोनोंका उच्चारण समान ही होता है तथापि ये दो पद विभिन्न हैं ।

यहांतक हमने असुर पदका अच्छा अर्थ है यह वेदमंत्रोंमें देखा। पर 'असुर' पदका बुरा भी अर्थ है और वह प्रसिद्ध है इसलिये उसके अधिक उदाहरण देखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है । अब हम ' दानव ' पदके अर्थका विचार करते हैं—

दानव

' दानव ' का अर्थ ' क्रूरकर्मा राक्षस ' ऐसा एक ही है । यह पद ' दान् ' धातुसे बना है । ' दान् छेदने, खण्डने आर्जवे ' अर्थात् ' दान् ' धातुके अर्थ (१) छेदन करना, काटना, छिन्न विछिन्न करना, (२) खण्ड-खण्ड बनाना, (३) सीधा करना, सरल बनाना ' ये हैं। इनमें पहिले दो अर्थ काटने तोडनेका भाव बता रहे हैं, पर तीसरा अर्थ (आर्जव) ऋजुता, सरलता करना है। यह अच्छा अर्थ है । काटकर सीधा बनाना यह अर्थ भी बुरा नहीं है । काटना भी अच्छा होता है । ये अर्थ देखनेसे दानवके धातुका अर्थ अच्छा भी है। सरल सीधा बनाना, लोगोंको अच्छे मार्गपर चलाना, जनतामें ऋजुता स्थापन करना यह अर्थ अच्छा है । इसके लिये काटना आवश्यक भी हो सकता है । पर काटनेके अन्दरका क्रूरताका भाव आगे और अधिक बढ गया इससे आगे इसका बुरा अर्थ होने लगा ।

' राक्षस ' का अर्थ प्रारंभमें ' संरक्षक ' था, पश्चात् बुरा अर्थ हुआ। वैसा ही ' दान् ' धातुका अर्थ (आर्जव) ' सरल सीधा करना ' अर्थ था, सीधा बनानेके लिये काटनेकी आवश्यकता रहती है, वहांतक काटना भी अच्छा परिणाम करनेवाला था । परंतु पश्चात् काटना ही रहा और अच्छा सरल बनाना दूर हुआ, इससे इसका पहिला

अच्छा अर्थ लुप्त हुआ और बुरा ही अर्थ प्रसिद्ध हुआ।

आज ' दानव ' पदमें (आर्जव) सरल करनेका भाव था ऐसा मानननेके लिये भी कोई तैयार नहीं है, इतना इसका अर्थ बिगड गया है !! (छेदने) काटना भी अच्छा करनेके लिये भी हो सकता है। हमेशा हो काटना बुरा अर्थ बताता है ऐसी बात नहीं है। पर जिस समय केवल अविचार-से काटना ही काटना होने लगता है उस समय वह बुरा ही होता है। वैसा ही ' दानवों ' के काटनेका हुआ। उनके कर्मोंमें केवल काटना ही रहा, परंतु उसमें सोधा करनेका भाव जो पहिले था वह चला गया। रक्षकोंके राक्षस इसी तरह बने।

' दा ' धातु ' दान , अर्थमें है और ' काटने ' के अर्थमें भी है। ' दा दानेः दा लवने ' दान देना और छेदन करना ये दोनों अर्थ दा धातुके हैं। ' दा ' धातुका अर्थ ' दान देना ' है। दान देनेका ही अर्थ अपने पास जो है उसका विभाग करके दूसरेको देना, इसीलिये दान देनेके लिये इस धातुका ही अर्थ काटना हुआ। अपने पास धन है, भूमि है, अन्न है। उसमेंसे थोडा दान करना होता है, इसलिये दान करनेके समय विभाग करना ही पडता है। इसलिये ' दा ' धातुके दान अर्थके साथ उसमें काटनेका भी भाव आगया और इसी तरह ' दान् ' धातुके अर्थमें भी वही काटनेका भाव आगया है।

' दानव ' पदमें मूल अर्थ ' दान-वान् ' था, दान देनेवाला यह अर्थ था। काटकर, विभाग करके, संविभागकर के दान देनेवाला यह पहिला अर्थ था। पर पश्चात् काटनेका अर्थ तोडना हुआ और इसीका अर्थ घातपात करनेवाला बना और उत्तर संस्कृतमें दानवका अर्थ सर्वरूपसे ' क्रूर असुर ' ही हो चुका। निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं—

दानवका दान

दानवं दानकर्माणं। निरु० १०।९

' दानव मेघका नाम है क्योंकि वह जलका दान करता है।

दानवं उदकदातारं मेघं। (दुर्गाचार्य)

दानवं दनोः पुत्रं असुरं यद्वा उदकस्य दातारं मेघं। (सायनाचार्य)

इस तरह निरुक्तकारका ' दानकर्मा ' यही अर्थ इन आचार्योंने लिया है। अर्थात् ' दानव ' पदमें ' दान कर-नेका भाव ' है। मेघ जलका दान करता है यह बुरा नहीं है। इसमें दान है। इससे पता लगता है, कि ' दानव ' में प्रारंभमें ' दान करनेका भाव ' था, यह भाव अच्छा था। परंतु पीछेसे वह अर्थ बिगडा, यह दानवोंकी पश्चात् दुष्ट कृतिके कारण बिगाड हुआ है। ' दानव ' पद ऋग्वेदमें अच्छे अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है—

स नः शक्रश्चिदा शकत् दानवान् अन्तराभरः।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः॥ ऋ० ८।३२।१२

" (शक्रः सः इन्द्रः) सामर्थ्यवान् वह इन्द्र (नः आशकत्) हमको सामर्थ्यवान करे। (विश्वाभिः ऊतिभिः इन्द्रः) सब प्रकारके संरक्षणोंके साथ वह इन्द्र (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तर-आभरः) हमें अन्दरसे भरपूर सामर्थ्यसे परिपूर्ण भर दे। "

इस मंत्रमें ' इन्द्र ' का वर्णन ' दान+वान् ' पदसे किया है। दाता, दान देनेवाला, उदार, उदार अन्तःकरणसे सहायता करनेवाला इन्द्र है। ' मेघ ' को भी ' दानव ' इसलिये वेदमें कहा है कि वह ' उदकका दान करता है। ' अर्थात् इस ' दाता ' के अर्थका यह ' दानव ' शब्द अच्छा अर्थ बताता है। जो प्रारंभमें रक्षकका कार्य करते थे। क्योंकि ' वे दानव जनताका संरक्षण करनेके लिये अपने प्राणोंका दान करते थे। ' इसलिये इस अर्थमें यह दानव पद उत्तम अर्थ बतानेवाला है। इसलिये देवोंका वर्णन करनेके लिये भी ' दानव ' पद प्रयुक्त हुआ है।

पूर्वदेवाः

' पूर्व-देवाः ' यह पद भी राक्षसवाचक है देखिये—

असुरा दैत्य-दैतेय-दनुजेन्द्रारि-दानवाः।
शुक्रशिष्यादितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः॥
अमरकोश १।१२

' असुर, दैत्य, दैतेय, दनुज, इन्द्रारि, दानव, शुक्रशिष्य, अदितिसुत, पूर्वदेव, असुरद्विष् ये नाम असुरोंके हैं। ' इनमें ' पूर्व-देवाः ' पद है। पूर्व समयमें ये देव थे, अर्थात् पूर्व समयमें ये उत्तम कर्म करनेवाले थे।

पूर्वे च ते देवाः। यद्वा पूर्वं देवाः अन्यायाद्धि देवत्वात् भ्रष्टाः।

अमरटीका भानुदीक्षित व्याख्या।

प्राचीन समयमें ये देव थे, पूज्य थे, अच्छा कार्य करते थे, जनताके संरक्षणका कार्य करते थे, इसलिये ये उस समय ' देव ' कहलाते थे। पश्चात् वेही हीन कर्म करने

लगे, इस कारण देवत्वसे भ्रष्ट हुए। इस पदका यह अर्थ देखनेसे स्पष्ट रूपसे विदित होता है कि, ये राक्षस प्रारंभमें देवों जैसे पूजनीय थे। इस पदसे बडा भारी इतिहास मालूम हो सकता है। रक्षकोंके हो राक्षस बने हैं, उदार दाताओंके ही डाकू बने हैं, देवोंके समान जो पूजनीय थे वे ही दुष्ट कर्म करनेके कारण वध्य समझे गये हैं।

रक्षन्ति इति राक्षसाः। (यह पहिला अर्थ था)
जो रक्षण करते हैं।
रक्षन्ति येभ्यः राक्षसाः। (यह दूसरा अर्थ बना)
जिनसे रक्षण करना चाहिये।

(१) 'जो जनताका रक्षण करते हैं' यह राक्षस पदका पहिला अर्थ था, क्योंकि ये रक्षणका पवित्र कार्य करते थे। पश्चात् जब ये दुष्ट कर्म करने लगे तब (२) 'जनताका जिनसे संरक्षण करना चाहिये' ऐसा अर्थ होने लगा!!! ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं। यही भाव 'पूर्वं देवाः' पदमें हैं। ये राक्षस पूर्वकालमें देव थे, परंतु अब वे ही दुष्ट हो चुके हैं।

हमने यहांतक जो राक्षसोंके नाम देखे 'राक्षस, असुर, रात्रिचर, दानव' आदि पद प्रारंभमें अच्छा अर्थ बतानेवाले थे, परंतु पीछे बहुत समय हो जानेके पश्चात् वे ही दुष्ट कर्म करने लगे, इसलिये इन पदोंका अर्थ बिगड गया। यही संपूर्ण इतिहास 'पूर्व-देवाः' इस पदमें है। यही पद राक्षसोंके पतनका सब इतिहास बता रहा है। ये प्रारंभमें देवताके समान पूजाके योग्य थे, पश्चात् ये क्रूरकर्म करने लगे, ये ही डाकुओंके समान कर्म करने लगे, जनताका संरक्षण करनेके स्थानपर जनताका ही नाश करने लगे, जनताको ही लूटने लगे, जनताका रक्षण करनेके स्थानपर जनताका भक्षण करने लगे। इसलिये इनको क्रूर माना गया। और 'पूर्व देवाः' का जो पहिले अच्छा अर्थ था, वह बदला और बुरा भाव इस शब्दमें आगया।

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। ऋ० १०।९०।१६
वा० य० ३१।१६
देवा एतस्यां अवदन्त पूर्वे।
सप्त ऋषयः तपसे ये निषेदुः॥ ऋ० १०।१०९।४
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
ऋ० १०।१९१।२
यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे। वा० य० १७।२९

इन मंत्रोंमें 'पूर्वे देवाः' पद है और यह अच्छे अर्थमें है। (साध्याः पूर्वे देवाः) साधनसंपन्न पूर्व देव, (सप्त ऋषयः पूर्वे देवाः) सप्त ऋषि जो तपके लिये बैठे थे वे पूर्वदेव हैं। (संजानानाः पूर्वे देवाः) संज्ञानसंपन्न पूर्व देव। इस तरहका यह वर्णन 'ये पूर्व देव अच्छे थे' यही भाव बता रहा है। ऋषियोंके समान, साधना करनेवाले, यमनियम पालन करनेवाले ये 'पूर्व देव' थे, इस कारण इनका उस पूर्वकालमें बडा संमान होता था और वह योग्य था। पश्चात् वे ही बुरा कर्म करने लगे, इस कारण उन्ही पदोंका अर्थ बिगड गया।

पुण्यजनाः

यहांतक हमने देखा कि राक्षसवाचक बहुतसे शब्द प्रारंभमें अच्छे अर्थवाले थे, परंतु पीछेसे वे खराब भाववाले हो गये। इसी तरह 'पुण्यजन' यह भी एक शब्द है। यह नाम भी इस समय राक्षसवाचक है। देखिये—

राक्षसः कौणपः क्रव्यात् क्रव्यादोऽस्रप आशरः॥५९
रात्रिंचरो रात्रिचरः कर्बुरो निकषात्मजः।
यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी॥ ६०॥
अमरकोश १।५९-६०

'राक्षस, कौणपः, क्रव्यात्, क्रव्यादः, अस्रपः, आशरः, कर्बुरः, यातुधानः, पुण्यजनः, नैर्ऋतः, यातुः' ये नाम राक्षसोंके वाचक हैं। इनमें 'पुण्यजन' पद है जो इस समय राक्षसवाचक है।

अथ पुण्यजनो यक्षे राक्षसे सज्जनेऽपि च।
अमरटीका १।६०

'पुण्यजनका अर्थ यक्ष, राक्षस और सज्जन ऐसा है।' सज्जन भी अर्थ है और राक्षस भी अर्थ है!! इसका भाव यही है कि यह पहिले सज्जन था पीछेसे राक्षस बना। पहिले ये लोग सज्जन जैसा आचारव्यवहार करते थे पीछेसे उनका आचारव्यवहार बिगड गया। इसलिये यही 'पुण्यजन' शब्द राक्षसवाचक बना।

'पुण्य-जन' शब्द 'पुण्यकारक कर्म करनेवाला सज्जन' इसी अर्थमें प्रारंभमें था इसमें संदेह नहीं है। इसका कोई किसी प्रकार भी हीन अर्थ हो ही नहीं सकता। ऐसा होता हुआ भी इस समय इस 'पुण्यजन' शब्दका अर्थ बिलकुल उलटा हो गया है! 'पुण्यजन' को 'पापी'

कौन कहेगा। पर यहां इस पदके अर्थके विषयमें ऐसा ही हुआ है। जो सचमुच प्रारंभमें पुण्यकर्म करते थे, वे ही पश्चात् हीन कर्म करने लगे!! वेदोंमें पुण्यजन पद अच्छे अर्थमें हैं देखिये—

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान्
पुण्यजनान् पितॄन्। अथर्व० ८।८।१५; ११।९।२४

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्।
अथर्व० ११।६।१६

यहां पुण्यजनोंको देव और पितरोंके साथ गिना है। पितर रक्षक हैं, देव तो दिव्य गुणवाले प्रसिद्ध हैं; इनके साथ रहनेके कारण पुण्यजन भी अच्छे ही कर्म करनेवाले हैं।

'पूर्व देव' और 'पुण्यजन' ये दोनों पद राक्षसोंकी गिरावटका बडा भारी इतिहास बताते हैं। आज किसीको यदि कहा जाय कि राक्षसोंका नाम 'पुण्यजन' है तो इस पर कोई विश्वास भी नहीं रख सकेगा। राक्षस 'पुण्यजन' हो कैसे सकते हैं ऐसा ही लोग पूछने लगेंगे, पर जिस समय 'राक्षस' का अर्थ 'रक्षक' होता था, उस समय वे 'पुण्यजन' ही कहलाते थे। जनताकी रक्षा करना यह पुण्य कर्म ही है, यह देवोंके कर्मके समान ही कर्म है। इस लिये 'पुण्यजन' और 'पूर्वदेव' ये पद प्रथम अच्छे अर्थके साथ संबद्ध थे। पश्चात् उन रक्षक पुण्यजनोंका आचारव्यवहार बिगडा, इस कारण वे शब्द तो उनके लिये वैसे ही प्रयुक्त होते रहे, परन्तु उन शब्दोंका अर्थ बिगड गया।

क्या कभी ऐसा हो सकता है? हां मानवी इतिहासमें ऐसा होता ही रहता है।

सज्जनका दुर्जन

कोई शासनाधिकारपर आता है। वह प्रथम अपना कार्य सुयोग्य रीतिसे करता है। सेवाभावसे जनताकी सेवा करता है, दक्षतासे तथा निःपक्ष होकर अपना शासनाधिकारका कार्य उत्तम रीतिसे करता है। हरएक प्रजाजन इसके कार्यसे सन्तुष्ट होते हैं। अतः सब इसकी प्रशंसा करते हैं। राष्ट्रीय सरकारमें भी इसका नाम और यश बढता रहता है। वहां भी उसकी उन्नति होती है और मान्यता बढती है।

पतनका कारण

इस तरह वह उन्नत होता है, यश कमाता है, चारों ओर कीर्ति प्राप्त करता है, तब उसमें घमण्ड आने लगती है, वह रिश्वत लेने लगता है, पक्षपात करके पैसे कमाता है। दुराचार भी करने लगता है। ऐसा होते होते वह बिगडता है और अत्याचार करने लगता है। इस तरह जो पहले 'रक्षक' था वही अन्तमें 'राक्षस' बना, जो प्रारंभमें 'पुण्यजन' था वही अन्तमें 'पापीजन' बना। जो पहिले 'देव' था वही अन्तमें 'असुर' बना। इसी रीतिसे रक्षकोंके राक्षस होते हैं। यह भ्रष्टता दुराचारसे होती है।

राजकीय पक्षकी गिरावट

राजकीय पक्षोंमें भी ऐसी ही गिरावट होती है। एक पक्ष 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य' आदि शुभगुणोंका पालन करके राष्ट्रमें अपने पक्षका अधिकार जमाता है। इस पक्षके सब लोग तत्परतासे जनसेवा करते हैं, हर प्रकारके कष्ट उठाकर राष्ट्रसेवाके लिये तनमनधन अर्पण करते हैं। जनसेवाके सिवाय कुछ भी दूसरा कार्य नहीं करते। जनसेवाके लिये जो कष्ट सहन करना पडे वे कष्ट आनंदसे सहते हैं। इस तरह यह पक्ष राष्ट्रमें शासनाधिकार प्राप्त करता है। जनता आनंदसे उस पक्षको शासनाधिकारके लिये चुनती है राज्यशासनपर आनेके बाद भी वह अत्यंत उत्तम कार्य करता है। सबके आशीर्वाद लेता है। इसके पश्चात् उस पक्षके कई लोगोंमें स्वार्थ आने लगता है। कुछ लोग स्वार्थवश रिश्वतखोरी, पक्षपात, चालबाजी, धोखेबाजी करने लगते हैं। पक्षके लोग ये लोग अपने हैं इसलिये उनका बचाव करते हैं दंभस्फोट होने नहीं देते। इस तरह अत्याचार बढता जाता है। अत्याचारियोंके बचाव करनेका अधिक प्रयत्न इस पक्षसे होता है। अन्तमें इस तरह वह पक्ष संपूर्णतया गिरता है और उस पक्षका नाम ही उलटे अर्थमें प्रयुक्त होने लगता है! वह एक उस पक्षका नाम गाली जैसी मानी जाती है। राष्ट्रोंके इतिहासोंमें हम देखते हैं कि ऐसे पक्षके पक्ष गिरते हैं और नये पक्ष खडे होते हैं। जो नया पक्ष खडा होता है वह 'सुरपक्ष' कहलाता है और पुराने गिरे हुए पक्षको 'असुर पक्ष' कहने लगते हैं। देखिये—

छोटे भाई और बडे भाई

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवाः ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेषु अस्पर्धन्त। ते ह देवा ऊचुः। हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति।

बृहदारण्यक १।३।१

'देव तथा असुर ये दोनों प्रजापतिके ही सन्तान थे। उनमें छोटे भाई देव और बडे भाई असुर थे। ये दोनों इस लोकमें आपसमें अधिकार प्राप्त करनेके लिये स्पर्धा करने लगे। देवोंने कहा कि हम उद्गीथसे यज्ञमें असुरोंका पराभव करेंगे।'

असुर और देव एक ही राष्ट्रकी प्रजा है। प्रथम जिनके हाथमें अधिकार आया था, वे प्रथम अच्छे थे। पीछेसे बिगड गये और उस कारण उनको असुर कहने लगे। नया पक्ष उठकर खडा हुआ, वह राजकीय आयुमें छोटा था। इस कारण वह तरुणोंका पक्ष (कानीयसा देवाः) समझा जाने लगा। जिनके हाथोंमें राष्ट्रशासनका अधिकार था वह (ज्यायसा असुराः) वृद्धोंका पक्ष था। उसमें अपने हाथमें अधिकार रखनेके लिये अत्याचार करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। इस तरह 'असुर बडे भाई और देव छोटे भाई करके कहने लगे।' अन्तमें देवोंने असुरोंका पराभव किया और अपने हाथमें राष्ट्रशासनकी बागडोर ली। देवासुर संग्रामका राजकीय भाव यही है।

इसी तरह हरएक समय होता रहता है। पुराने पक्षका नाम 'पूर्व देवाः' है और नये पक्षका नाम 'देवाः' है। भारतमें मुसलमान आगये। शासन करने लगे। पीछेसे वे बिगड गये, उनके स्थानपर भारतीय लोग आगये। पीछेसे अंग्रेज आगये, वे भी अत्याचार करने लगे, तब भारतके लोग उठने लगे। राष्ट्रीयसभामें नये लोग आने लगे और वे अंग्रेजोंको 'सैतान' कहने लगे और अपने आपको 'देवता' मानने लगे।

नरम और गरम दल

इस राष्ट्रीय सभावालोंमें भी 'नरम दल' और 'गरम दल,' ऐसे दो दल होगये। नरम दलके हाथमें राष्ट्रसभा थी। वह गरम दलवालोंने तोडी। उस समय गरम दलवाले नरम दलवालोंको 'दुष्ट' कहने और अपने आपको सच्चे 'राष्ट्रीय हितैषी' मानने लगे थे। इस तरह दैवी पक्षवालोंने असुर पक्षको तोडकर राष्ट्रमें प्रचंड आन्दोलन करके अपना स्वराज्य प्राप्त किया। जिस पक्षने स्वराज्य प्राप्त किया, वह 'देव पक्ष' और जिसका पराभव किया वह 'असुर पक्ष' था।

इस तरह राष्ट्रकी उन्नतिमें सुरासुर संग्राम चलता ही रहता है। नवीन तरुणोंका पक्ष देव पक्ष और पुराणा जीर्णमतवादी पक्ष असुरोंका समझा जाता है। पुराणोंमें भी देखा जाय तो कई राक्षस अच्छे थे, उनकी स्त्रियां पतिव्रता थी। वे सच्चरित्र भी थे। पहिले पहिले ऐसा ही होता है। पीछेसे गिरावट शुरु होती है।

पूर्वोक्त इतिहास देखनेसे असुर बडे भाई (ज्यायसा असुराः) थे, इसका भाव क्या है और देव छोटे भाई (कानीयसा देवाः) थे इसका आशय क्या है, इसका ठीक पता लग सकता है। यह पता लग जानेपर ही राक्षसोंका प्रथम 'रक्षण' करनेका कार्य था, परंतु वे ही पीछेसे लूटने और नाना प्रकारके कष्ट देने लगे, यह ऐसा क्यों हुआ इसका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। इतना अर्थमें परिवर्तन होनेके लिये बडा काल लगा होगा इसमें संदेह नहीं है। काल छोटा भी होगा अथवा बडा भी लगेगा, यह सब राष्ट्रकी परिस्थितिपर अवलंबित है। भारतीय राष्ट्रसभामें नरम और गरम दल २५।३० वर्षोंमें ही बन चुके थे। अर्थात् दो पक्ष बनना राष्ट्रकी जनताकी चित्तवृत्तिपर निर्भर रहता है।

अस्तु। यहां इस लेखमें यह बताया है कि, जो प्रारंभमें अच्छे होते हैं, वे ही कुछ कालके पश्चात् निंदनीय होते हैं। यह बात राजकीय क्षेत्रमें तथा धार्मिक क्षेत्रमें भी सत्य दीखता है।

लेनेयोग्य बोध

असुरों और राक्षसोंमें जन्मस्वभावसे क्रूर कर्म करनेवाले भी होते हैं। जो जन्मसे ही दुष्ट कर्मोंको करते रहते हैं। इनसे कभी अच्छे कर्म होते ही नहीं। ये स्वभावतः राक्षस होते हैं। इनकी गणना स्वतंत्र करनी योग्य है। ऐसे लोग स्वाभाविक दुष्ट मनःप्रवृत्तिके होते हैं। इनका वर्णन इस लेखमें करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

इनमें सुधार होना असंभव है और ये परिस्थितिके कारण बिगड नहीं होते, स्वभाव ही इनका दुष्ट है। हमने इस लेखमें उन राक्षसोंका विचार किया है कि जो परिस्थितिसे बिगड गये हैं, जो पहिले अच्छे थे और पीछेसे बिगड गये। इनका विचार करनेसे जो आज राष्ट्रके शासनाधिकार पर हैं उनको बोध मिलता है, वे सावध रहें और दक्षतासे अपने आपको गिरनेसे बचावें। केवल राजकीय पुरुषोंके लिये ही नहीं परंतु धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रके अन्दर कार्य करनेवाले पुरुषोंको भी इस लेखसे बोध मिल सकता है। ये लोग बोध लें और अपना बचाव गिरावटके मार्गमें न जाकर करें, यह इस लेखका मुख्य उद्देश्य है। जो स्वभावसे क्रूर हैं, राक्षस हैं उनमें सुधार नहीं होगा और ऐसे दुष्ट आततायिओंको इस लेखसे कोई बोध मिलनेकी संभावना ही नहीं है। जो अच्छे हैं, वे ही अपनी गिरावट न हो इस हेतुसे दक्ष रह सकते हैं।

सूक्ष्म रोगजन्तुरूपी राक्षस

सूक्ष्म रोगजन्तु भी राक्षस संज्ञक होते हैं और वेदमें तथा संस्कृतभाषामें राक्षसवाचक बहुतसे नाम इन रोगजन्तुओंके भी वाचक होते हैं। इसका विचार यहां अब हम करते हैं— नीचे राक्षसवाचक नाम और उनका रोगजन्तुवाचक अर्थ हम प्रथम देते हैं।

१ रात्रिचर, रात्रीचर, निशाचर, क्षपाचर– रोगजन्तु रात्रीके समय, अन्धेरेमें, जिस स्थानमें सूर्यप्रकाश नहीं पहुंचता वहां होते हैं और वहीं विशेष रूपसे बढते हैं। सूर्यप्रकाश नहीं होता उस स्थानमें ये होते हैं। उसी स्थानमें रहकर ये मानवोंपर आक्रमण करते हैं। इसलिये इन रोगजन्तुओंके ये नाम सार्थ होते हैं।

सूर्यको 'शोचिष्केश' वेदमें कहा है, शुद्धता करनेवाले सूर्यकिरण होते हैं। इसलिये यह नाम सूर्यके लिये दिया है। सूर्यकिरण जहां पहुंचते हैं वहां शुद्धता होती है और इस कारण वहां रोगकृमि नहीं रहते। अर्थात् अशुद्ध स्थानमें ये रहते हैं।

उत पुरस्तात् सूर्य एति
विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन् अदृष्टांश्च
सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन्॥ अथर्व० ५।२३।६

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु
निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ १॥ अथर्व० २।३२।१

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेषु
ओषधीषु पशुष्वप्स्व(न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः
सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥ अथर्व० २।३१।५

'पूर्व दिशासे सूर्यका उदय होता है। दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंका वह सूर्य अपने किरणोंसे नाश करता है। उगनेवाला सूर्य क्रमियोंका नाश करता है और अस्त होनेके समय भी वह क्रिमियोंका नाश करता है। जो पृथ्वी सूक्ष्म क्रिमी होते हैं उनका नाश सूर्यकिरणोंसे होता है। पर्वतों, वनों, ओषधियों तथा पशुओंमें जो क्रिमी होते हैं, जो हमारे शरीरोंमें घुसे होते हैं, उन सब क्रिमियोंके उद्गमका ही हम नाश करते हैं।'

इस तरह वेदमें रोगक्रिमियोंके विषयमें विवेचन है। अर्थात् ये रोगकृमि अन्धेरेमें होते, बढते और फैलते हैं और सूर्यप्रकाशसे विनष्ट होते हैं।

आजका विज्ञान भी रोगक्रिमियोंके विषयमें ऐसा ही कहता है।

२ असुराः– 'सुर' नाम सूर्यका है। जहां सूर्य नहीं होता अर्थात् जहां सूर्यप्रकाश नहीं पहुंचता वहां ये होते हैं। इसलिये इन रोगकृमियोंका यह नाम हुआ है। 'सुर-द्विषः' – सूर्यका द्वेष करनेवाले। यह नाम भी उक्त कारण ही रोगकृमियोंको दिया गया है।

३ यातु– यातना देनेवाले। रोगकृमियोंका शरीरमें प्रवेश होनेसे शरीरमें कष्ट, यातना या दुःख अथवा दर्द होता है। शरीरके अंगों और अवयवोंमें जो कष्ट होते हैं वे इन रोगकृमियोंके शरीरमें होनेके कारण ही होते हैं। जिस समय शरीरमें पीडा होने लगती हैं, उस समय समझना चाहिये कि, शरीरमें किसी न किसी तरहके रोगजन्तु घुसे हैं। उनको दूर करनेसे शरीर स्वस्थ होता है और शारीरिक क्लेश दूर होते हैं। 'यातु-धानः' – यातना देनेवाला। शरीरमें पीडा उत्पन्न करनेवाला यह रोगकृमि होता है।

४ क्रव्याद्, क्रव्यादः, असृपः, अश्रपः– मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला यह इनका अर्थ है। ये रोगकृमि शरीरमें घुसते हैं, वहां रक्तमांसमें निवास करते हैं और उस रक्तमांसको खाते हैं। (असृ-पः, अश्र-पः) इन पदोंका अर्थ रुधिर पीनेवाला है। ये रक्तमें रहकर रक्तबिन्दुओंको खाते हैं। (क्रवी-अदः) कच्चा मांस भी ये खाते हैं। रक्त खाने या पीनेके पश्चात् वहांका मांस भी खाते हैं। इसलिये जिसके शरीरमें रोगकृमि होते हैं वह कृश, दुर्बल और निःशक्त होता है।

५ आशरः– (शॄ हिंसायां) हिंसक, क्षीणता निर्माण करनेवाला, कर्बुरः– (कर्ब हिंसायां) विनाश करनेवाला, हिंसा करनेवाला, यह रोगकृमि होता है।

६ नैर्ऋतः— (निः ऋतिः) शुभ अवस्थाको दूर करनेवाला, अशुभ अवस्था लानेवाला यह रोगकृमि होता है।

७ रक्षस्, राक्षसः– (रक्षन्ति यस्मात्) जिससे अपना बचाव करना चाहिये। रोगकृमियोंसे अपना बचाव करना चाहिये। इन कृमियोंमें भी कई कृमि ऐसे होते हैं कि जो शरीरके सहायक भी होते हैं और दूसरे शरीरके नाशक भी होते हैं। 'राक्षस' के दो अर्थ इससे पूर्व बताये हैं, एक अर्थ 'रक्षक' अर्थवाला है और दूसरा 'घातक' अर्थवाला है। ये दोनों अर्थ यहां लगते हैं। कृमि रक्षक भी हैं और घातक भी हैं।

इस तरह रोग जन्तुओंके अर्थमें ये राक्षस वाचक पद लगते हैं। दोनों स्थानोंमें ये पद सार्थ होते हैं। मानवोंमें रक्षकोंके जैसे राक्षस होते हैं, उसी तरह सूक्ष्म कृमियोंमें भी होते हैं और जैसे मानवी राक्षसोंमें कई राक्षस स्वभावसे ही दुष्ट होते हैं। इसी तरह यहां भी कई कृमि स्वभावसे ही दुष्ट होते हैं और उनसे कभी किसीका कल्याण होता ही नहीं है। दोनों स्थानोंमें यह साम्य है इसीलिये मानवी राक्षसोंके वाचक शब्द रोगकृमियोंके भी वाचक होते हैं।

मानवी राक्षसोंके वर्णनमें उन कृमियोंके दांत, नाखून आदि विकराल होनेका वर्णन है। वास्तवमें वैसे मानवी राक्षस नहीं होते, परंतु ये रोगकृमि वैसे होते हैं। वस्तुतः ये रोगकृमि आंखसे दीखते भी नहीं, अति सूक्ष्म होते हैं। परंतु इनके चित्र मानवों जैसे बडे किये जांय, तो इनके दांत, आंख, हाथ, नाखून आदि बडे विशाल भयानक अकाल, विकराल दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं परंतु इनके अनेक आंख, अनेक तीक्ष्ण हाथ, अनेक विकराल दाढें तथा अनेक मुख भी विलक्षण तथा भयानक होते हैं। कदाचित् राक्षसोंके वर्णन इन कृमियोंके ही वर्णन होंगे, ऐसा प्रतीत होने लगता है। वेदमें भी ऐसे कृमियोंके वर्णन हैं—

विश्वरूपं चतुरक्षं कृमिं सारंगं अर्जुनम्।
अथर्व० २।३२।२

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं कृमिं सारंगमर्जुनम्।
अथर्व० ५।२३।९

'अनेक रूपोंवाले, चार आंखवाले, अनेक रंगोंवाले, श्वेत रंगवाले, तीन सिरवाले, तीन ककुदवाले ऐसे अनेक प्रकारके कृमि होते हैं।' ऐसे वर्णन वेदमंत्रोंमें हैं। ये वर्णन देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूक्ष्म कृमियोंके विशाल आकारोंकी कल्पना करनेसे ही राक्षसोंके वर्णन जैसे वर्णन होना संभव है।

आज सूक्ष्म आकारका विशाल आकार करनेके साधन हमारे पास हैं। सूक्ष्म कृमि सहस्रों प्रकारके हैं, ये सहस्र गुणित आकारवाले करनेसे कैसे दीखते हैं, यह आज हम देख सकते हैं। कोई संशोधक इन आकारोंको बडा करके देखे और राक्षसोंके शरीरोंके वर्णनोंके साथ इनके शरीरकी तुलना करके देखे। यह एक बडा खोजका विषय हो सकता है।

कई राक्षस त्रिशीर्ष है। जिसका नाम ऊपरके मंत्रमें दिया है। कई राक्षस दशशीर्ष तथा दशास्य भी हैं। कई विरूप हैं, कई सुंदर रंगवाले भी हैं। यह सब इन सूक्ष्म कृमियोंमें हम देख सकते हैं।

अस्तु। इस तरह सूक्ष्म राक्षसोंका विचार वेदमंत्रोंमें है। बडे मानव राक्षसोंका विचार इस लेखमें प्रारंभमें किया है। आशा है कि विचार करनेवालोंके लिये इस लेखमें अधिक खोज करनेके लिये आवश्यक साधन प्राप्त होंगे।

मानवी राक्षस जैसे प्रथम उत्तम होनेपर भी पीछेसे बिगडते हैं, वैसे ही सूक्ष्म जन्तुओंमें भी कई जन्तु हैं। जैसे कई मानवी राक्षस सर्वथा उपद्रवकारी होते हैं, वैसे ही ये सूक्ष्म जन्तुओंमें भी कई जातीके जन्तु वैसे ही सदा उपद्रव-

कारी होते हैं। इस तरह इनके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

राक्षसोंका नाशक वैद्य

इस समयतक बडे देहधारी मानव राक्षसोंका वर्णन किया गया है। अब सूक्ष्म भी राक्षस हैं। सूक्ष्म राक्षस इतने सूक्ष्म होते हैं कि, जो आंखसे दीखते भी नहीं और जिनको वैद्य अपने औषधी प्रयोगसे मारते हैं। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

यत्र ओषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥

ऋ. १०।९७।६

' जिसके पास औषधियां संग्रहित होती हैं, जैसे राजा लोग, अथवा योद्धा लोग युद्धभूमिमें इकट्ठे होते हैं, उस विप्रको ' भिषक् ' अर्थात् वैद्य कहते हैं। यह वैद्य (रक्षो-हा) राक्षसोंका वध करनेवाला है और इस कारण वह (अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला होता है। '

योद्धावीर युद्धभूमिमें संमिलित होते हैं और शत्रुका वध करते हैं। इसी तरह औषधियां वैद्यके औषधालयमें इकट्ठी होती हैं, जो राक्षसोंका नाश करती हैं और इस कारण रोगोंको दूर करनेवाली होती हैं।

अपचित आमसे रोग

यहां ' अमीव ' पद रोगोंका वाचक है। पेटमें जो अन्न ठीक तरह पचन नहीं होता उसको ' आम ' कहते हैं। अपचित अन्नको ' आम ' कहते हैं। ' आम-वान् ' का ही दूसरा नाम ' अमी-व ' है। आमके साथ जो रहता है। आमके कारण जो बढता है। वही रोग है। इस रोगको दूर करनेवाला वैद्य ' अमीव-चातन ' कहलाता है। आमजन्य रोगोंको दूर करना वैद्यका कार्य है। साथ साथ यह वैद्य (रक्षो-हा) राक्षसोंका नाश करनेवाला भी है। ये राक्षस पेटमें तथा अन्यान्य अवयवोंमें रहते हैं और वहां रोगोंको बढाते हैं। इसीलिये वैद्यको आवश्यक होता है कि वह अपने औषधिप्रयोगसे आमका नाश करे और आमके आश्रयसे रहनेवाले इन राक्षसोंका भी नाश करे। इन शरीरस्थ राक्षसोंका नाश करनेसे रोग नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य नीरोग होते हैं।

' रक्षः ' का अर्थ रक्षा करनेवाला, रक्षण करनेवाला है। किसी अवस्थातक वे आमको खाते हैं इससे आमजन्य रोगोंसे मनुष्यकी रक्षा भी होती है। पर पश्चात् जब ये ही बढ जाते हैं तब ये ही जो प्रथम रक्षक थे, वे ही विनाशक सिद्ध होते हैं। इनके सूक्ष्म होनेके संबंधमें शतपथमें एक वर्णन आया है वह यहां देखने योग्य है—

कृष्णाजिनमें राक्षस

अथ कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति। चर्म वा एतत् कृष्णस्य, तन्मानुषं शर्म देवत्रा, तस्मादाह शर्मासीति। तदवधुनोति। अवधूतं रक्षः। अवधूता अरातयः इति। तन्नाष्ट्रा एव एतद्रक्षांसि अतो अपहन्ति अतिनत्येव पात्राण्यवधुनोति यद्यस्यां अमेध्यं अभूत् तद्धास्यै तदवधुनोति। शतपथ १।४।४

' अब कृष्णजिनको उठाता है और कहता है कि तू कल्याणकारी है। यह कृष्णाजिन चर्म है, यह मनुष्यका कल्याण करनेवाला है। इसलिये वह कहता है कि, तू कल्याणकारी है। उस चर्मको झिडकता है। इससे इसमें रहे राक्षस दूर गिर जाते हैं। राक्षस गिर गये, शत्रु गिर गये। ऐसा वह कहता है। चर्म झिडकनेसे ये राक्षस गिर जाते हैं। ये विनाशक राक्षस गिर जाते हैं। पात्र इस तरह झिडकनेसे जो इनमें अपवित्रता रहती है वह दूर होती है।

यहां कृष्णाजिनमें राक्षस रहते हैं, कृष्णाजिन झिडकनेसे ये राक्षस गिर जाते हैं और वह चर्म निर्दोष होता है। जो राक्षस चर्मपर, कृष्णाजिनपर रहते हैं और जो चर्म झिडकनेसे गिर जाते हैं, वे राक्षस कितने सूक्ष्म होते होंगे, यह सहज ध्यानमें आ सकता है। ये सूक्ष्म राक्षस हैं, जो रोग उत्पन्न करते हैं। कृष्णाजिन झिडकनेसे—

अवधूतं रक्षः। अवधूता अरातयः।

' राक्षस गिर गये, शत्रु गिर गये।' ये सूक्ष्म ही होंगे जो चर्म झिडकनेसे मरते हैं, या गिर पडते हैं। ये राक्षस नाश करनेके लिये वनस्पतिका उपयोग किया जाता है देखिये—

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्।
रक्षः पिशाचानपबाधमानः। अथर्व० १२।३।१५

' दिव्य गुणधर्मवाली वनस्पति हमारे पास आती है जो राक्षसों, पिशाचोंको नष्ट करती है। ' राक्षसों, असुरों और पिशाचोंको नाश करनेवाली वनस्पति है। इसी तरह और देखिये—

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतो अपसे-
धामि सर्वान् ॥ ११ ॥ आरादरातिं निर्ऋतिं
परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् । रक्षो यत्सर्वं
दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मि ॥ १२ ॥ अथर्व० ८।२

'वैवस्वत यमने भेजे हुए सब यमदूतोंको जो इस प्रदेशमें भ्रमण कर रहे हैं उन सबको मैं दूर करता हूं। अराति, निर्ऋति, ग्राही, क्रव्याद, पिशाच और सब राक्षसोंको जो रोग निर्माण करते हैं, उन सबको मैं दीप अन्धकारको दूर करता है उस तरह दूर करता हूं।'

यहांके ये पद विशेष रीतिसे देखने योग्य हैं—

१ ग्राही— जो रोग पकडकर रखता है, छोडता नहीं,

२ क्रव्यादः— मांस खाता है, जिस रोगमें मांस क्षीण होता रहता है।

३ पिशाचः— (पिशित-अचः) रक्त खानेवाला। जो रोग रक्तका नाश करता है।

४ दुर्भूतं— विपरीत बनाना, शरीरको क्षीण करना,

५ अराति— (अ-राति)- दान न देनेवाला, भोजन खाया तो उस भोजनसे पुष्टि होने नहीं देता ऐसा रोग,

६ निर्ऋति— विनाशकी ओर जो ले जाता है।

ये नाम इन मंत्रोंमें हैं। ये सब रोगके कृमि हैं। इनका नाम यहां 'राक्षस अथवा असुर' कहा है।

७ असुर— (असु-रः)- जो प्राणका नाश करता है।

ये सब नाम इन रोगकृमिरूपी राक्षसोंके हैं। इन राक्षसोंका नाश वैद्य अपने औषधियोंसे करता है। राक्षस, पिशाच, असुर आदिकोंका नाश औषधियोंके प्रयोगसे वैद्य करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये रोगकृमि ही ये राक्षस हैं, जो शरीरमें जाकर आमका आश्रय करके वहां रहते और अनेक अवयवोंमें जाकर वहां नाना प्रकारके रोग तथा क्षीणता उत्पन्न करते हैं और मानवोंको सताते हैं। ये 'राक्षस' अर्थात् सूक्ष्म कृमि हैं। ये मानवी देहमें जाते हैं और अनेक प्रकारके कष्ट उत्पन्न करते हैं।

राक्षसहन्ता अग्नि

अग्नि भी इन राक्षसोंका नाश करनेवाला है। इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

उप प्रागाद्देवोऽग्नी रक्षोहाऽमीवचातनः।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥
अथर्व० १।२८।१

'यह अग्नि (रक्षो-हा) राक्षसोंका नाश करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोगोंको भी दूर करनेवाला है। (यातुधानान्) यातना बढानेवाले, तथा (किमीदिनः) बुभुक्षित तथा रक्तमांसादिको खानेवाले जो रोगकृमि हैं उनका नाश यह अग्नि करता है।'

ये रोगकृमि राक्षस कहलाते हैं, यातुधान कहलाते हैं, क्योंकि ये शरीरमें बडी यातनाएं बढाते हैं और (किमीदिनः) आज यह खाया, कल और क्या खाऊं ऐसा कहनेवाले ये रोगकृमि होते हैं। ये सब रोग कृमियोंके नाम हैं। अग्नि इन कृमियोंका नाश करता है।

जिस समय किसी ग्राममें रोगका प्रादुर्भाव होता है, उस समय ग्रामके मुहल्लेमें आग जलाते हैं, होलियाँ बनाते हैं। इस तरह अग्नि जलानेसे उसकी आजुबाजूकी हवामें जो ये रोगकृमि होते हैं वे सब इस आगसे जल जाते हैं और इस तरह अग्नि जलानेसे इन रोगकृमियोंका नाश होता है। इसीलिये 'अग्नि' के नाम 'रक्षो-हा' 'असुर क्षयणः' ऐसे वेदमें दिये हैं। यज्ञसे राक्षस नाश होते हैं इसका भी अर्थ यही है।

राक्षसनाशक शंख

शंख भी राक्षसोंका नाश करता है, इस विषयमें वेदमंत्र देखिये—

यो अग्रतो रोचमानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्रिणो विषहामहे ॥
अथर्व. ४।१०।६

'जो प्रथम समुद्रसे उत्पन्न होता है, जो तेजस्वी है उस शंखसे राक्षस और अत्रियोंको हम विनष्ट करते हैं।' यहां 'रक्षांसि' पद पूर्वोक्त राक्षसोंका वाचक हैं तथा 'अत्रि' भी उन रोगकृमियोंका वाचक है। 'अत्ति इति अत्रिः' जो रस रक्तमांस आदि शरीरस्थ सप्त धातुओंको खाता है, वह अत्रि है। रोगके कृमि शरीरमें घुसकर शरीरस्थ सप्त धातुओंको खाते हैं इसलिये इनका नाम अत्रि है। ये भी रोग कृमि ही हैं। शंख इनका नाश करता है। शंख भस्म अथवा शंखसे बनी कोई दूसरी औषधि इन रोगकृमियोंका नाश करती हैं। इस तरह शंख राक्षसोंका विनाशक सिद्ध होता है। अब एक मंत्र देखिये—

गन्धसे राक्षसोंका नाश

अजशृंगी अज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय।
अथर्व० ४।३७।२

' अजशृंगी औषधी अपने गन्धसे— अपने वाससे सब प्रकारके राक्षसोंको– सब प्रकारके रोगकृमियोंको विनष्ट करती है। ' इस मंत्रसे यह सिद्ध होता है कि वनस्पतियोंका गन्ध ही इन सूक्ष्म राक्षसोंका विनाश करनेवाला है।

ये रोगकृमि इतने अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। सूर्यकिरणसे भी इनका नाश होता है। सूर्य प्रकाशसे ये नष्ट होते हैं और अन्धेरेमें ये बढते हैं। इस विषयमें कुछ मंत्र यहां देखने योग्य हैं—

सूर्यप्रकाशसे कृमिनाश

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगं अर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥
प्र ते शृणामि शृंगे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुसुमं यस्ते विषधानः ॥ ३ ॥
अथर्व० २।६।१–३

ये कृमीअनेक रंगों और अनेक रूपोंवाले होते हैं। कई श्वेत हैं, कई लाल है, कईयोंके चार नेत्र हैं। इन सबका नाश मैं करता हूं। कईयोंको दो सींग होते हैं, इनसे ये प्राणियोंको काटते हैं। इनमें विषकी थैली होती है, जिससे विष काटनेसे होनेवाली जखमके स्थानमें जाता है और वहां बाधा उत्पन्न करता है।

यहां सूर्य किरणोंसे इन क्रिमियोंका नाश होता है ऐसा स्पष्ट कहा है। ये ही कृमी मनुष्यको नाना प्रकारकी बाधाएं करते हैं। इसलिये इनका नाश हो, ऐसे शब्द इन मंत्रोंमें हैं।

वेदमें ' रुद्र ' यह नाम भी रोगकृमियोंके लिये आया है। (रोदयन्ति इति रुद्राः) जो रुलाते हैं वे रुद्र हैं। जो रोगकृमि मनुष्यको रोग उत्पन्न करते हैं और रोगोंसे ग्रस्त होनेके कारण रुलाते हैं, वे रुद्र हैं। इनका प्रभाव देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
वा० य० १६।६२

' जो अन्नोंमें तथा पीनेके पानीमेंसे पेटमें जाकर अनेक प्रकारके व्याधी उत्पन्न करते हैं। ' ये रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म कृमि ही हैं।

शरीरमें कृमि

शरीरमें भी कृमि होते हैं इस विषयमें अगला मंत्र देखिये—

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जंभयामसि ॥
अथर्व० २।३१।४

' आंतोंमें, मस्तकमें, पसलियोंमें, घूमनेवाले तथा अध्वरका अर्थात् यज्ञका विरोध करनेवाले, अथवा यज्ञसे विनष्ट होनेवाले जो क्रिमी हैं, उनको मैं वचासे नष्ट करता हूँ। '

यहां वचासे ये कृमि नष्ट होते हैं ऐसा लिखा है। ' वचा ' एक उग्रगंधी वनस्पति है। इसके गंधसे रोगके कृमि नष्ट होते हैं।

कई विद्वान् यहांके ' वचः ' पदसे मंत्रशक्तिद्वारा कृमियोंका नाश होता है ऐसा समझते हैं। वैसा अर्थ ' वचसा जंभयामसि ' इन पदोंसे प्रकट होता है। इसमें संदेह नहीं। ऐसे अर्थोंके विषयमें विद्वानोंको खोज करनी चाहिये।

यहां हमने यह बताया कि ' रक्षः , राक्षस, असुर ' आदि पदोंके अर्थ जिस तरह मानवोंके लिये प्रयुक्त होते हैं, उसी तरह इन पदोंके अर्थ सूक्ष्म रोगकृमियोंके रूपमें भी होते हैं।

इसमें आश्चर्यकी बात यह है कि ' रात्रींचर, निशाचर, ' आदि राक्षस वाचकपद मानवी अर्थमें तथा सूक्ष्म कृमियोंके अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं। रक्षक अर्थमें भी दोनों पद प्रयुक्त होते हैं और विनाशक अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं।

रक्तभक्षक, मांसभक्षक, शरीर शोषक आदि अर्थोंमें दोनों पद प्रयुक्त होते हैं। पाठक इनका विचार करके राक्षसोंके इस क्षेत्रको जाने और वेदमें रोगकृमियोंकी विद्या इस तरह बतायी है यह समझें।

बोध लेना योग्य है

विशेषतः मानव राक्षसोंके पतनका विचार हमें अधिक करना आवश्यक है, क्योंकि उससे हमें यहांका व्यवहार अधिक दक्षतासे करनेका बोध मिल सकता है और अपने पतनको हम इस ज्ञानसे रोक सकते हैं। आशा है कि पाठक इस मननसे अपने जीवनमें लाभ उठावेंगे।

राक्षसोंके चरित्र तथा उनकी स्त्रियोंकी धर्मनिष्ठा

यहांतक ' राक्षस ' प्रथम समयमें ' रक्षक ' (पहरेगीर) थे, जनताकी सुरक्षा करते थे, इसलिये उनका गौरव होता था। पीछेसे वे बिगड गये, इसलिये उनके नामोंका अर्थ भी बदल गया और उनका निरादर, द्वेष तथा वैर

होने लगा, ऐसा आशय राक्षसोंके नामोंकी विचिकित्सा करके बताया है। इस विषयमें हमें यहां कई प्रमाण इतिहासके बताने हैं।

प्रातःस्मरणीय नामोंमें राक्षस स्त्रीका नाम भी है।

मन्दोदरी

" अहल्या, द्रौपदी, सीता,
तारा, मंदोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यम्
महापातकनाशनम्। (प्रातः स्मरणस्तोत्र)

" अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी, ये पांच स्त्रियोंके नाम प्रतिदिन लेने योग्य हैं।" इसमें ' मन्दोदरी ' इस रावणकी धर्मपत्नीका नाम है। प्रातःस्मरणीय स्त्रियोंमें दुष्टसे दुष्ट रावणकी पत्नीका नाम लिया है। अर्थात् यह श्रेष्ठ पतिव्रता थी। श्रेष्ठ पतिव्रता राक्षसकी स्त्री हुई तो भी वह वंदनीय ही है और वह प्रातःस्मरणीय ही है।

रावणका नाम कोई प्रातः समयमें नहीं लेगा, पर रावणकी पत्नी ' मन्दोदरी ' का नाम अवश्य लेगा। इतना आदर रावणकी पत्नीके विषयमें आर्योंमें था।'

शुभगुण जहां भी हों वहां उनका आदर होना चाहिये, यहां हम देखते हैं कि राक्षसस्त्रियोंमें पतिव्रता धर्म पालन करनेका शुभगुण अच्छी प्रकार था। कई और राक्षसकी धर्मपत्नीयोंमें भी यह सती धर्म प्रकट रूपमें था।

वृन्दा

मन्दोदरीके समान ' वृन्दा ' नामक राक्षसी भी अत्यंत पतिव्रता थी। वृन्दाका पिता ' कालनेमी ' राक्षस था और ' स्वर्णा ' उस वृन्दाकी माता थी। इनसे वृन्दाका जन्म हुआ था। (पद्म पुराण उ० ४) यह वृन्दा ' जालंधर ' राक्षसकी पत्नी थी। जालंधर उपद्रवकारी होनेपर भी उसकी पत्नी उत्तम पतिव्रता थी। इतना ही नहीं पर उस समय राक्षसोंकी पत्नियां अपनी सतीत्वकी सुरक्षा भी अच्छी तरह करती थी इसलिये राक्षसोंका बल बढ रहा था। यह बात वृन्दाके जीवनमें स्पष्टरूपसे लिखी है।

यह वृन्दा अज्ञात अवस्थामें सतीत्व भंग होनेके कारण स्वयं जल मरी और इसके पुण्यस्मरणके लिये ' वृन्दावन ' पवित्र क्षेत्र और पुण्यस्थान बसा, वह मथुराके पास आज भी प्रसिद्ध है। अब इसके पतिका जीवनवृत्त सुनिये—

जालंधर राक्षसका वृत्त

जालंधर शास्त्र जाननेवाला बडा चतुर विद्वान राक्षस था। यह भगवान् शंकरके समान ही प्रबल था, इसलिये दूसरे किसी वीरके द्वारा मारा जासके ऐसा नहीं था। (पद्म. उ. ९९-१०४)।

समुद्रमेंसे नया प्रदेश उत्पन्न हुआ, वह जालंधरनगर करके आज भी प्रसिद्ध है। इस स्थानपर पूर्व समयमें समुद्र था। इस प्रदेशपर जालंधर राक्षस राज्य करता था। मयासुरने इस जालंधरको एक नगरी बना दी, वह जालंधर नगरी है। इस जालंधरका विद्या अध्ययन श्री शुक्राचार्यके गुरुकुलमें हुआ। यह विद्वानोंमें बडा विद्वान और ज्ञानी था। यहांतक इसकी विद्या बढ गयी थी, कि ' संजीविनी विद्या ' भी इसको सिखायी गयी थी। मृतको पुनः संजीवन करनेकी विद्याका नाम ' संजीविनी विद्या ' है। यह विद्या शुक्राचार्यजीके पास थी और उनसे कई राक्षसोंको भी विदित हुई थी इनमें जालंधर राक्षस भी था।

इस विद्यावान् जालंधरका विवाह पूर्वोक्त वृन्दासे हुआ (पद्म० उ० ३।१८)। यह जालंधर शुक्राचार्यके अनुशासनमें रहकर राज्यका पालन उत्तम रीतिसे करने लगा। इसका राज्यशासन अच्छा था और वृन्दाके कारण इसके राज्यमें स्त्रियां भी अपने सतीत्वका संरक्षण अच्छी तरह करती थी, इसलिये सतीत्वसे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य भी यहां अच्छा था।

एक वार इसने समुद्रमंथनका इतिहास सुना। उसमें इसने सुना कि देवोंने अमृत राक्षसोंको नहीं दिया और ऐसा करनेमें देवोंने कपटका आश्रय किया। यह सुनते ही उन्होंने देवोंका द्वेष करना प्रारंभ किया और देवोंसे युद्ध करना भी शुरु किया।

यहां जालंधरके पतन होनेका प्रारंभ हुआ। पाशवी बलसे दूसरोंका नाश करनेमें यह लगा। इन्द्र आदि देवोंका पराभव करके इसने इन्द्र पदपर अपनेको स्थापित किया। इस कारण देवोंको कष्ट होने लगे। इसलिये विष्णुने जालंधरके साथ युद्ध किया। पर विजय नहीं हुआ। परंतु विष्णुको जालंधरके राज्यमें जाकर रहना आवश्यक हुआ। यह एक प्रकारका विष्णुका पराभव ही था। इस तरह विष्णुदेव जालंधर नगरमें रहने लगा। आगे आलंधरने सब भूमंडलपर राज्य करना शुरु किया। इसके राज्यमें अधर्म नहीं

होता था। धर्मके राज्यशासनके लिये जालंधरकी प्रसिद्धि थी।

आगे चलकर जालंधर धर्मसे और नीतिसे भी भ्रष्ट होने लगा। परस्त्रीपर दृष्टि जाने लगी। राज्याधिकार हाथमें रहनेके कारण धर्मभ्रष्ट होनेकी संभावना बढने लगी। (शिव. २३)

इधर इसके राज्यमें भी धर्म आचरणमेंसे छूटने लगा। अधर्ममें स्त्रीपुरुषोंकी प्रवृत्ति होने लगी। इस कारण धर्मका बल क्षीण हुआ। जालंधरकी स्त्री वृंदा उत्तम पतिव्रता थी। पर वह भी अज्ञानवश धर्मभ्रष्ट हुई। यह प्रमाद होनेका ज्ञान वृन्दाको जब हुआ तब वृंदाने जलकर मृत्यु प्राप्त किया। यह स्थान आजका वृंदावन करके प्रसिद्ध है। इधर जालंधर भी शिवजीके साथ युद्ध करनेके समय शिवजीके अस्त्रसे मारा गया। इसका कारण इतना ही था कि राष्ट्रके स्त्रियों और पुरुषोंमेंसे धर्म चला गया था। (स्कंद २।४।१४-२२)

राक्षस प्रथम अच्छे सत्कर्मी थे पश्चात् भ्रष्ट हुए यही भाव इस कथामें है।

ऐसी कई राक्षस और राक्षस स्त्रियोंकी कथाएं हैं ! जो बताती हैं कि प्रथम राक्षस अच्छा कार्य करते थे, अच्छा तप करते थे, अच्छा राज्यशासन भी करते थे। परंतु पीछेसे शक्ती प्राप्त होनेपर भ्रष्ट हुए। कई राक्षस पहिलेसे ही बुरे थे परंतु कई अच्छे भी थे।

बलि, प्रल्हाद

बलि और प्रल्हाद ये राक्षस तो उत्तम राज्यशासन करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। इनके अच्छे होनेके विषयमें किसीको कोई संदेह ही नहीं है।

इनके राज्यमें प्रजाजनोंको सुख और आनन्द प्राप्त होता था। सब प्रजा सुखी थी। बलि और प्रल्हादने तो वैदिक धर्मकी दीक्षा लेकर वैदिक पद्धतिसे यज्ञयाग भी चलाये थे। सब प्रजा इनके राज्यमें सुखी होनेके कारण इनके विरोधमें प्रजाका क्षोभ उत्पन्न करना भी कठिन था।

राजकीय दृष्टिसे बलिके राज्यशासनमें कुछ दोष भी हो रहे थे। इसलिये वामनने बलिको कैद भी किया और उसके स्थानपर देवोंका राज्य स्थापन किया। वैसा कोई कारण प्रल्हादके राज्यमें नहीं हुआ था। प्रल्हादका तथा बलिका राज्यशासन केवल प्रजा सुखी होनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों अच्छे राज्य थे।

इस तरह एक समयमें राक्षस या असुर अच्छे थे यह बात सिद्ध होती है। पीछे बल प्राप्त होनेके कारण वे उन्मत्त होगये और पतित हुए।

वास्तवमें यह सब विवरण राजकीय दृष्टिसे ही देखने योग्य है। कोई एक पक्ष राज्यशासन करने लगता है, और दूसरे पक्ष उसके विरोधमें कार्य करने लगते हैं। अधिकारारूढ पक्ष दोष भी जान बुझकर, अज्ञानसे अथवा दूसरे पक्षोंको दबानेके लिये करते हैं। इसलिये राज्य-शासन करनेवाला पक्ष प्रजाकी संमतिमें गिरने लगता है और दूसरे पक्ष उठने लगते हैं।

युरोप, अमेरिका, रूस आदि देशोंके इतिहासमें यह बात स्पष्ट दीखती है। जब एक पक्ष प्रजाकी संमतिमें गिरता है, तब उस पक्षका नाम भी हीनार्थक हो जाता है। ' कान्सर्वेटिव और लिबरल ' आदि नाम इसी परिस्थितिके वाचक हैं।

हमारे देशमें भी कांग्रेसमें नरम और गरम ऐसे दो दल हुए थे। प्रारंभके कांग्रेसी 'नरम' कहे जाते थे और पश्चात् के लोग ' गरम ' कहे जाने लगे। इस कारण ' नरम ' नाम ही अर्थकी दृष्टिसे उपहास योग्य समझा जाने लगा था। ऐसा ही राक्षस प्रथम रक्षक हुए, वे रक्षाका कार्य प्रथम अच्छी रीतिसे करते थे। इसलिये संमान पाते थे। पश्चात् अधिकार हाथमें आनेके कारण वे गिर गये। उस कारण वे ही उनके नाम हीनार्थक हुए।

हरएक देशके इतिहासमें ऐसा ही होता है। केवल राक्षसों और देवोंके इतिहासमें ही ऐसा हुआ ऐसी बात नहीं है। परंतु सर्वदा पुराना पक्ष गिरता है और उस स्थानपर नया आ जाता है। पुराना असुरपक्ष निंदनीय होता है और नया पक्ष सुरपक्ष अथवा देवोंका पक्ष अथवा सत्पक्ष कहलाता है। सब देशोंके इतिहास इसी तरहके इतिहाससे भरे हैं। यही बात यहां ' पूर्वदेवाः राक्षसाः ' आदि पदोंसे बतायी है। सूक्ष्म रीतिसे यह सब देखनेयोग्य है। रक्षकोंके इस तरह राक्षस होते हैं।

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा।

दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल
आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

ॐ

वैदिक व्याख्यान माला — २७ वाँ व्याख्यान

अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो

लेखक
महामहोपाध्याय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो

शिव-संकल्प।

मनुष्यके मनका धर्म कल्पना करना है। जागृतिमें मनुष्यका मन तर्कवितर्क कुतर्कके बिना रह नहीं सकता। यदि मनुष्यका मन संकल्पविकल्पात्मक कल्पना करता ही रहेगा, तो फिर इसको ठीक प्रकारकी कल्पना करनेकी शिक्षा क्यों न दी जावे? सुशिक्षाके विना मन कुतर्क करेगा और गिरेगा। सुशिक्षासे मन उत्तम मार्गपर चलता हुआ उत्तम संकल्प करके अपनी अवस्था उच्च बना सकता है।

मनुष्यकी उन्नतिकी कोई अवधि नहीं है। मनुष्यका अभ्युदय मर्यादासे परिमित नहीं है। परंतु जब वह अपने ही कुतर्कोंसे परिमित होता है, तब मनुष्यके सामने उदासीनता उत्पन्न होती है। इसलिये ऋषिमुनियोंने सिद्धान्त बनाया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' मनुष्योंका मन ही उनके स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका कारण है। उत्तम सुसंस्कारोंसे शुद्ध मन धारण करनेवाले मनुष्य स्वातंत्र्यसुख अर्थात् मुक्तिका आनंद प्राप्त करते हैं और जिनका मन गुलामीके कुत्सित विचारोंसे परिपूर्ण होता है, वे सदा परतंत्रताके विविध बंधनोंमें सडते और मरते हैं। मनकी शक्ति इस प्रकार विलक्षण है। मन ही 'कल्पतरु' है। कल्पनाओंका तरु अर्थात् वृक्ष मन ही है। जैसी कल्पना आप करेंगे वैसे ही आप बन जावेंगे। आपके मनकी इतनी विलक्षण शक्ति है, इसीलिये आपको सावधान रहना चाहिये। अन्यथा जैसी चाहे वैसी कल्पना मनमें आ जायगी और उसका परिणाम बडा भयानक हो जायगा। इसलिये वेदने कहा है—

उत्तम सारथीका कर्तव्य

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु. ३४।६

"जिस प्रकार उत्तम सारथी रथके घोडोंको लगामोंके द्वारा उत्तम मार्गपर ही ले जाता है, उस प्रकार जो मन मनुष्योंके इंद्रियोंको चलाता है, वह हृदयनिवासी, उत्साही और वेगवान् मेरा मन सदा उत्तम संकल्प करनेवाला हो।"

वेदका यह उत्तम उपदेश है। परंतु क्या इस प्रकार वैदिकधर्मी चल रहे हैं? जो मनुष्य इस उपदेशके अनुसार अपने मनकी शक्तिको जानेंगे और उस विलक्षण शक्तिको अपने स्वाधीन रखकर योग्य कर्ममें ही उस शक्तिका उपयोग करेंगे, वे लोग ही इस लोकमें अभ्युदय और परलोकका निश्रेयस निःसंदेह प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक धर्मका यह प्रताप है, कि यह धर्म जहां रहेगा, वहां अभ्युदय और निश्रेयस सदा प्रकाशित होते रहेंगे। वैदिक धर्मके होनेका तात्पर्य आचरण होनेसे है; न कि केवल विचार और उच्चारणसे। केवल विचार, उच्चारण और लेखोंमें वैदिक धर्मको रखनेवाले कभी उन्नत नहीं हो सकते। यहां कटिबद्ध होकर सदा शुद्ध आचारका ही माहात्म्य है। उक्त वेदमंत्रका दिव्य उपदेश आचारप्रधान ही है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है, कि जो कुछ वे वेदमंत्रोंमें पढेंगे, शीघ्र ही आचरणमें लानेका यत्न करें। एक समय तोतेके समान कंठ करनेवाले वेदभक्त थे, अब अर्थका डंका बजानेवाले वेदभक्त हो गये हैं। आचरणकी दृष्टिसे दोनोंके पास शून्य ही है।

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

इस मंत्रका केवल पाठ करनेवाले और केवल अर्थ जाननेवाले दोनों तबतक उन्नत नहीं होंगे, जबतक वे अपना मन शुभसंकल्पमय नहीं करेंगे। एक कुली था जिसके सिरपर खांडकी बोरी थी, परन्तु उसको बोरीके अंदर क्या वस्तु है, इसका पता न था। उसके पीछेसे दूसरा कुली आया, उसको पता था कि अपने सिरपरकी बोरीमें मिश्री

है, परंतु वह बोरीका स्वामी न होनेके कारण उसको खा नहीं सकता था। मिश्रीका आस्वाद लेनेके दृष्टिसे दोनोंका अधिकार भार सहनेका ही है। इसी प्रकार वेदको केवल कंठ करनेवाले और केवल घमंडके साथ अर्थोंका शास्त्रार्थ करनेवाले दोनों नीचे ही रहेंगे; परंतु जो वेदके उच्च उपदेशके समान अपना आचरण बनावेगा, वही उच्च पदवी पा सकता है। इसलिये—

वेद पढनेका कर्तव्य

"वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना तथा वेदके उपदेशके अनुसार स्वयं आचरण करना और वैसा ही उत्तम आचरण करनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा करना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका परमधर्म है।" इसलिये उक्त मंत्रका विचार मनमें सदा जागृत रखिए—

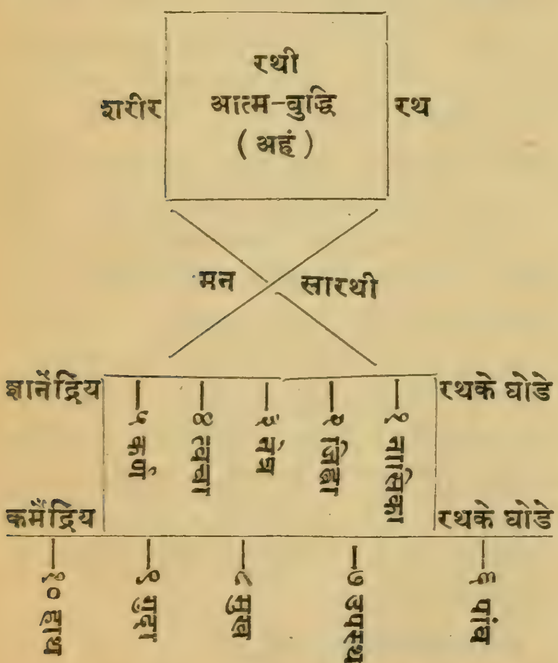

शरीररूपी इस उत्तम रथमें जीवात्मा बैठा है और उस रथको दश घोडे जोते हैं। मन इस रथमें सारथी है और आत्मा प्रवासी है। मालिक, स्वामी, धनी, इंद्र जीवात्मा ही है। जहां वास्तवमें उसको जाना है, उसी जानेवाले मार्गपरसे इस रथकी गति होनी चाहिए। यदि मनरूपी सारथी शराब पीकर उन्मत्त होगा, यदि दसों घोडे अपने योग्य मार्गको छोडकर जिधर चाहे उधर भटकने लगेंगे, तो इस शरीरकी और प्रवासी जीवात्माकी कैसी अवस्था होगी? आप ही सोच सकते हैं और पश्चात् आप अपनी अवस्था भी सोचिए। क्या आप अपने मन, इंद्रिय और शरीरके सच्चे स्वामी बने हैं? क्या आपके हितके मार्गपरसे आपका मन सब इंद्रियोंको चला रहा है? क्या क्रोध, काम आदि घातक पत्थरोंसे युक्त भयानक स्थानोंमें आपका रथ नहीं जा रहा है? क्या सब मनोविकारोंपर आपका प्रभुत्व स्थापित हुआ है? क्या आपका मन कभी कुविचारोंके गड्ढोंमें मूर्च्छित होकर पडता नहीं? क्या आपका मन सदा शुभ कल्पनाओंमें और शुभ कर्मोंमें ही रमता है? यदि नहीं, तो आपको उचित है कि वैदिक धर्मके शुभ नियमोंके अनुकूल चलकर आप अपने मनके उत्तम स्वामी बन जाइए। दूसरे व्यवहार आपके काम नहीं आवेंगे। जो इस बातको छोडकर दूसरे ही कार्योंमें लगता है वही दस्यु होता है। देखिए वेद कहता है—

दस्युके लक्षण

अकर्मा दस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः॥
ऋ. १०।२२।८

"मनुष्योंमें दस्यु वह होता है कि जो (अ-कर्मा) पुरुषार्थ प्रयत्न नहीं करता, (अ-मंतुः) सुविचार नहीं करता, (अन्य-व्रतः) दूसरे ही कार्य करते रहता है और उन्नतिके कार्योंको छोड देता है और जो (अ-मानुषः) मनुष्यत्वके अयोग्य कुत्सित कर्म करता रहता है" ये दस्युके लक्षण हैं। (१) आलस्य, (२) अविचार, (३) कुकर्म और (४) अमानुष क्रूर कर्म, ये चार लक्षण हैं, कि जिनसे दस्यु पहचाने जाते हैं। हरएकको सोचना चाहिए कि अपने द्वारा किस श्रेणीके कर्म हो रहे हैं?"

आप जानते हैं कि सुख बाहरसे प्राप्त नहीं होता है। आपकी मानसिक अवस्थापर ही सुख अवलंबित है। आप सुखी हैं या दुःखी हैं, इसका विचार कीजिए। आपको दुःख होनेपर आप दूसरोंको बुरा भला कहनेके लिये प्रवृत्त हो रहे हैं, यही बडी भारी गलती है। यही प्रवृत्ति बहुत बुरी है। अपने मनकी अवस्थाके कारण ही आपको दुःख हो रहा है। देखिए, सोचिए और अपने मनकी परीक्षा कीजिए।

वेद कहता है कि—

मनको सत्प्रवृत्त करो

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ॥
(ऋ. १०।२५।१)

" मनको (भद्रं) शुभ विचारमय, (दक्षं) दक्षतासे युक्त और (क्रतुं) पुरुषार्थके विचारोंसे उत्साही बनाइए। " फिर आपके पास दुःख कहां रहेगा ? इसलिये कहा है कि—

मनो यज्ञेन कल्पताम् ॥ (यजु. १८।२९)

" मन सत्कर्ममें लगाइए। " यही एक उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसको छोडकर यदि आप अन्य कुव्यवहारोंमें अपना कदम बढायेंगे तो आप " अन्य-व्रत " होनेके कारण दस्यु बनेंगे ।

अपना समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। अश्लील उपन्यास, निंदासे भरे हुए अखबार, व्यर्थ गपोडोंके पुस्तक, निरर्थक गप्पाष्टक आदिमें अपना समय न गँवाए । गया हुआ समय फिर नहीं मिलेगा । जो समय है, उसका अत्यंत योग्य उपयोग कीजिए। वेदने कहा है—

आयुः यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुः यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां
आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां
ज्योतिः यज्ञेन कल्पतां स्वः यज्ञेन कल्पतां
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्॥
(यजु. १८।२९)

" हे लोगो ! आपको उचित है कि आप अपनी आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, आत्मा, ज्ञान, तेज, स्वत्व, आदि सब कुछ जो कुछ अपनी शक्ति है वह सब सत्कर्मके लिये अर्पण कीजिए। " क्योंकि सत्कर्मके विना जो आयु चली जाती है, वह व्यर्थ है । समयपर योग्य सत्कार्य करनेका अभ्यास कीजिए, जिससे आप थोडे समयमें बहुत सत्कर्म कर सकेंगे । यदि आप सत्कर्म करनेमें देरी करेंगे, तो निश्चय जानिए कि उन्नति होनेमें भी उतनी ही देरी लगेगी ।

आत्म विश्वासका महत्त्व

अपने पास आत्मविश्वास रखिए। बोलने चालनेमें अपना विश्वास और अपनी अचल श्रद्धा बताइए । श्रद्धा और विश्वाससे ही उच्चता प्राप्त होती है। अपने विषयमें जिसको संशय है, वह अवश्य गिर जाता है। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है, वह अधोगतिमें जाता है । अपनी शक्ति, अपना प्रभुत्व और अपनी दक्षतापर निश्चयपूर्वक पूर्ण विश्वास रखिए। वेदने कहा है कि—

स्वं महिमानमायजतां ॥ (यजु. २१।४७)

Let him worship his own majesty.
" अपने प्रभावका गौरव अपने मनमें रखिए । " इसीसे आत्मविश्वास बढता है और अपनी शक्ति बढती है। ' अपने आपको तुच्छ समझनेवाले ' प्रतिदिन तुच्छताकी ओर ही जाते हैं । अपने विषयमें अविश्वास होनेसे अंतमें मनुष्य सब प्रकारसे निकम्मा हो जाता है। जो विचार आप मनमें रखेंगे वैसे ही आप बनेंगे । इसीलिये ' शिव-संकल्प ' करना सदा उचित है।

यदि दूसरोंका विश्वास आपपर न हो तो उसकी पर्वाह न कीजिए। क्योंकि दूसरोंके विश्वाससे आपकी उन्नति नहीं होगी। विरोधियोंके साथ युद्ध करते हुए और अपना सामर्थ्य बढाते हुए आप विजयी हो सकते हैं। परंतु यदि अपना विश्वास आपपर न होगा, तो आपको कोई बचा नहीं सकता। जब आप दिनरात ' मैं हीन और दीन हूं ' ऐसा जपते जायंगे, तब आपको उठानेवाली शक्ति इस जगत्में किसीके पास नहीं होगी; वेद कहता है कि—

अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ (यजु. ३६।२४)

' अदीनता ' का जप कीजिए। मैं कभी दीन नहीं होऊंगा, मैं सदा श्रेष्ठ होऊंगा, मैं पराजित नहीं होऊंगा, मैं स्वयं श्रेष्ठ होकर दूसरोंको श्रेष्ठ करूंगा, मैं अपनी दीनताको दूर करके दूसरे दीनोंका उद्धार करूँगा,। इस प्रकारके उच्च वैदिक विचार सदा मनमें रखिए । मनुष्य जैसे विचार करता है, वैसाही बन जाता है।

मनकी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कीजिए । आप अपने मनको कमजोर समझते हैं, परंतु वास्तवमें आप देखिए, आपका मन बडा ही शक्तिशाली है । उसमें शक्ति है इसीलिये वह बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है । यदि उसमें शक्ति न होती, तो बुरे कर्म भी उससे न होते। इसलिये बुरे कर्मोंसे अपने मनको रोकिए और उसका मार्ग अच्छा कीजिए। बस, इतना करनेसे ही आपके मनका तेज चमकने लगेगा।

मनके प्रभु बनकर रहिए, मनके गुलाम बनकर परतंत्र न रहिए। इसीलिये वैदिक धर्म प्रवृत्त हुआ है। अपनी कमजोरियोंको चाहे आप न जानिए। केवल अपनी शक्तिको सबसे प्रथम जानिए। दूसरोंकी कमजोरियोंका विचार भी छोड दीजिए। यदि दूसरोंका विचार करना है तो आप उनके 'श्रेष्ठ गुणोंका विचार' कीजिए। इससे आपके मनमें श्रेष्ठ गुणोंका वायुमंडल जमा हो जायगा।

अदीन बनो

"मुखसे अच्छे शब्द बोलिए, कानसे अच्छे शब्द सुनिए, आंखसे अच्छे ही पदार्थ देखिए, शरीरसे अच्छे ही कर्म कीजिए।" (ऋ. १।८९।८)

यह वेदका उपदेश है। जब आप अपने धर्मकी प्रतिष्ठा बढानेके लिये दूसरोंके मतमतांतरोंका खंडन करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब दूसरोंके छोटेसे दोषका पर्वत बना देते हैं। इससे गुणग्राहकता कम हो रही है। जिस प्रकार मधुमक्षिका वृक्षोंके कांटोंकी ओर न देखती हुई, फूलोंका मधुग्रहण करती रहती है, उसी प्रकार दूसरोंके कांटोंमें आप न फँसते हुए जहाँसे आपको मधु मिले; लेते जाइए। आप काँटोंको इकट्ठा क्यों कर रहे हैं? फूलोंको इकट्ठा कीजिए। यही धर्म है।

द्वेष करनेवालोंपर प्रीति कीजिए, क्रूरोंपर दया कीजिए, दुःख प्राप्त होनेपर हंसनेका अभ्यास कीजिए, दुःख देनेवालेका भी स्वयं अहित न कीजिए। सारांश कि आपसे सदा अच्छे श्रेष्ठ विचार– उच्चार– आचारोंका ही स्रोत चलता रहे, ऐसी व्यवस्था कीजिए। दुनियाके कष्टोंमें अपनी ओरसे आप कष्टोंकी संख्या न बढाइए, परंतु आपके शुभ संकल्पोंसे विश्वमें शुभ विचारोंकी लहर चलने दीजिए।

'शिवसंकल्प' अपने मनमें सदा जागृत रखिए। किसी प्रकारकी अशिव, अशुभ, अभद्र बात आपके मनमें कभी न आने दीजिए। उत्साही और आत्मविश्वासी श्रेष्ठ लोगोंकी संगतिमें रहिए। अपने घरमें और घरके बाहिर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कीजिए कि जो शुभ वायुमंडलसे पवित्रता बनानेवाली हो। उच्चता, अभ्युदय और उन्नति साधन करनेका यही एक 'सत्य मार्ग' है। इससे भिन्न नीचता, अवनति और दुःस्थिति प्राप्त करानेवाले कुमार्ग हजारों हैं। कुमार्गोंके प्रलोभनोंमें न फंसते हुए निश्चयसे एक शुद्ध वैदिक धर्मके सत्य मार्गपरसे ही चलिए। सत्यनिष्ठा अर्थात् सत्यका आग्रह ही इस मार्गका नेता है। जहां आप सत्यसे दूर होंगे वहां आप धर्मसे भ्रष्ट हो सकते हैं।

आपकी हानि कौन करेगा?

आपकी शांति, प्रसन्नता, सुख, आनंद और शक्तिकी हानि कोई नहीं कर सकता, जबतक की आप ही इनका विरोध न करेंगे। न जानते हुए आप मनोविकारोंकी कुत्सित भावनाओंके गुलाम बन जाते हैं और नाना प्रकारके हीन प्रलोभनोंमें फंस जाते हैं, दूसरोंकी व्यर्थ निंदामें कालक्षेप करते हैं, बडे पुरुषोंका महत्त्व सहन न होनेके कारण निष्कारण उनका मत्सर करते हैं, क्रूरताका अवलंबन करके दूसरेके घातसे अपनी उन्नति करनेकी व्यर्थ इच्छा धारण कर रहे हैं, कामोपभोगकी लालसा तृप्त करनेके लिये दूसरोंके सतीत्वकी आहुतियाँ लेनेका भयानक प्रयत्न किया जाता है, अयोग्य महत्त्वाकांक्षामें अपना सब जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कई लोग अपने अज्ञानका ही घमंड धरकर मूढ हो रहे हैं। ये ही मनके भाव हैं कि जो आत्माकी प्रसन्नताका नाश कर रहे हैं। इसीलिये वेद कहता है कि 'मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु।' देखिए वेदका कितना उच्च उपदेश है।

मन जब 'शिव- संकल्प' करने लगता है तभी उसकी योग्यता बढती है, उसका तेज फैलने लगता है और वह जो कहता है, बन जाता है। शिव-संकल्प करनेवाला मनुष्य जहां जाता है, वहां सब शुभमंगल बना देता है। बुरे समयको भला बना देता है, क्योंकि उत्साहपूर्ण अमृतका स्रोत उसके अंतःकरणसे बहने लगता है। इसलिये हीन गुण वहाँ नहीं रह सकते, जहां शिवसंकल्प रहता है।

निराशा और भय वहाँ नहीं रहता, जहाँ शिवसंकल्प रहता है। क्योंकि संकुचित भावमें भय है, व्यापक उच्च भावनामें भय कहां है? कितना ही भयका डरानेवाला प्रसंग आ जावे, बडे प्रबल विरोधियोंका मुकाबला करना पडे, बडी मुसीबतका घोर समय आ जावे, किंवा कोई भी सहायता करनेके लिये प्राप्त न होवे, तो उस समय एक मात्र 'शिव-संकल्प' है, जो सब कठिनाइयोंसे पार ले जा सकता है। यह शिवसंकल्प धैर्यका साथी और विजयका पिता है। जो मनुष्य शिवसंकल्प करता है वही मनुष्य

योग्य बात योग्य समयमें उत्तम रीतिसे करनेके लिये नहीं डरता, क्योंकि उसके मनके अंदर एक ही शिवमंगलमय परमेश्वरका शुभसंकल्प सदा जागृत रहता है।

यजुर्वेद अंदर (अ. ३४।१—६) शिवसंकल्पके केवल छः मंत्र हैं। परंतु उनमें मनके तत्त्वज्ञानकी सब बातें रखी हैं। मनकी विलक्षण अद्भुत शक्तिका वहाँ स्मरण दिलाया है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे नित्य उन छः मंत्रोंका अवश्य मनन करें।

वास्तवमें सब वेद ही शिवसंकल्पमय है। वेदके सूक्त सच्चे सु- उक्तियोंसे भरे हैं। उत्तम वचन अर्थात् वेदके सुभाषितोंके समान भाव मनमें रखने उचित हैं और उन्हीं बातोंको बोलना और सुनना चाहिए। मनुष्यका निरुत्साह हटानेवाले वेदमंत्र ही हैं, इसलिये उद्धारकी इच्छा करनेवाले लोगोंको वेदके मंत्रोंका भाव मनमें धारण करना उचित है। देखिए वदेके भाव कैसे हैं–

दस सुवर्ण नियम

अहमिंद्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन। सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥ ५॥ अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति। खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निंदन्ति शत्रवोऽनिंद्राः॥ ७॥ ऋ. १०।४८

(१) "अहं इंद्रः।"— मैं इन्द्र हूं। मैं आत्मा हूं। मैं ही मुख्य हूं। मेरी अर्थात् इंद्रकी विविध शक्तियाँ ही इंद्रिय (इंद्र-इ-य) रूपसे महान् कार्य कर रही हैं। आंखोंकी दर्शनशक्ति, कानोंकी श्रवणशक्ति, तथा अन्य इंद्रियों, अंगों और अवयवोंकी सब विलक्षण शक्ति मेरी ही है। मैं इंद्रियादिकोंका प्रेरक आत्मा हूं और मेरी शक्ति ही इस शरीरमें सर्वत्र कार्य कर रही है। मैं इंद्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् हूं और सब इंद्रियोंकी शक्तियां ही मेरा ऐश्वर्य है।

(२) "अहं इत् धनं न पराजिग्ये।"— मैं अपने ऐश्वर्यके कारण किसीसे पराभूत नहीं हो सकता। अर्थात् मेरा ऐश्वर्य, मेरा बल किसी अन्यसे न्यून नहीं है। मेरा कभी पराभव नहीं होगा। मैं विजय प्राप्त कर सकता हूं। सदा मेरा विजय ही होता रहेगा। बुरी अवस्था मेरे सन्मुख खडी नहीं रह सकती। कितना भी कठिन प्रसंग आ गया, तो भी उसका मुझे डर नहीं है। मैं आपत्तियोंसे न डरता हुआ, अवश्य अपना सीधा मार्गक्रमण करके अपनी उच्चताको प्रकाशित करूँगा।

(३) "मृत्यवे कदाचन न अवतस्थे।"— मैं कदापि नहीं मर सकता। मैं अमर हूँ। मृत्यु मेरा क्या करेगा? जलसे मैं गीला नहीं होता, आग मुझे जला नहीं सकती, वायु मुझे सुखा नहीं सकता, पृथ्वीसे मुझे ठोकर नहीं लग सकती! क्योंकि मैं आत्मा हूँ और मैं सबका प्रेरक स्वामी हूँ। मैं अपने आत्मस्वरूपको कभी नहीं भूलूँगा। बाल, तरुण, वृद्ध अवस्थाओंसे मैं भिन्न स्वतंत्र हूं। जागृत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे मैं परे हूं। जन्ममरणसे मैं दूर हूं। मैं अज और अविनाशी हूं। मुझे मृत्युका भय नहीं है। मैं व्याधि और बीमारियोंसे परे हूँ। शरीरसे भिन्न मैं अविकारी आत्मा हूं। इस उच्च स्थितिसे मुझे कोई दूसरी शक्ती नीचे नहीं गिरा सकती।

(४) "सोमं सुन्वन्तः इत् वसु याचत।"— हे लोगो! अग्नि और सोम ये दो शक्तियाँ आपके अंदर हैं। शांति और प्रसन्नता देनेवाली सोमशक्तियाँ आपके मनके अंदर ही हैं। उस सोमके शांतिपूर्ण रसका पान करते हुए (वसु) अपने निवासके साधनोंको प्राप्त कीजिए। मैं अपने शांत शक्तिको अपने स्वाधीन रखता हुआ, अपने निवासके लिये योग्य साधनसामग्रीको प्राप्त करता हूँ। मैं आत्मा, इंद्र अथवा अग्निरूप हूँ और इस शरीरमें मेरेसे भिन्न सब शारीरिक शक्तियाँ सोमरूप हैं। इन सोमशक्तियोंसे मैं योग्य उपयोग लेता हुआ अपना विजयका मार्गक्रमण कर रहा हूँ।

(५) "हे पूरवः! मे सख्ये न रिषाथन।"— हे नागरिको! हे सज्जनो! मैं जो आत्मा हूँ उसकी मित्रता करनेसे किसीका नाश न होगा। आत्माका विचार, आत्मशक्तियोंका चिंतन करने और अपनी शक्तिपर विश्वास रखनेवाले मनुष्योंका कभी नाश नहीं हो सकता। आत्म-विश्वास ही सब उच्चताका एकमात्र साधन है।

(६) "एकः अस्मि।" मैं अकेला हूँ। मैं आत्मा अकेला ही हूँ। मन, चित्त, अहंकार, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय आदि मेरेसे भिन्न शक्तियां बहुत हैं। परंतु हे विविध शक्तियां धारण करनेवाले विविध इंद्रियो! यह आप न समझें कि मेरा मुकाबला कर सकोगे। मैं अपराजित आत्मा हूं।

(७) " इंद्रं एकं निष्पाड् अभि इत्। "— इस एक एक इंद्रियके ऊपर मैं अपने विलक्षण सामर्थ्यके कारण अवश्य विजय प्राप्त करूंगा। मैं इंद्रियोंसे परास्त नहीं हो सकता। एक एक इंद्रिय चाहे जितना प्रयत्न करे उससे कभी मैं पराजित नहीं हो सकता। मैं इंद्रियोंको संयमद्वारा अपने आधीन ही रखूँगा। मैं कमजोर नहीं हूं। मैं (निःषाड्) सबसे अधिक बलवान् हूं।

(८) " अभि द्वा किमु त्रयः करन्ति। "— हे इंद्रियो ! आप दो अथवा तीन किंवा इससे भी अधिक मिल जाओगी, तो भी आपसे मेरी क्या हानि होगी ? मेरी शक्ति आपके अंदर जाकर आपके द्वारा कार्य कर रही है। इसलिये मैं आप सबका नियंता हूं। आप मेरा पराभव नहीं कर सकते। आप सबका दमन करके आपको मैं ही स्वाधीन रखूंगा। आप सबको मैं ही आधीन रख सकता हूँ। क्योंकि मैं आत्मा अर्थात् इंद्र हूँ। इसलिये आप सबको मेरे आधीन रह कर ही कार्य करना होगा।

(९) " पर्षान् खले न भूरि प्रति हन्मि। "— जिस प्रकार धानको चक्कीमें बहुत प्रकारसे पीसा जाता है, अथवा घासके गट्ठोंको पत्थरोंपर अनेक वार मारनेपर भी पत्थरका कुछ नहीं बिगडता, उसी प्रकार इन शत्रुओंको मैं पीस डालूँगा अथवा उनके हमलोंसे मेरा किसी प्रकार भी नुकसान नहीं होगा। मैं स्थिर और दृढ हूं और ये मेरे सब शत्रु सबके सब कच्चे और कमजोर हैं। इसलिये ये मेरे द्वारा पीसे जांयगे, मेरे शत्रुओंका मैं पराभव निश्चयसे करूँगा।

(१०) " अन्- इद्राः शत्रवः मा निंदन्ति किं। " क्या आत्मज्ञान न रखनेवाले मेरे शत्रु मेरी निंदा कर रहे हैं ? करने दें। उनकी निंदाकी मैं पर्वाह नहीं करता। उनकी निंदासे मैं अपने मार्गको कभी नहीं छोडूंगा। मैं उनकी निंदा नहीं करूंगा। क्योंकि निंदा करनेसे मेरी वाणीमें अशुभ शब्द आ जांयगे और मेरी वक्तृत्वशक्ति मलीन होगी। इसलिये निंदाका स्वभाव शत्रुओंके पास ही रहे। मैं कभी निंदा करनेवाला नहीं बनूंगा। जो निंदा करना चाहते हैं, बेशक करें। मैं उनके बुरे शब्दोंके कारण अपने सत्य मार्गसे कभी नहीं हटूंगा। यही मेरा पक्का दृढ निश्चय है। यही मेरी पूर्ण प्रतिज्ञा है। मैं कभी अपनी प्रतिज्ञासे पीछे नहीं हटूंगा। क्योंकि मैं इंद्र हूँ, मेरी शक्तियां सर्वत्र फैल रही हैं। सब शरीर भर मेरी शक्तियां कार्य कर रही हैं।

वेदके उत्साहपूर्ण मंत्र इस प्रकारकी भाषा बोल रहे हैं। यही विचार सबको मनमें सदा धारण करने उचित हैं। मन कल्पना करता ही है। प्रथम उसको सम्यक् कल्पना (सं-कल्प) करनेका अभ्यास कराइए। जब उत्तम कल्पना वह करने लगे तब शुभसंकल्प (शिव-संकल्प) केवल श्रेष्ठ उत्तम ही विचार करनेका अभ्यास कीजिये। बुरे विचारोंका ख्यालतक मनमें न आजाय ऐसी अवस्था उत्पन्न कीजिए। " शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार " ये तीन बातें हैं जो श्रेष्ठताके मार्गक्रमणमें सहायक हैं।

कदाचित् प्रिय पाठकोंके मनमें संदेह होगा कि ऐसा मानने और कहनेसे क्या हो सकता है ? कल्पनामात्रसे क्या होगा ? ऐसी शंका करनेवालोंसे इतनी ही नम्र प्रार्थना है, कि केवल एक महिनाभर उक्त वैदिक विचार ही मनमें रखिए, अशुभ भावनाओंको एक मासतक दूर कीजिए। मुझे निश्चय है कि एक मासके पश्चात् आप उक्त शंका करेंगे ही नहीं। देखिए, अनुभव सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है।

निंदा करनेसे भी हानिकी संभावना

दूसरेकी निंदा करनेसे हानि क्यों होती है ? इस प्रश्नका उत्तर यहां इतने विवरणसे पाठकोंको मिला ही होगा। " वह मनुष्य धोखा देता है, वह व्यभिचारी है, वह असत्य भाषण करता है " इत्यादि प्रकार प्रायः लोग दूसरेकी निंदा करते हैं। ऐसी निन्दा करनेसे क्या होता है, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। इस तरहकी निन्दा करनेसे मनुष्यके मनमें उक्त दुर्गुणोंके संस्कार होते जाते हैं। पूर्वोक्त तीन वाक्योंमें ' धोखा देना, व्यभिचार और असत्य भाषण करना ' ये तीन कुकल्पनाएं हैं। पूर्वोक्त निन्दा करनेसे जिसकी निन्दा की जाती है उसका कुछ भी बिगडता नहीं, परंतु जो निन्दा करता है उसमें उन वाक्योंके संस्कार जमते जाते हैं और यदि यही निंदा वारंवार की जायगी तो वे कुसंस्कार अधिकाधिक दृढ बनते जांयगे।

ऐसी कल्पना कीजिए, एक मनुष्य दूसरेकी निंदा नहीं करता, परंतु अपनी ही निंदा करता है। कई लोग प्रार्थना

करनेके समय कहते हैं कि " हे ईश्वर ! मैं तुच्छ हूं मलिन हूं, दीन हूं, दुष्ट हूं, कुकर्मी हूं, पापी हूं, अधम हूं, दुराचारी हूं । " इत्यादि प्रकार अपने अंदर जो दोष होंगे या न होंगे उनकी गिनती करते जाते हैं। अपने अन्दर जो दोष हैं उनका उच्चारण करना और उनको दूर करनेका यत्न करना चाहिये ऐसा इनका मत रहता है । कई लोगोंको तो प्रभुकी प्रार्थना करनेके समय अपनी नम्रता दिखानेका व्यसन ही हुआ करता है और उस व्यसनके मदमें आकर वे अपने योग्य और अयोग्य दोष बोलनेका यत्न करते हैं। वे मनसे समझते हैं कि ऐसा करनेसे अपनी भी उन्नति होती है और सुननेवालोंकी भी उन्नति होती है । परंतु वे बडी भारी गलती करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार अपने दोष बतानेके लिये जो वाक्य उच्चारे जाते हैं उनका भी भाव वैसाही अपने मनमें स्थिर होता जाता है । अपनी तुच्छता, मलिनता, दोषयुक्तता आदिका ध्यान किया जाय तो भी वही परिणाम होगा, जैसा दूसरेकी तुच्छता, मलिनता, दोषमयताका ध्यान करनेसे होगा । मनुष्य जिसका वारंवार ध्यान करेगा वैसा बनेगा । यदि वह तुच्छताका ही विचार करता रहेगा तो वह निःसन्देह तुच्छ बनेगा। ऐसी प्रार्थनासे यही घातपात हो रहा है । वे बिचारे उत्तमभावसे आत्मदोषोंका उच्चारण करते हैं और मानते हैं कि यह उन्नतिका मार्ग है । परंतु फंसते जाते हैं। उनपर उक्त हीन कल्पनाके संस्कार होते जाते हैं और उनकी अधिक मलिनता होती जाती है। न समझते हुए उनसे यह दोष होता रहता है ।

हीनताके उच्चारणकी प्रणाली वैदिक नहीं है । कोई मंत्र आप लीजिये, उसमें उच्च विचार ही आपको दिखाई देंगे । क्वचित् कोई मंत्र ऐसा होगा कि जिसमें दुष्ट गुणोंका वर्णन हुआ हो । परंतु देवताके श्रेष्ठ गुण ही सर्वत्र वर्णन किये हैं। श्रेष्ठ सद्गुणोंका महासागर परमेश्वर है, उसीके गुणोंका मनन करना वैदिक धर्मका अनुष्ठानका भाग है। ईश्वरस्तुति, ईश्वरोपासना आदिमें हीन विचार आवेंगे ही कहांसे ? ईश्वरस्तुतिका अर्थ ही श्रेष्ठ सद्गुणोंकी स्तुति है । श्रेष्ठ सद्गुण वारंवार कहनेसे उनका शुभ संस्कार अपने मनपर जमा होता है और वे सद्गुण अपने अंदर बढते हैं। यही मानवोंकी उन्नति करनेका एकमात्र साधन है ।

*

अपनी हीनताका उच्चारण करनेकी कुप्रथा बौद्धोंद्वारा प्रचलित हुई । उनके पास श्रेष्ठ सद्गुणोंका निधान परमेश्वर था ही नहीं। उनके पास तो मनुष्य ही कुसंस्कारोंवाले थे। उनको देखनेसे उनके हाथ दुष्ट भावही आनेवाले थे सो आगये और अतः वे " मैं हीन, मैं दीन, मैं पामर " इत्यादि बातें बोलने लगे। यह प्रथा बुद्धधर्म द्वारा उत्पन्न हो गई और बढी और इसीका परिणाम वैदिकधर्मपर भी हुआ और हिंदूधर्ममें इसीकी नकल की गई। बुद्धधर्ममें ईश्वरकी कल्पना नहीं है, इसलिये उनके मननके लिये श्रेष्ठ सद्गुणों का निधान कहां है ? ईश्वरकी अनुपस्थितिमें वे किसका ध्यान करें ? और श्रेष्ठ कल्पना कहांसे लावें ? उनका जगत् दुःखमय है, नश्वर है, दोषोंसे परिपूर्ण है। यही उनके सम्मुख प्रत्यक्ष है। यही बुद्धधर्मी लोग देखते हैं और उसीका मनन करते हैं। इसलिये उनकी उपासनामें दुःख, दोष और पापका उच्चारण प्रमुखतया है।

वैसा देखा जाय तो कई मत जगत्के दुःख, दोष और पापोंपर रचे गये हैं। परंतु वेदकी बात वैसी नहीं है। इसकी बुनियाद आनंदकन्द परमात्मापर है, जो दुःखदोषविकारोंसे पृथक् है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। जो आनंदकंद है, स्वानंदसाम्राज्य जिसका निज सहजसिद्ध है। जो शुद्ध श्रेष्ठ परात्पर और दोषरहित है। भला इस परमेश्वरके उपासक मलिनता, दुष्टता और दोषमयताका मनन किस प्रकार कर सकते हैं। वैदिकधर्मी अपनी स्तुति, प्रार्थना, उपासना वेदमंत्रोंद्वारा करते हैं। वेदमंत्रोंमें मलिनताका लेश भी नहीं । परमेश्वरके शुभ गुणोंका आप जितना मनन करेंगे उतना मन शुद्ध बुद्ध और मुक्त बनता जायगा। उसमें हीन विचारोंका लेश भी जानेका संभव नहीं है। जिस समय उपासनाके ईश्वरको दूर किया जायगा, तभी तो हीन विचार, हीन उच्चार और हीन आचारोंका संभव हो सकता है। यहां पाठकोंके मनमें वैदिक और अवैदिक धर्मोंकी उपासनाका भेद आगया होगा ।

वेद वारंवार कहता है कि 'कानोंसे अच्छे शब्द सुनो, आंखोंसे अच्छे विचार देखो और पवित्र आचरण करो।' इसका हेतु ही यह है कि उपासकका वायुमंडल पवित्र बने, शुभ बने और उपासक पुनीत होता जाय । मानवी उन्नतिके लिये इस तरहकी पवित्रताकी

अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये पाठक अवैदिक रीतिकी प्रार्थना करके अपने आपको गिरानेका अभ्यास न करें, परंतु वैदिक प्रार्थनाओं द्वारा अपने आपको शुद्ध और पवित्र बनावें और शुद्ध बुद्ध मुक्त बननेके अधिकारी बनें।

मनकी विलक्षण शक्ति

वेदमें मनकी अपूर्व और विलक्षण शक्तिका वर्णन है। देखिए—

> यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
> दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु. ३४।१

" जो (दैवं) दिव्य शक्तिसे युक्त मन जागृत अवस्थामें दूर दूर जाता है, और निश्चयसे वह (सुप्तस्य) सोते हुए भी वैसा ही दूर चला जाता है, यह दूर जानेवाला, ज्योतियोंका एकमात्र प्रकाशक मेरा मन शुभ विचार करनेवाला होवो। " इस यजुर्वेदके मंत्रमें मनकी शक्तियाँ वर्णित हैं। इस प्रकार चारों वेदोंमें मनकी शक्तियोंका वर्णन करनेवाले अनेक मंत्र हैं। इन मंत्रोंका मनन करनेसे तथा मंत्रके विधानोंकी सत्यता प्रत्यक्ष अनुभवके व्यवहारोंमें देखनेसे वेदके उपदेशका महत्त्व व्यक्त हो सकता है। उक्त मंत्रमें मनके निम्नलिखित गुण लिखे हैं—

(१) जाग्रतः दूरं उदैति।... मन जागृत अवस्थामें दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है।

(२) सुप्तस्य तथा एव एति।... सोनेवालेका मन भी उसी प्रकार दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है।

(३) दूरंगमं।... दूर दूरके स्थानपर चला जाना, यह मनका स्वाभाविक धर्म ही है।

(४) ज्योतिषां ज्योतिः।... तेजोंका तेज मन है अर्थात् मन तैजस् पदार्थ है। विद्युत् तत्त्वका मन बना है।

(५) एकं। ... मन एक है।

अब इन बातोंका अनुभवके प्रमाणोंसे निश्चय करना है। ' जागृत अवस्थामें मन दूरके स्थानोंमें चला जाता है, यह मंत्रका प्रथम विधान है। कई विद्वान व्याख्याता कहते हैं कि मन एक क्षणमें सूर्यका विचार करता है तो दूसरे क्षणमें घरका विचार करता है, इस प्रकार यह मन क्षणमें सूर्यलोकसे पृथ्वीपर आता है। परंतु वेदके उक्त वचनका यह तात्पर्य नहीं है। जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है न कि दूरके पदार्थका विचार करता है। केवल यहांसे सूर्यका विचार मनमें आगया, तो हमारा मन वहां गया था, ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता। उक्त मंत्रमें ' दूरं एति ' ' दूरंगमं ' ये शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि जागृत मनुष्यका तथा सुप्त मनुष्यका मन एक स्थानसे निकलकर दूसरे स्थानमें जाता है और वहाँ कार्य करता है। हमारे जैसे साधारण मनुष्योंका ऐसा अनुभव नहीं कि जागृत अवस्थामें हमारा मन दूसरे स्थानपर गया है और वहाँका ज्ञान उसको प्राप्त हुआ है।

जिसका मन जागृत अवस्थामें दूरके स्थानपर जा सकता है, उसको पता लग सकता है कि दूरके बंद कमरेके अंदर बैठा हुआ मनुष्य क्या कार्य कर रहा है। हमारा मन सुप्त अवस्थामें तथा स्वप्नमें दूरके स्थानपर चला जा सकता है, परंतु जागृतिमें दूरके स्थानपर जानेका उनको अभ्यास ही नहीं है। ध्यानयोगके बहुत अभ्याससे इस प्रकार अपने मनको दूरके स्थानपर भेजा जा सकता है और वहाँका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा योगके ग्रंथोंमें कहा है। परंतु इस प्रकार करनेवाले सत्पुरुष इस समयतक मैंने नहीं देखे।

स्थानका प्रतिबंध नहीं है

मनकी गतिके लिये स्थानका प्रतिबंध नहीं है। एक स्थानपर बैठा हुआ मनुष्य, न केवल उस ग्रामके परंतु अत्यंत दूर देशके मनुष्यका वृत्तांत जान सकता है। जिसका मन इस प्रकार जागृत अवस्थामें दूर भेजा जा सकता है। यह बहुत अनुष्ठानका तथा अत्यंत दृढ अभ्यासका साधन होनेसे अत्यंत कष्टसे सिद्ध होता है। वैदिक धर्मकी यह एक मानसिक सिद्धि है। जो वैदिक धर्मका झंडा दुनियाभरमें फहराना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे अपने मनकी शक्तियोंका थोडासा अनुभव प्रथम ले लें। तत्पश्चात् दूसरोंको मनानेका प्रयत्न करें। प्रथम स्वयं मानना और पश्चात् दूसरोंको मनवाना होता है। जगत्भरमें वैदिक धर्मका प्रकाश वही फैला सकता है कि जो आद्योपांत वेदको जान सकता है। वेदको स्वयं न जानते हुए ही आजकल ' वेद-प्रचार ' चल रहा है, इसीलिये प्रतिदिन अश्रद्धा बढ रही है। तात्पर्य केवल युक्तियोंसे धर्मकी श्रद्धा

नहीं बढ सकती और न वैदिक धर्मका तेज फैल सकता है। योगसाधनसे प्रत्यक्ष अनुभव देखनेकी बडी भारी आवश्यकता है। जागृतिमें मनको दूसरे स्थानपर ले जानेकी शक्ति प्राप्त करनेसे ही उक्त मंत्रका मतलब समझमें आ सकता है। केवल शब्दोंके अर्थज्ञानसे भी क्या लाभ हो सकता है? 'जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है' यह उस वचनका तात्पर्य है। इस शब्दार्थको जाननेसे किसको कौनसा लाभ हो गया? जबतक हम अपने मनको दूसरे स्थानपर नहीं भेज सकते, तबतक उक्त शब्दोंका अर्थ समझनेसे भी कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता। प्राचीन ऋषि-मुनियोंको अपना मन दूसरे स्थानपर भेजने, वहाँका ज्ञान प्राप्त करने तथा वहाँ कार्य करनेकी शक्ति थी। महाभारतादि ग्रंथोंमें कई कथाएं आती हैं, कि किसीने ध्यान लगाकर दूसरे स्थानके मनुष्यका वृत्तांत जान लिया। उस समयमें भी यह विद्या सार्वत्रिक नहीं थी। बहुत थोडे महात्मा इस विद्यामें प्रवीण थे। इस विषयमें शतपथका निम्न वचन विचारपूर्वक देखनेयोग्य है—

> स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्टया वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद्वृष्टिकामो वा अस्मीति। तत्रोऽध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेति अग्नीध्रं। स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारं। सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं। वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदानाः यज्ञेन चरन्ति॥
>
> शतपथ १।५।२।१९

“यदि यजमान वृष्टिकी इच्छा करता हो तो वह... कहे कि मैं वृष्टिकी इच्छा करता हूं और अध्वर्युको कहे कि वह पूर्वका वायु और विद्युत्का मनसे ध्यान करे। अग्निध्रको कहे कि वह बादलोंका ध्यान करे। होताको कहे कि वह इन मेघगर्जना और वृष्टिका मनसे ध्यान करे और ब्रह्माको कहे कि वह इन सबका मिलकर ध्यान करे। निश्चयसे वहाँ वृष्टि होती है कि जहाँ इस प्रकार (मानस शक्तिसे कार्य करनेवाले) ऋत्विज मिलकर यज्ञ करते हैं।”

मनके दूर जाकर कार्य करनेकी शक्तिकी यह एक सिद्धि है। ऋत्विज इस प्रकार ध्यानद्वारा अपने मनको बाहर जगत्में भेजते थे और जहां बादल होंगे वहांसे उनको खींचकर लाते थे और वृष्टि कराते थे। जागृत अवस्थामें मन बाहर जाता है और वहां कार्य करता है इसका यह ग्रंथोक्त प्रमाण है। शतपथब्राह्मणके लेखक आचार्य याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि “जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहां अवश्य वृष्टि होगी।” इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहां ही अन्य यज्ञोंकी सिद्धियां होंगी। पुत्रकामेष्टि आदि यज्ञ हैं कि जिनके करनेसे अपने मनकी इच्छानुरूप पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है, उनकी सिद्धि भी ऋत्विजोंकी मानसिक योग्यतापर निर्भर है। इससे पता लग सकता है कि मानसिक योग्यताके बिना किया हुआ कर्म फल नहीं दे सकता।

एक प्रयोग करो

जागृत अवस्थामें मनको दूर भेजने और वहां कार्य करनेकी शक्ति आजकल प्रायः सुप्त ही है और उसको पुनः कार्यक्षम करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते। जागृत अवस्थामें एककी मानसिक शक्ति दूसरेके मनके ऊपर परिणाम कर सकती है। इसका अनुभव थोडेसे परिश्रमसे पाठक भी देख सकते हैं। आठ दस मनुष्य यदि एक विचारके—और विशेषतः सुविचारी-हों तो वे एकांत और शांत स्थानपर निम्न प्रकार बैठें—

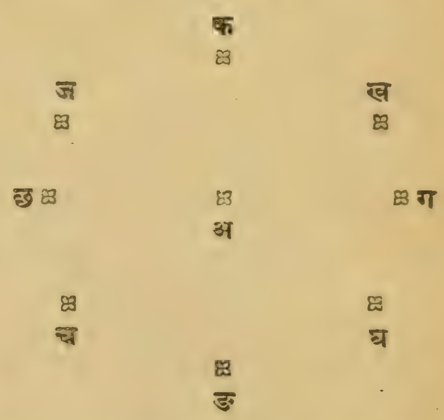

'अ' स्थानपर ऐसा मनुष्य बैठे कि जो अपना मन निर्विचार, स्थिर और शांत रख सके तथा 'क ख' आदि स्थानपर ऐसे मनुष्य बैठें कि जो अपने मनमें सब मिलकर एक ही विचार प्रबल कर सकते हैं। 'क ख' आदि स्थानपर बैठनेवाले मनुष्य, 'अ' को विदित न करते हुए, किसी प्रसिद्ध पदार्थकी कल्पना मनमें धारण करें, और उक्त प्रकार बैठनेके पश्चात् वही कल्पना अपने मनमें

प्रबलतापूर्वक जागृत करें और अपनी मानसिक शक्तिसे वह कल्पना 'अ' के मनमें डालनेका पराकाष्ठाका यत्न करें। यदि 'अ' का मन निर्विचार और शांत रहा, तथा 'क ख' आदि मनुष्योंमें केवल वही एक विचार स्थिर और प्रबल रहा, तो विना कहे 'अ' के मनमें वही कल्पना आती है कि जो 'क, ख' आदि मनुष्योंके मनमें थी। यदि किसी एक मनुष्यमें विपरीत भावना उत्पन्न हो गयी तो सिद्धिमें विघ्न होता है। इसलिये प्रबलतापूर्वक दृढ निश्चयसे और एक विचारसे यह अनुभव लेना उचित है। इसके लिये अधिक परिश्रमकी आवश्यकता भी नहीं है। मनके विचारोंका दूसरेपर किस प्रकार परिणाम होता है इसका अनुभव इस रीतिसे प्राप्त हो सकता है। प्रथम आरंभमें प्रसिद्ध फल, फूल आदि पदार्थोंका ध्यान करना, जिससे 'अ' के मनमें झट कल्पना आनेके लिये सुविधा हो सकेगी।

एक मनुष्यके मनके विचारोंका परिणाम इस प्रकार दूसरेके मनपर होता है, इसीलिये उक्त मंत्रमें कहा है कि—

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

'मेरा मन शिवसंकल्पमय होवे।' यदि मनके अंदर बुरे विचार उत्पन्न हो गये, तो उनका बुरा परिणाम अन्य मनुष्योंपर हो सकता है, तथा यदि विचार अच्छे हो गये तो उनका परिणाम भी अच्छा हो सकता है। यहां स्मरण रहे कि हमारे हरएक विचारका बुरा भला परिणाम दूसरोंपर हो रहा है। परिणाम किये विना कोई विचार रहता नहीं। इसलिये आवश्यक है कि हम सब सदा शुभ विचार ही करें और कभी बुरे विचारको अपने मनमें स्थान न दें। अब सुप्त अवस्थामें हमारा मन दूर दूरके स्थानोंमें चला जाता है, ऐसा जो उक्त मंत्रमें कहा है, उसका विचार करना है। स्वप्नमें भी इसी प्रकार जाता है। जिस प्रकार पतंग या गुड्डीके खेलमें बारीक धागेके साथ पतंगको आकाशमें वायुकी गतिकी सहायतासे भेज देते हैं उसी प्रकार योगीजन अपने मनको इष्ट स्थानपर भेजते हैं, और वहांका कार्य करनेपर वापस खेंचते हैं। परंतु जिनको मन बाहर भेजनेकी शक्ति नहीं है, उनका अर्थात् साधारण मनुष्योंका मन स्वप्नमें जिधर चाहे उधर भटकता है और थक जानेपर स्वयं वापस आता है। इस विषयमें निम्न प्रकारका एक अनुभव विचार करनेयोग्य है—

एक सत्य घटना

कोल्हापुरमें म. गोळविदेकर नामक एक घराना है। शक १८५६ (ई. स. १८९४) में उस घरानेमें चार भाई और एक माता इतने कुल मनुष्य थे। भाईयोंके क्रमपूर्वक नाम पं० प्रभाकरपंत, वासुदेव, दत्तोपंत और नारायणराव हैं, और माताका नाम श्रीमती रुक्मिणीबाई है। इनमें सबसे ज्येष्ठ भ्राता पं. प्रभाकरपंत कोल्हापुरसे चार पांच मील दूर अपने केर्ली ग्राममें घरवाडीकी व्यवस्था करता हुआ रहता था और शेष तीन भाई अपनी वृद्ध माताजीके साथ कोल्हापुर नगरमें रहा करते थे। उक्त वर्षके वैशाख शुक्ल द्वितीयाके दिन रात्रिके तीन बजेके समय उक्त माताजीको स्वप्न (ख्वाब) आया, जिसमें उन्होंने देखा कि अपने ज्येष्ठ पुत्रके मकानमें दीवार तोडकर एक चोर, बैरागीके वेशमें घुस गया है, अपना पुत्र सोया पडा है और उस निद्रित पुत्रके सिरपर उस चोरने अपने लोहेके चिमटेका आघात किया है, जिससे पुत्र मर चुका है। यह स्वप्न देखते ही वह रोती हुई उठी और उसने स्वप्नका वृत्तांत सबको बता दिया। सबने कहा कि स्वप्न ही है, उसमें विचार क्या करना है!

इसके पश्चात् दो घंटोंके अंदर उस केर्ली ग्रामसे पं. प्रभाकरपंतका नौकर आ गया और उसने वही बात ठीक उसी प्रकार कही! तब जाकर निश्चय हुआ कि स्वप्नकी बात बिलकुल ठीक थी।

(१) दीवारको खोदकर चोरका अंदर घुसना,
(२) चोरका बैरागी होना,
(३) चिमटेके आघातसे पुत्रका वध होना,
(४) पं० प्रभाकरजीका वध सोते समय बैरागीके चिमटेसे सिरपर किये आघातसे होना।

इत्यादि बातें जैसी स्वप्नसे प्रथम ज्ञात हो गयी थीं सबकी सब जैसी की वैसी ही सत्य सिद्ध हो गईं। इससे पता लग सकता है कि मनुष्यका मन स्वप्नमें दूर दूरके स्थानमें (दूरं गमं) चले जाता है और वहांका सब कुछ हाल देखता है। उक्त माताजीका मन इसी प्रकार पुत्रके ग्राममें चला गया था और उसने पुत्रका वध प्रत्यक्ष

देखा था, अन्यथा सब बातोंका पता लगना असंभव था। उक्त कथा प्रत्यक्ष देखनेके कारण निःसंदेह सत्य है। क्यों कि इन बातोंका विचार करनेके लिये जो बात जैसी हो गयी थी वैसी ही कहनी चाहिए। अन्यथा विचार होना ही असंभव है। कल्पित कथाओंका किसी प्रकार भी यहां उपयोग नहीं है। इसलिये मैं कभी कल्पित कथा प्रस्तुत नहीं करता।

इस प्रकार वेदमंत्रका दूसरा कथन जो (१) 'तदु सुप्तस्य तथैवैति' (२) 'दूरंगमं' इन शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ था, सत्य है ऐसा सिद्ध हुआ है। (३) 'जाग्रतो दूरं उदैति।' जागते हुए दूरके स्थानपर चले जाता है, इस कथनकी सत्यता उक्त शतपथके वचनसे, अर्थात् वृष्टिकी सिद्धिसे, सिद्ध हो सकती है, अथवा जो प्रयोग पूर्व स्थानपर दिया है उससे भी किंचिन्मात्र सिद्धि होना संभव है। यदि किसी पाठकका कोई अनुभव हो कि जिससे जागृतिमें भी मनके दूर जानेकी सिद्धि हो सकती है, तो उस अनुभवको वह प्रसिद्ध करनेकी कृपा करे। कोई कल्पित बात नहीं चाहिए, तथा सब अनुभव तर्कदृष्टिसे परीक्षा करके सिद्ध होनेवाला चाहिए।

मनकी दिव्य शक्तिका अनुभव प्राप्त होनेसे ही अपने आत्मिक बलकी कल्पना हो सकती है। इसलिये सबसे पूर्व मनकी विविध शक्तियोंका अनुभव लेना चाहिए। धार्मिक पुरुषोंको तैयार होना चाहिए और इस दिशासे प्रयत्न करना चाहिए।

अपने प्रभावका गौरव

कई लोग अपने आपको तुच्छ समझते हैं, 'मैं गिरा हुआ हूं, मैं पतित हूं' आदि वाक्य बोलनेका कईयोंको बडा अभ्यास होता है। केवल अभ्यासकी ही बात नहीं, प्रत्युत ऐसा बोलते रहना बडी नम्रताका और सौजन्यका चिह्न समझा जाता है परंतु—

नात्मानमवमन्येत।

'अपना अपमान करना उचित नहीं' ऐसा महाभारतमें कहा है। जो अपने आपके लिये तुच्छ शब्दोंका प्रयोग करेगा वह शीघ्र उठ नहीं सकता। वेदमें हजारों प्रार्थनाएं हैं, परंतु किसी स्थानपर 'हे परमेश्वर मैं पतित हूं, मुझे तुम उठाओ, मैं हीन हूं मुझे योग्य बनाओ' इस प्रकारकी पतित प्रार्थना नहीं है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ यजु० १९।९

'हे परमात्मन्! तू तेजस्वी है, मुझमें तेज स्थापन कर, तू वीर्यवान् है, मुझमें वीर्य स्थापन कर, तू बलवान् है, मुझमें बल स्थापन कर, तू समर्थ है मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर, तू उत्साहमय है मुझमें उत्साह स्थापन कर, तू सहनशक्तिसे युक्त है मुझमें श्रम सहन करनेकी शक्ति स्थापित कर।' यह वैदिक प्रार्थना है। यदि आजकलकी दुर्बल रीतिसे उक्त प्रार्थना करना हो तो निम्न प्रकार की जा सकती है—

हे परमेश्वर! मैं बिलकुल तुच्छ निर्बल, अन्धकारमय, वीर्यहीन हूं, इसलिये कृपा करो और मुझमें शक्ति, सामर्थ्य, तेज और वीर्य स्थापन करो!

(आज कलके भजन पुस्तक)

आज कलके भजन पुस्तकोंके भजनोंमें इस प्रकारके भजन होते हैं। उक्त वेदके वाक्यके साथ इन भजनों और प्रार्थनाओंकी तुलना कीजिये और देखिये सच्ची धार्मिक ओजस्विता किसमें है।

मनुष्य जो शब्द बोलता है उसका परिणाम उसके आंतरिक मनपर होता, जो भाव आंतरिक मनपर होता है वही उसके शरीरमें और सब कारोबारोंमें होता है। इसलिये वेदमें किसी स्थानपर आत्मघातकी प्रार्थना नहीं है, तेज, बल, ओज, उत्साह और सहनशक्ति हरएक मनुष्यको प्राप्त करना आवश्यक है; उक्त गुण परमेश्वरसे ही प्राप्त होते हैं, इसलिए उक्त परमेश्वरीय गुण धारण करनेकी उत्साहपूर्ण योग्यताके साथ उपासनाके समय परमेश्वरके पास जाना चाहिये। उपासनाके समय दुर्गुणका स्मरणतक करना उचित नहीं है। अपने अथवा किसी अन्यके दुर्गुणके विचार करतेही मनके ऊपर दुर्गुणका लेप लगता है। इसलिये बडी सावधानीके साथ उपासनाके शब्द बोलने चाहिए।

अपने दुर्गुणोंका बारंबार उच्चारण करनेसे भी वैसा ही बुरा असर होता है, कि जैसा दूसरेके दुर्गुणोंका उच्चार करनेसे होता है। यदि किसी समय बुरा कार्य हुआ तो

झट उसी समय पश्चात्ताप करके उसको ऐसा भूलनेका यत्न करना चाहिये कि फिर उस विचारकी जागृति भी कभी न हो सके। वेद कहता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ यजु० २५।२१

(१) "कानोंसे अच्छे शब्द सुनें, (२) आंखोंद्वारा अच्छे भावसे देखें, (३) सुदृढ शरीरके साथ वाणीद्वारा प्रशंसित गुणोंका उच्चारण करें और (४) अपनी आयु श्रेष्ठोंके हितके लिये अर्पण करे।" ये चार भाव उक्त मंत्रमें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार बोलना और सुनना चाहिए। जिस समय 'मैं दीन हूं' ऐसा बोला जाता है उस समय ये शब्द सुने भी जाते हैं। बोलने और सुननेका आंतरिक मनपर पक्का असर हो जाता है। इसलिये सदा इस बातके विषयमें सावधान रहना चाहिये। वेदकी प्रार्थनायें इस विषयमें निश्चित मार्ग बता रही हैं, परंतु वेदके धर्ममार्गपर चलनेका उत्साह बतानेवाले भी पतित विचारमय प्रार्थनाओंसे ही अपनी प्रार्थना करते हैं। वेद कहता है कि—

स्वं महिमानमायजताम्॥ यजु० २१।४७॥

(Let him worship his own majesty)

'अपने प्रभावका गौरव करो।' प्रत्येक मनुष्यमें कोई न कोई विशेष योग्यता अवश्य रहती है। उस अपने प्रभावशाली गुणकी खोज प्रथम करनी चाहिये और उसका विस्तार करना चाहिये। उस गुणके लिये परमेश्वरकी अतुल कृपा समझनी चाहिये। और किसी समयमें भी अपने या दूसरेके बुरे आचार व्यवहारका स्मरणतक नहीं करना चाहिए। इस प्रकार निश्चयपूर्वक व्यवहार करनेसे एक मासके अंदर ही अपने मनकी वृत्ति शुद्ध हो सकती है। अनुभव लीजिये।

पुरुषार्थके लिये उत्साहमय प्रेरणा

भगवान ऐतरेय महीदास महामुनिकी उत्साहमय वाणीसे पुरुषार्थके लिये प्रेरणाका उपदेश ऐतरेय ब्राह्मणके सप्तम पंचिकामें हुआ है। मनुष्य अपनी उन्नति, पुरुषार्थ प्रयत्नके बिना नहीं कर सकता यह सार्वकालिक सिद्धांत है। किसी समय मनुष्यके लिये पुरुषार्थ प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं है। इसलिये हरएक मनुष्यको यह उपदेश स्मरण रखना योग्य है। किसी एक प्रसंगमें राजा हरिश्चंद्रके युवराज रोहितको भगवान इंद्रका उपदेश निम्न प्रकार हुआ है। जो ऐतरेय महीदासकृत ऐतरेय ब्राह्मणमें है—

नानाश्रांताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जनः इंद्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति॥ १॥

"हे रोहित राजपुत्र! (अ-श्रांताय) जो परिश्रम करके नहीं थक जाता उस सुस्त मनुष्यके लिये (श्रीः) धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि (न अस्ति) नहीं प्राप्त होता है। (इति शुश्रुम) ऐसा हम सुनते आये हैं। (नृ-षद्वरो जनः) जो मनुष्योंमें सुस्त होता है वही (पापः) पापी होता है। (इत्) निश्चयसे (इंद्रः) प्रभु (चरतः सखा) पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाले उत्साही मनुष्यके मित्र हैं। इसलिये (चर एव) पुरुषार्थ करो, निश्चयसे परम पुरुषार्थ करो।

श्रीका अर्थ–धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, उन्नति, अभ्युदय, महत्त्व, राजकीय शोभा; उच्च स्थिति, सौंदर्य, तेज, शोभा, शरीरकी उत्तम कांति, सद्गुण, बुद्धि, दैवीशक्ति, योगकी शक्ति, धर्म, अर्थ, काम, वक्तृत्व, यश, कीर्ति। यह सब उस श्रेष्ठ मनुष्यको प्राप्त होता है कि जो थक जानेतक महान् पुरुषार्थ करता है। जो सुस्त मनुष्य सोता रहता है उसको आप पापी समझिए। सुस्ती, आलस्य, उद्योग न करना, निरुद्योगता, निकम्मेपन, आरामतलबी ये ही पाप हैं। जो निकम्मा रहता है वही पापी होता है। पुरुषार्थ करना ही पुण्य है। जो बडा प्रयत्न करता है वही धर्मात्मा और पुण्यात्मा मनुष्य है। परमेश्वर प्रयत्नशील पुरुषकी ही सहायता करता है। इसलिये हरएक मनुष्यको अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। तथा—

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति चरैवेति॥ १॥

"जो (चरतः) चलता रहता है उसीकी (जंघे) जांघें (पुष्पिण्यौ) फूलकर पुष्ट होतीं हैं। पुरुषार्थी मनु-

ष्यका आत्मा ही (भूष्णुः) अभ्युदय प्राप्त करनेवाला और (फलग्रहिः) फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला होता है। इसके सब पाप मार्गके बीचमें ही (श्रमेण हताः) परिश्रमके कारण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्य निश्चयपूर्वक पुरुषार्थ करो। "

जो चलता है उसके पांव और जांघें बलवान और पुष्ट होती हैं, जो नहीं चलता, सदा बैठा रहता है उसके पांव कृश रहते हैं। जो हाथोंसे व्यायाम करता है उसीके बाहुओंमें पुष्टि और शक्ति बढती है जो व्यायाम नहीं करेगा उसके बाहु अशक्त रहेंगे। उसी प्रकार व्यायाम करनेसे सब शरीर पुष्ट और सुदृढ होता है। जो व्यायाम नहीं करते उनका शरीर निर्बल हो जाता है। इसलिये अपना शरीर पुष्ट बलवान और निरोग बनाना अपने ही हाथमें है।

पुरुषार्थ करनेवालेके आत्मामें आत्मविश्वास रहता है। मैं अपनी उन्नति अवश्य प्राप्त करूंगा ऐसा विश्वास प्रयत्नशील पुरुषके अन्तःकरणमें सदा रहता है। पुरुषार्थी मनुष्य कभी हताश, निरुत्साही और उदास नहीं होता। हमेशा उत्साहकी धुंदमें प्रयत्न करता ही रहता है। इसलिये वही मनुष्य अन्तमें फलको अपने ही पास खींच लेता है। कर्मोंका मधुर फल भक्षण करनेका उसीको सौभाग्य प्राप्त होता है। प्रयत्नके श्रमसे जो घर्मकी धारायें बहती हैं उन धाराओंसे उसके सब पापके मल धोये जाते हैं और वह निष्पाप बनता है। इतना परिश्रमका माहात्म्य है। इसलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अवश्य परम पुरुषार्थ करके पवित्र बने।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति॥ ५॥

" (आसीनस्य) जो बैठ रहता है उसका (भगः) ऐश्वर्य (आस्ते) बैठा रहता है। (तिष्ठतः) जो खडा रहता है उसका ऐश्वर्य ऊपर खडा रहता है। (निपद्यमानस्य) जो सोता रहता है उसका ऐश्वर्य भी (शेते) सो जाता है और (चरतः भगः) पुरुषार्थ करनेवालेका ऐश्वर्य (चरति) उसके साथ चलता हुआ जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे अवश्य पुरुषार्थ करो। "

ऐश्वर्य, धन, प्रभुत्व आदि सब उसी मनुष्यको प्राप्त होते हैं कि जो सदा प्रयत्नकी पराकाष्ठा करता है। आलसी मनुष्यको कभी ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हो सकता। जो सोवेगा, उसका धन भी सोवेगा इसलिये हरएकको अवश्य परम पुरुषार्थ करके ऐश्वर्य आदि सब प्राप्त करने चाहिये।

कोई देव आकर मुझे ऐश्वर्य देगा, ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्योंकि दैववादी आलसी मनुष्योंका धन और ऐश्वर्य सोता रहता है इसलिये वह उनके पास पहुंच नहीं सकता, जबतक कटिबद्ध होकर पुरुषार्थ नहीं करता तबतक उसका ऐश्वर्य उठकर उसके पास नहीं पहुंच सकता है। इसलिये सबको उत्तम पुरुषार्थ करना उचित है।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः॥
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

" (शयानः) सोना ही कलियुग (भवति) होता है। (संजिहानः) आलस्य छोड देना ही द्वापर युग है। (उत्तिष्ठन्) उठना त्रेतायुग होता है और (चरन्) पुरुषार्थ करना ही कृतयुग (संपद्यते) बन जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे पुरुषार्थ करो। "

कई लोग अपने नुकसानीके कारण ' समय ' को दोष देते हैं। परंतु ' समय ' सबके लिये एक समान होता है। लोग कहते हैं कि यह कलियुग है इसमें ये दोष अवश्य हो ही जायंगे। परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक राष्ट्र अपने लिये अपने पुरुषार्थसे कलियुग अथवा सत्ययुग बना सकता है। आलस्यमें सडनेवालेके लिये सब समय कलियुग अर्थात् हीन अवस्थाका समय हो जाता है, जो आलस्य छोडकर उठकर पुरुषार्थ करनेके लिये कटिबद्ध होता है उसके लिये वही समय द्वापर और त्रेतायुग बन जाता है। तथा जो दृढ विश्वास और प्रबल उत्साहके साथ अपने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा करता है उसके लिये हरएक समय प्रशंसनीय सत्ययुग, सुवर्णयुग अथवा उन्नतिका और आनंदका समय हो जाता है इसलिये सबको उचित है कि वे अपने अन्तःकरणोंको पुरुषार्थके ढांचेमें ढाल कर रखें, जिससे उनके अन्दर कभी आलस्य और उदासीनताकी लहर न उठे। तथा और कहा है—

चरन्वै मधु विंदति चरन्त्स्वादुमुदुंबरम् ।।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् ।।
चरैवेति चरैवेति ।। ५ ।। ऐतरेय ब्रा. ७।१५।१-५

" मधु मक्षिका (चरन्) निश्चयसे पुरुषार्थ करनेके कारण ही (मधु विंदति) मधु-शहद-प्राप्त करती है। पक्षी (चरन्) भ्रमण करके ही (स्वादुं उदुंबरं) मीठे फलको प्राप्त करते हैं। (पश्य) देखो (सूर्यस्य श्रेमाणं) सूर्यकी शोभा इसीलिये है कि (यः) वह (चरन्) भ्रमण करता हुआ भी (न तंद्रयते) नहीं थकता। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे पुरुषार्थ करो। "

पशुपक्षी, कीटपतंग, मक्खियां और सब प्राणी पुरुषार्थ करके ही अपने उपभोगोंको प्राप्त करते हैं। प्रयत्नके विना किसीको भी कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये सबको पुरुषार्थ करना उचित है।

इस प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्नकी महिमा ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णन की है। यही वैदिक पुरुषार्थके मार्गका दृश्य है। वैदिकधर्ममें रहनेवालोंमें थकावट, सुस्ती, आलस्य, उदासीनता आदि दुर्गुण नहीं चाहिये। वैदिकधर्म उत्साहमय पुरुषार्थका धर्म है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये पुरुषार्थ, सब समाजकी भलाईके लिये पुरुषार्थ, राष्ट्रके हितके लिये पुरुषार्थ, सब जनताके अभ्युदयके लिये पुरुषार्थ कीजिये। उठिए अब बहुत देर हो गई है।

पुरुषार्थ-प्रयत्न करनेवालेको ही देवता सहायता करते हैं

देवोंकी सहायतासे मनुष्यकी उन्नति होती है। देवोंका सहाय्य तबतक नहीं होता कि जबतक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता। देखिये, ऋग्वेदमें कहा है—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः (ऋ. ४।३३।११)

" (श्रांतस्य ऋते) परिश्रम करनेके विना (देवाः) देव (सख्याय न) मित्रता नहीं करते। " अर्थात् जो परिश्रम करेगा उसीकी समृद्धि, उन्नति और वृद्धि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं करता उसकी उन्नति नहीं हो सकती।

व्यायाम करनेसे शरीरके अवयव पुष्ट होते हैं; संयम और दमन करनेसे इंद्रियोंकी शक्ति बढती है; एकाग्रताका अभ्यास करनेसे मनका सामर्थ्य वृद्धिंगत होता है; अर्थात् अपने शरीरके इंद्रियरूपी देव भी उसी समय सहायता करते हैं कि जिस समय इन्द्रियोंके द्वारा उत्साहपूर्ण प्रबल प्रयत्न होता है। जो सुस्तीसे बैठेगा उसके अंग वैसे सुडौल नहीं बनते कि जैसे व्यायाम करनेवालेके बनते हैं।

अग्नि, वायु, जल, सूर्य, विद्युत् आदि बाह्य जगत्‌के देव भी तबतक मनुष्यकी सहायता नहीं करते कि जबतक मनुष्य विशेष पुरुषार्थ नहीं करता। जबतक आग जलाकर अन्न पकानेका पुरुषार्थ मनुष्य नहीं करेगा तबतक अग्नि मनुष्यकी सहायता नहीं कर सकेगा। जबतक कूंआ खोदकर, जल निकाल कर शरीर और कपडे स्वच्छ न किये जांय तबतक जलदेवता मनुष्योंको स्वच्छता प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार अन्य देवताओंके विषयमें समझिए। अर्थात् पुरुषार्थ करनेवालेकी ही सहायता देवतागण कर सकते हैं, आलसी मनुष्यकी कोई सहायता नहीं कर सकता।

ज्ञानी, विद्वान्, योगी, महर्षि भी उन्हीं मनुष्योंकी सहायता कर सकते हैं कि जो ज्ञान लेने और योगाभ्यास करनेमें तत्पर होते हैं। जो सुस्तीसे बैठेंगे उनको उठाना किसीकी शक्तिमें नहीं है। अर्थात् आत्मविश्वासपूर्वक प्रयत्न ही उन्नतिका साधक है। निश्चयसे जान लीजिए कि एकमात्र यही उपाय है।

साक्षात् परब्रह्मको भी बडे प्रयत्नके साथ और तप करनेके पश्चात् ही जगत्‌की धारणा करनेकी सफलता हुई है। देखिये, गोपथ ब्राह्मणमें कहा है—

ॐ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्। स्वयं त्वेकमेव
तदैक्षत। महद्वै यक्षं। तदेकमेवाऽस्मि।
हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे इति।
तदभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तस्य
श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो
यदार्द्र्यमाजयत। तेनानन्दत् ...... ॥ १॥
स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं
समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो
रोमगर्तेभ्यः पृथक्स्वेदधाराः प्रास्यन्दत।
ताभिरनन्दत्। तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं
सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किं च ...... ॥ २॥
(गोपथ ब्रा. प्र. १)

" निश्चयसे यह ब्रह्म ही केवल प्रथम था। वह स्वयं एक ही था। उसने देखा कि यद्यपि मैं महान् और यजनीय

हूं तथापि मैं केवल एक ही हूं। इसलिये मैं अपनेसे अपने सदृश दूसरा देव निर्माण करूंगा। पश्चात् उसने श्रम किया, कष्ट सहन किये और बडा तप किया। जिससे उनके मस्तकपर पसीनेके बूंद आगये। उस पसीनेसे उसको बडा आनंद हो गया ... ... ॥ उसने फिर बहुत ही परिश्रम किया, बहुत कष्ट सहन किये और बडा भारी तप किया, जिससे उनके शरीरके रोमरोमसे अलग अलग पसीनेकी धाराएँ बहने लगीं। उन धाराओंको देखकर उसे बहुत आनंद हो गया और उसने कहा कि इन धाराओंसे इस सब जगत्‌की मैं धारणा करूंगा ... ... ॥"

यद्यपि यह वर्णन बडे अलंकारसे युक्त है, तथापि उसमें उत्साहमय महान् पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा निःसंदेह है। श्रम करना, परिश्रमसे पुरुषार्थ करना, आनंदसे कष्ट सहन करना, तप करना, इत्यादिसे ही वृद्धि होती है। उन्नति और अभ्युदय इसीसे प्राप्त होता है। जब परब्रह्मको भी परिश्रम करना पडता है, तो अन्य छोटी शक्तिवालोंको परिश्रम करनेकी कितनी आवश्यकता है उसका विचार पाठक कर सकते हैं। यही उपदेश इस गोपथके वर्णनद्वारा ऋषिने किया है अर्थात् परिश्रम और पुरुषार्थके विना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

'आत्मा' शब्दका अर्थ ही 'सतत पुरुषार्थ करनेवाला' है। 'अत्–सातत्यगमने' इस धातुसे आत्मा शब्द बना है। सतत हलचल (Constant movement) करना, अर्थात् हमेशा पुरुषार्थ करना आत्माका नैसर्गिक स्वभाव है। इस निजधर्मको आत्मासे पृथक् नहीं किया जा सकता। जहां आत्मा होगा वहां पुरुषार्थ अवश्य होना चाहिए, अर्थात् आलस्य आत्माका निजधर्म नहीं है। आत्माका स्वभावधर्म सतत पुरुषार्थ करनेका उत्साह है। जो आलसी बनता है, वह अपने स्वभावधर्मसे गिरता है; इस कारण अधोगतिको प्राप्त होता है। इसीलिये आलस्यका स्वीकार करना किसीको भी उचित नहीं।

व्यक्तिके गुणोंका विकास, समाजके गुणोंका उत्कर्ष, राष्ट्रीय सद्गुणोंका अभ्युदय करना प्रत्येकका कर्तव्य है। इन कर्तव्योंको न करनेसे ही सब पातक और सब दोष होते हैं। देखिए—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ (अथर्व. ११।५।४)

'ब्रह्मचारी (लोकान्) सब लोगोंको अपने (श्रमेण) परिश्रमद्वारा और तपके द्वारा (पिपर्ति) संतुष्ट करता है।' अर्थात् ब्रह्मचारीको उचित है कि वह परिश्रम करके तथा कष्ट सहन करके सब जनताकी भलाईके कार्य करता रहे। परोपकार, जनहित, समाजहित, राष्ट्रहित करना ब्रह्मचारीका एक मुख्य कर्तव्य है। यह बात इससे सिद्ध है। तथा जनहितके कार्य बडे परिश्रमसे ही सिद्ध होनेवाले होते हैं, इसलिये सब प्रकारसे कष्ट सहन करनेके लिये ही ब्रह्मचारियोंको सदैव तैयार रहना चाहिए।

न श्राम्यन्ति न विमुंचन्त्येते
वयो न पप्तू रघुया परिज्मन् ॥
(ऋ० २।२८।४)

'(न) जिस प्रकार (रघुया वयः) वेगवान् पक्षी (परिज्मन्) आकाशमें सर्वत्र निरंतर भ्रमण करते हुए (पप्तुः) दौडते हैं, उस प्रकार वे (न श्राम्यन्ति) परिश्रम करनेसे थकते भी नहीं और प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें (न विमुंचन्ति) छोडते भी नहीं।'

इस मंत्रमें दो बातोंका उपदेश किया है– (१) ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि जिससे अत्यंत पुरुषार्थ प्रयत्न करनेपर भी थकावट न हो सके, तथा (२) प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें अधूरा ही छोड देनेकी बुरी आदत न रहे। कार्यसिद्धिके लिये ये दोनों बातें मुख्य हैं। तीसरी बात जो इस मंत्रद्वारा उपमासे बताई है, वह यह है कि, (३) पक्षी जिस प्रकार स्वतंत्रतापूर्वक विहार करते हुए स्वावलंबन और स्वाधीनताके साथ अपने आवश्यक पदार्थोंको पुरुषार्थसे प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंको भी उचित है कि वे स्वावलंबन और स्वातंत्र्यका संरक्षण करते हुए अपने आवश्यक पदार्थोंके लिये किसी दूसरोंपर निर्भर न रहे। पक्षियोंके आचरणसे यह उपदेश मनुष्योंको लेना चाहिए। इस प्रकार सतत पुरुषार्थका माहात्म्य है। देखिए और वेदने कहा है—

न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम।
(ऋ० २।३०।७)

'(न मा तमन्) मेरे लिये अज्ञान न हो (न श्रमन्)

थकावट न हो (उत न तन्द्रन्) और आलस्य न आवे, (न वोचाम) हम गप्पेबाजी न करें।'

(१) अज्ञान, (२) थकावट, निरुत्साह, (३) आलस्य और (४) बडबड करनेका स्वभाव ये ही चार दुर्गुण हैं कि जो मनुष्यमें अवनति लाते हैं। इसलिये सबको उचित है कि वे इन दुर्गुणोंको सदा दूर रखनेका यत्न करें। अर्थात् (१) ज्ञान, (२) उत्साह, (३) पुरुषार्थ-प्रयत्न और (४) शांतिके साथ कर्तव्य करनेका गुण प्राप्त करें और अपने अभ्युदयके मार्गमें जो जो विघ्न आ जांयगे उनको निश्चयसे दूर करें।

इस प्रकार परिश्रम करनेका वेदमें उपदेश है। हरएक मनुष्यको चाहिए कि वह इस दिव्य उपदेशको स्मरण रखे और पुरुषार्थ करके अपनी तथा राष्ट्रकी उन्नति साधन करे और सर्वप्रथम मनको शिवसंकल्पमय बनावे। क्योंकि यही सब उन्नतिकी बुनियाद है। मन शिवसंकल्प करेगा तो ही अन्य पुरुषार्थ सिद्ध होकर लाभदायक हो सकते हैं।

प्रश्न

१ मनुष्यका मन शिवसंकल्प क्यों करे ? इससे क्या लाभ होगा ?

२ उत्तम सारथीकी उपमासे यहां क्या बोध दिया है ?

३ दस्युके लक्षण कौनसे हैं ?

४ मन यज्ञ द्वारा पवित्र बने इसका अर्थ क्या है यह किस तरह होगा ?

५ आत्मविश्वास न रहा तो मनुष्यकी क्या हानि होगी ?

६ मनुष्यकी हानि कौन करता है ?

७ अदीन बननेका अर्थ क्या है ?

८ अपने प्रभावका गौरव क्यों किया जाय ?

९ प्रयत्न करनेसे क्या नहीं हो सकता ? क्या प्रयत्नके विना सिद्धि हो सकती है ?

१० देवताओंसे मनुष्यको किस समय सहायता प्राप्त होती है ?

११ श्रम करनेके विना किसकी उन्नति होती है ?

१२ मनुष्यमें कौनसे दुर्गुण होनेसे मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है ?

१३ मनको शिवसंकल्पमय बनानेके विना मानव उन्नतिको प्राप्त हो सकेगा ?

१४ क्या मनुष्य मनको स्वाधीन रख सकता है ?

१५ मनको स्वाधीन न रखनेवालेकी क्या हानि होगी ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए, भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — १८ वाँ व्याख्यान

मनका प्रचण्ड वेग

लेखक

महामहोपाध्याय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्यायमण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

मनका प्रचण्ड वेग

सब कहते हैं कि ' मन ' बडा ही चंचल है और मन अत्यंत वेगवान् है; परंतु मनका वेग कितना है और वह एक निमेषमें कितनी दूर जा सकता है, इसका विचार इस समयतक किसीने नहीं किया है। बैल, घोडा, रेलगाडी, चंद्र, सूर्य, आदि वेगवान् पदार्थ हैं। वायु, प्रकाश और विद्युत्का भी वेग अत्यंत है, इन सब पदार्थोंके वेग प्रतिक्षणमें इतने हैं, ऐसा सिद्ध हो चुका है। प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थोंसे अदृश्य पदार्थोंतक सबके वेग इस समय विदित हैं, परंतु जिस मनसे उक्त पदार्थोंके वेग नापे जाते हैं, उस मनके वेगका अभीतक किसीको पता ही नहीं है।

मनके अंदर वेग है, और वह एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जा सकता है, इसका भी बहुत थोडे लोगोंको ज्ञान है। वेग दो प्रकारका होता है, एक अपने ही अंदरकी गति और दूसरी स्थानांतरमें जानेकी गति। मनकी चंचलताका जो मनुष्य अनुभव करते हैं, वे उसकी आंतरिक गतिको मानते ही हैं। चंचलताका यही अर्थ है कि उसके घटक अवयवोंमें बडी विलक्षण गति है। यह आंतरिक गति इतनी अधिक है कि इस गतिके कारण मनको स्थिर करना बडा ही मुश्किल हो गया है। साधारण प्रयत्नसे मनकी स्थिरता होती ही नहीं। योगाभ्यास द्वारा प्रबल निश्चयपूर्वक बडे प्रयत्नोंके साथ इसका निरोध हो सकता है। पचीस घोडोंकी शक्तिसे चलनेवाली मोटार गाडीको सुगमतासे कोई पहलवान रोक सकता है, परंतु मनकी आंतरिक गतिका निरोध करना बहुत ही कठिन कार्य है।

यह विचार मनके आंतरिक वेगका हो गया। परंतु इसका दूसरा भी एक वेग है कि जो एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेसे संबंध रखता है। मनके इस वेगके विषयमें कई विद्वान् संदेह करते हैं। इसलिये इस बातका जहां विचार करना है कि वेदमंत्रोंके कथनका क्या तात्पर्य प्रतीत होता है। आत्माका वेग वर्णन करते हुए वेद कहता है कि—

एकं मनसो जवीयः ॥ यजु. ४०।४

" आत्मा अथवा ब्रह्म मनसे वेगवान् हैं। " आत्माका वेग मनसे अधिक है, इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि मनकी गति आत्मासे कम है। अर्थात् आत्मासे भिन्न अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा मनका वेग अधिक है। हमारे पास निम्न पदार्थ हैं—

परमात्मा
आत्मा बुद्धि
:
मन
:
ज्ञानेंद्रिय
कर्मेंद्रिय
स्थूल शरीर
सम्पूर्ण जगत्

इंद्रियोंकी शक्ति और गति सबके अनुभवमें हैं। उनसे मन वेगवान् है और उससे भी आत्मा वेगवान् है, यह उक्त वचनका तात्पर्य है। अर्थात् यद्यपि मनकी गति आत्मासे कम है, तथापि अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा उसकी गति अत्यंत अधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। क्या यह मनकी गति स्थानिक है अथवा स्थानांतरीय है? अर्थात् क्या यह मन अपने स्थानमें रहता हुआ चंचल रहता है अथवा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जाता है? यही बडा गहन प्रश्न है, जिसका विचार इस लेखमें करना है। मनके दूर जानेके विषयमें वेदमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं —

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥ १ ॥
यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥ २॥
यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥ ४ ॥
यत् ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥ ५ ॥
यत् ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ९ ॥
यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥ १० ॥
यत् ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥ ११ ॥
ऋग्वेद १०।५८

"जो मन द्युलोक, पृथिवी, चारों दिशाएं, समुद्र, बडे बडे पर्वत, सब जगत् और दूरदूरके स्थानोंमें चला जाता है" उसको वापस लानेका यत्न करो। यह उपदेश उक्त मंत्रमें है। इन मंत्रोंमें—

मनः दूरकं जगाम।

इन शब्दों द्वारा "न समझते हुए मन दूर गया था" यह भाव स्पष्ट रीतिसे व्यक्त हो रहा है। "जगाम" क्रिया अज्ञात गतिकी द्योतक है। प्रत्यक्ष गति, जो स्वयं देखी होती है, उसका उल्लेख "जगाम" क्रियासे नहीं हो सकता। मन जो भटकता है वह न समझते हुए ही भटकता है। आप उसको एकाग्र करनेका प्रयत्न करते रहिए किस समय वह दूर भाग जायगा, इसका पता नहीं लगेगा। वह इतना चंचल है। उक्त मंत्रमें "दूरकं" शब्द द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक भाग जानेका मनका धर्म व्यक्त हो रहा है। तथा और मंत्र देखिए—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवैति॥
दूरंगमं० ॥ १ ॥ हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं॥ ६ ॥
यजु. ३४

"जो मन जागृत अवस्थामें दूर जाता है, वैसा ही सोनेपर भी दूर जाता है। इसका दूर जानेका स्वभाव ही है।... हृदयमें रहनेवाला यह मन अत्यंत वेगवान् है।" ये मंत्र मनकी सब शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। परंतु सब मंत्र यहां नहीं लिये हैं। उसकी गतिके दर्शानेवाले जितने शब्द हैं, उनका ही यहां विचार करना है। इन मंत्रोंके विभाग निम्न प्रकार कीजिए, जिससे उनका तात्पर्य ठीक प्रकार ध्यानमें आ जायगा—

दैवं	दूरं गमं
जाग्रतः दूरं उदैति	सुप्तस्य तथैव दूरं एति
अजिरं	जविष्ठं

उक्त मंत्रोंमें "अजिर" और "जविष्ठ" ये दो शब्द भिन्न गतिके वाचक हैं। "अजिर" शब्द अपने अंदरकी चंचलता बता रहा है और "जविष्ठ" शब्द अन्य स्थानमें जानेके स्वभावका वर्णन कर रहा है "दैवं" शब्दमें भी गति अर्थ है क्योंकि "दिव्" धातुके अनेक अर्थोंमें गति भी एक अर्थ है। "अजिर" शब्दका अर्थ "वृद्धावस्थासे रहित" ऐसा करनेकी परिपाटी है, परंतु गत्यर्थक 'अज्' धातुसे वह शब्द बन सकता है, और इस प्रकार इसका 'गतिमान्' ऐसा अर्थ हो सकता है। वृद्धावस्थासे रहित यह अर्थ "अ-जर" शब्दका हो सकता है। "अजिर" शब्द 'अ-जर' शब्दसे भिन्न है, इसलिये इसका 'गतिमान्' यह अर्थ उचित दीखता है।

संस्कृत ... अजिर
फ्रेंच ... Agile (अजिल)
लातिन ... Agilis (अजिलिस्)

संस्कृतमें 'र ल' एक ही समझे गये हैं, इस नियमानुसार 'अजिर, अजिल' एक ही हैं। यही गत्यर्थक शब्द लातिन आदि भाषामें गया है। इस निरुक्त-दृष्टिसे भी 'अजिर' का अर्थ 'गतिमान्' करना योग्य है, क्योंकि लातिन, फ्रेंच, अंग्रेजी भाषाके '(Agile) अजिल्' शब्दका अर्थ भी 'गतिमान्' ही है। अस्तु।

उक्त मंत्रमें 'अजिर' शब्द अपनी गति बता रहा है। और 'जविष्ठ' शब्द स्थानांतरमें जानेकी गति बता रहा है। ये दोनों गतियां ऋग्वेदके मंत्रमें "दूरकं जगाम" शब्दों द्वारा सामान्य रीतिसे व्यक्त हो रही हैं। तथा—

मनो जूतिः ॥ यजु. २।१३

"मन वेगरूप ही है" ऐसा इस मंत्रमें कहा है। "जूति" का अर्थ "वेग" है। वेग ही मन है, अर्थात् मन अत्यंत वेगवाला है। निम्न मंत्रमें मनका वेग विशेष रीतिसे बताया है—

मनो-जवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्।
ऋ. ८।१००।८

"मनके वेगके समान दौडता हुआ (आयसीं पुरं) लोहेके कीलेमें पहुंच गया।" इस मंत्रमें 'मनके वेगके समान (अयमानः) दौडनेवाला' यह वर्णन स्पष्ट रूपमें मनका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना बता रहा है। यही मनकी "जूतिः" अर्थात् वेग है। यही बात निम्न मंत्रमें अधिक स्पष्ट हो गई है—

मनो न योऽध्वनः सद्य एति ॥ ऋ० १।७१।९

"मनके समान जो (अध्वनः सद्यः एति) मार्गके पार तत्काल जाता है।" यह मंत्र तो मनका अन्य स्थानमें जानेका भाव विशेष रूपमें बता रहा है। यह मार्गके पार ऐसे वेगसे जाता है कि जैसा मन मार्गके परे जाता है। तथा और देखिए—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वंतः ॥ ऋ० ६।९।५

"जो (ध्रुवं ज्योतिः) स्थिर तेज (कं) सुख देनेवाला (दृशये) देखनेके लिये हृदयमें रखा है वही मन है, वही (पतयत्सु) दौडनेवालोंके (अंतः) अंदर (जविष्ठं) वेगवान् है"

हृदयमें जो मन है वह सब गतिमान पदार्थोंमें अत्यंत गतिमान है। इस प्रकार वेदमंत्रोंका कथन मनके विषयमें है, जिससे सिद्ध है कि मनकी अपने अंदरकी एक गति है, जिसको चंचलता कहते हैं। और उसकी दूसरी दूर देशमें जानेकी गति है, जिससे योगी एक स्थानमें बैठा हुआ दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। साधारण मनुष्यके मनमें भी ये दोनों गतियां हैं, परंतु वह दूसरी गतिका उपयोग कर नहीं सकता, क्योंकि साधारण मनुष्यके स्वाधीन उसका मन नहीं रहता। बडे परिश्रमसे और योगके विविध प्रकारके प्रयत्नोंसे जब उसको वश किया जाता है, तब वह उक्त सब कार्य कर सकता है। किसी समय योगसाधनके बिना भी मनकी उक्त शक्तिका अनुभव आ सकता है। साधारण मनुष्य भी जब अपने प्रेमी मनुष्यके संबंधमें विशेष प्रबल इच्छा करता है, तब उसकी मानसिक इच्छाका आघात दूर स्थानके मनुष्यके मनपर होता है। इस विषयमें एक प्रत्यक्ष देखा हुआ उदाहरण नीचे देता हूं—

प्रत्यक्ष अनुभव

वर्धा नगरकी अंग्रेजी पाठशालामें म० गोविंदराव वाबले (बी. ए., एल्. टी.) अध्यापकका कार्य कर रहे थे। और इनकी धर्मपत्नी श्रीमती चंद्राबाई, बालक कमल और बालिका लीलाके साथ, औंध (जि. सातारा) में अपनी माताके घर कुछ दिन विश्रामके लिये आ गई थीं। औंध ग्रामसे वर्धा नगर प्रायः छः सौ मीलके अंतरपर है। अर्थात् पतिपत्नीमें इस समय छः सौ मीलका अंतर था कि जिस समय निम्न बात हो गई।

सन १९१८ का अक्टूबर मासका प्रारंभ था कि जिस समय श्री० चंद्राबाईजी अपने पतिके स्थानपर जानेकी तैयारी कर रही थी और उन्होंने तिथिका निश्चय करके अपने पतिको पत्र भी लिखा था कि मैं फलाने दिन वर्धाको अवश्य पहुंचूंगी। पत्नीका आनेका निश्चय विदित करके म० गोविंदरावजीने मकान आदिका प्रबंध भी सब प्रकारसे कर दिया था। इस प्रकार पतिपत्नीके मनमें परस्परके विषयमें समागमके प्रेममय विचार उत्पन्न हो गये थे और मिलनेकी आतुरता भी बढ गई थी।

यह समय इन्फ्लुएंझा बुखारका था। यह जंगी बुखार बंबईसे पूना होकर औंध पहुंच चुका था और जिस समय धर्मपत्नीके शुभागमनकी तिथिका पत्र म० गोविंदरावजीके हाथमें पहुंचा था, उसके थोडे दिन पश्चात् ही इधर धर्मपत्नी अपने लडकेके साथ उस ज्वरसे बीमार हो गई थी, तथा उनके मकानके सब लोग उसी ज्वरसे बीमार पडे थे।

धर्मपत्नीके मनमें जो पतिदर्शनकी आतुरता थी, वह ऐसे समयमें हदसे अधिक बढना संभव है। परंतु बेचारी कर क्या सकती थी? घरके लोग सभी बीमार पडे थे, इसलिये अपनी बीमारीका वृत्तांत भी पतिको पत्रद्वारा विदित करना उनको असंभव हो गया। अर्थात् इनकी बीमारीकी कोई खबर म० गोविंदरावजीको न थी और वे इनकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे और भावी सुखकी कल्पनाओंमें मग्न थे।

शुक्रवार ता. ४ अक्टूबरतक म० गोविंदरावजीके मनमें पूर्वोक्त सुखमय कल्पना ही रही। शनिवारके दिन बिना किसी खास कारणके म० गोविंदरावजीके मनमें भयानक उदासीनता उत्पन्न हो गई, संपूर्ण जगत्में जिधर उनकी दृष्टि जाती थी, उधर उदासीनता ही उदासीनता उनके सामने खडी होने लगी। सब मित्र, जो उनके प्रतिदिन मिलने जुलनेवाले थे, आश्चर्यचकित हो गये और उनको नाना प्रकारसे समझाने लगे कि अभी तुम्हारी पत्नी आवेगी और यह होगा इ०। परंतु म० गोविंदरावकी उदासीनता प्रतिक्षण बढने ही लगी।

इतना होनेपर भी अपनी धर्मपत्नीकी बिमारीका वृत्तांत उनको यद्यपि बिलकुल मालूम नहीं था, तथापि उनके मनकी चंचलता और उदासीनता बढ रही थी। सब उनके

मित्रोंने यही समझा था कि ये महाशय पागल बन गये हैं। परंतु वास्तविक बात और ही थी।

सोमवार ता. ७ अक्टूबरतक यही अवस्था रही। बीचमें म० गोविंदरावजीने छुट्टी लेकर स्वयं औंध आनेका भी विचार किया, परंतु छुट्टी न मिलनेके कारण वे बिचारे वर्धासे चल ही न सके। सोमवारके दिन रात्रिके भोजनके पश्चात् म० गोविंदरावजी अपने बिस्तरेके साथ बैठ ही रहे थे इतनेमें उनको किंचित् मात्र निद्रा आ गई, जिसमें उनको स्वप्नमें अपनी पत्नीकी मूर्ति दीखने लगी और उन्होंने स्वप्नमें ही ये शब्द सुने कि— " अब रोनेसे क्या लाभ ? मैंने आपसे कई वार कहा था कि, आप आकर मुझे ले जाइए अथवा मुझे मिल लीजिए, परंतु आपने कहां सुना ! अब भला रोनेसे क्या लाभ होगा ! जो होना था सो हो चुका। "

यह स्वप्न देखते ही म० गोविंदरावजीके मनमें पूरा पूरा निश्चय हो गया कि अपनी धर्मपत्नीको सचमुच किसी प्रकारका बडा ही क्लेश है और कदाचित् अब उनके साथ मिलना भी असंभव होगा। परंतु रात्रिमें इस समयके पश्चात् कोई रेल गाडी जाती न थी, इसलिये मंगलवारके दिनतक उनको वहां ही उसी प्रकारकी उदासीनतामें रहना पडा।

मंगलवारके दिन प्रातःकालके समय एक और आश्चर्य हुआ। वह यह कि अपना पुत्र अपनेको अपने नामसे पुकार रहा है ऐसा तीन चार वार उन्होंने सुना। पुत्रका परिचित शब्द सुनकर उनको भास हुआ कि पुत्र आदि आ गये हैं। परंतु इधर उधर देखनेके पश्चात् विदित हुआ कि वह केवल भ्रम ही था।

इतना होनेपर भी म० गोविंदराव और उनके मित्र यही समझते थे कि ये सब चित्तकी भ्रांतिके प्रकार हैं। अंतमें बुधवारके दिन उन्होंने वर्धासे औंधको तार दिया और पत्नीकी कुशलताका वृत्तांत पूछा। परंतु तारका जबाब न आया जिससे दुःखित होकर वे वर्धासे चल पडे और औंध पहुंचे। तब उनको पता लगा कि धर्मपत्नी और प्रिय पुत्र इस लोकसे क्रमशः उसी रात और उसी दिनके समय चल बसे कि जिस समय उन्होंने स्वप्न देखा और जिस समय पुत्रके शब्द सुने।

इस लेखका लेखक संपादक जहां रहता था वहां ही यह वृत्तांत हुआ इसलिये उक्त सब बातें उसको पूर्ण रीतिसे विदित हैं। जब औंधका वृत्तांत और वर्धाका पतिका भ्रम साथ साथ मिलाया गया, तब विशेष ही आश्चर्य प्रतीत हुआ। उसका सारांश निम्न प्रकार है—

स्वप्नका विचार

(१) पति और पत्नीमें करीब छः सौ मीलका अंतर था। पति और पत्नीके मनमें परस्पर मिलनेकी आतुरता बहुत ही बढ गई थी।

(२) पत्नी और पुत्रकी बीमारीका कोई ज्ञान पतिको न था, परंतु पतिके मनमें यही विश्वास था, कि अब धर्मपत्नी शीघ्र ही आ जायगी और पुत्र आदि सब कुशल ही हैं। क्योंकि ऐसा ही पत्र एक सप्ताह पूर्व पतिके हाथमें पहुंच गया था।

(३) पत्नीका बुखार जिस दिन और जिस समय बढ गया, उसी समय और उसी दिन पतिका मन उदासीनतासे व्याकुल होने लगा, जिस उदासीनताके लिये वहांका कोई स्थानिक कारण न था। और यह उदासीनता उसी प्रमाणसे बढ गई कि जिस प्रमाणसे यहाँ पत्नीकी बीमारी बढने लगी। साथ साथ पुत्रका ज्वर भी प्रारंभ हुआ।

(४) जिस रात्रिमें पत्नीकी मृत्यु हो गई उसी रात्रिमें दो तीन घंटे पूर्व पतिको पूर्वोक्त स्वप्न हुआ।

(५) पुत्रकी मृत्यु भी ठीक उसी समय हुई कि जिस दिन और जिस समय पिताने पुत्रका आवाज तीन चार बार सुना था। इसमें सबसे आश्चर्य यह है कि मृत्युके पूर्व पुत्रने अपने पिताका नाम जोर जोरसे तीन चार बार लिया था और तत्पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

(६) इस समयतक पतिको अपनी पत्नी और पुत्रकी मृत्युकी कोई खबर नहीं थी। परंतु उनका चित्त इतना शोकमय हो गया था कि, जैसा इनका मृत्यु साक्षात् देखनेसे हो सकता था। यहां आनेके पश्चात् ही पतिको उनकी मृत्युका ज्ञान हुआ था।

पूर्वोक्त कथनमें जो विचार करने योग्य बातें हैं, उनको ऊपर रखा है। प्रत्यक्ष देखनेके कारण इनके सत्य होनेमें कोई शंका ही नहीं है। यद्यपि हरएक बात विचार करने योग्य है, तथापि—

(१) स्वप्नकी बात और (२) पुत्रका शब्द सुननेकी बात विशेष विचार करने योग्य है। उनमें भी पुत्रका आवाज जैसा सुननेका वृत्तांत विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि मृत्युके पूर्व पुत्रने "काका, काका, काका" ये ही शब्द पुकारे थे और पिताने भी ये ही शब्द सुने थे। यह लडका अपने पिताको "काका" नामसे ही पुकारा करता था और पितापुत्रका प्रेम विलक्षण दृढ था।

संभव है कि पिताके मनमें विलक्षण उदासीनता अपनी ही संशयवृत्तिसे उत्पन्न हो गई होगी; परंतु यह संभव मानना कठिन है, कि जिस समय जिस दिन पुत्रने "काका" नामसे पिताको जितनी बार पुकारा हो, उसी दिन उसी समय और उतनी बार पिताके कानमें वे ही शब्द पडना, पिताकी ही मनकी कल्पना है। इसलिये इसमें कोई बात "मानसिक संदेश" की होना अधिक संभव है। स्वप्नके विषयका भी इसी बातसे संबंध प्रतीत होता है।

कई लोग कहेंगे कि स्वप्न भी कल्पनासे हो सकेगा। परंतु उक्त शब्दोंका सुनना तो जागृतिमें ही हुआ था। जागृत अवस्थामें शब्दका सुनना विशेष बातकी सिद्धि कर सकता है। कई भोले लोग कहते हैं कि मृत्युके समय स्त्रीका आत्मा भूत बनकर वहाँ पहुंचा था, परंतु विचार करनेसे भूतप्रेतकी कल्पना यहां सजती ही नहीं। क्योंकि भूत प्रेत तो शरीरका और सूक्ष्म देहका माना भी जा सकता है, परंतु कपडेलत्तोंका भूत मानना असंभव है। जिस समय जो कपडे मरनेवाली स्त्रीके शरीरपर थे, यदि वैसे ही कपडोंके साथ उसी ही प्रकार दिखाई देता, तो भूतकी कल्पना संभव मानी जाती। परंतु वैसा नहीं हुआ। स्वप्न में जो पत्निकी मूर्ति नजर आगई वह हमेशाके कपडोंमें और हमेशाके जेवरोंके साथ साथ थी। इसलिये यहांसे भूत वहां गया ऐसा नहीं माना जा सकता। पतिके मनमें जो स्त्रीविषयक चिंता और उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण पतिकी स्त्रीविषयक मानसिक कल्पना ही स्वप्नमें प्रकट हो गई। स्वप्नकी मूर्तिका यह स्पष्टीकरण हो सकता है, परंतु उदासीनताका कारण केवल काल्पनिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि उसका संबंध पत्नीके ज्वरके समयके साथ स्पष्ट दिखाई देता है।

जब पत्नी ज्वरित हो गई और जब पतिके पास जानेका उनका मनोरथ सिद्ध होना असंभव हुआ, तथा जब उनको अपनी बीमारीका असली भयानक स्वरूप विदित हुआ, तब उनका मन मानसिक संदेह द्वारा पतिके मनको धक्का देने लगा। यही कारण है कि जिससे पतिका मन एकाएक उदासीन बन गया और अंततक पूर्ववत् उत्साहपूर्ण नहीं हुआ।

जहां प्रेमका संबंध होता है, जिनके हृदय परस्पर प्रेमभावसे मिले हुए होते हैं, उनमेंसे एक हृदय दुःखी अथवा सुखी हो जानेसे दूसरेके हृदयमें भी, बिना किसी दृश्य कारणके, वे ही सुख अथवा दुःखके भाव उत्पन्न होते हैं। यह मनका धर्म है। तथा इसके लिये स्थानकी दूरतासे कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। क्योंकि मन अत्यंत वेगवान् है। उसी क्षणमें जितना चाहे दूर जा सकता है।

पुत्रका आवाज सुननेके विषयमें इतना कहना आवश्यक है, कि यहांसे छः सौ मील अंतरपर यहांकी आवाज पहुंची यह संभव ही नहीं है। यह भी मानसिक संदेशका ही प्रकार है। पुत्रके मनकी प्रबल भावनाका परिणाम पिताके मनपर हुआ और उसके कारण उक्त शब्द सुननेका भ्रम हो गया। मनमें जो दृढ भावना हो जाती है, वह जैसी मूर्तिरूपमें आंखोंसे दिखाई देती है; उसी प्रकार शब्दरूपमें कानोंसे सुनाई देती है। इसलिये शब्दोंका स्थानांतर माननेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। मानसिक संदेशके मानसिक आघातोंका यह चमत्कार है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधकी कल्पना मनसे होती है, इसलिये जैसा मनमें रूपका भास हो सकता है, वैसा ही शब्दोंका श्रवण मनमें भी भासरूपसे हो सकता है। तथा अन्य विषयोंका भी भास हो सकता है। भास उसको कहते हैं कि जो विषयकी वास्तविक अनुपस्थिति होनेपर भी उसकी प्रतीति होती है। इसी नियमके अनुसार पूर्वोक्त कथनमें पुत्रके शब्दोंका भावरूप श्रवण उसके पिताको हो गया था। इसमें मुख्य बात मानसिक आघातकी है और शब्दश्रवण मानसिक आघातोंका ही परिणाम है।

कानसे शब्दोंका श्रवण होता है, परंतु मनका संबंध कर्ण इंद्रियके साथ न हुआ, तो बडेसे बडा भी शब्द सुनाई नहीं देता, इस बातका अनुभव हरएकको है। जब एक

मित्र दूसरेको कई बार पुकारता है, जब वह बार बार पुकारनेपर भी नहीं सुनता, तब उस समय वह पुकारनेवाला दूसरेसे कहता है कि ' अरे ! तेरा मन कहां गया है ? ' अर्थात् मनके संबंधसे श्रवण होता है इस बातको सभी जानते हैं। जिस प्रकार बाहिरके शब्द कर्णेन्द्रियद्वारा मन ही सुनता है, तद्वत् ही मनमें उद्भूत होनेवाली शब्दोंकी अथवा अन्य विषयोंकी कल्पना, कानोंसे अथवा उस उस विषयके अन्य इंद्रियसे प्रत्यक्ष होनेका भास होता है। बाहरसे धक्का आ जावे अथवा अंदरसे प्रेरणा हो जावे, दोनोंका परिणाम एक समान होता है। इतनी विलक्षण शक्ति मनमें है।

उक्त पतिको यदि योगसाधनादि द्वारा मनकी स्वाधीनताकी सिद्धि प्राप्त होती, तो स्त्रीके मनद्वारा प्रेरित मानसिक संदेश ठीक रूपमें देखने और जाननेकी संभवना होती है। परंतु प्रेरणा भेजने और प्रेरणा लेनेवाले साधारण जन होनेसे केवल मनपर उदासीनता ही रही और कारणका ज्ञान न हुआ।

अस्तु। इस प्रकारकी थोडीसी बातें इस पुस्तकके लेखकने देखीहैं। इस प्रकारकी दो चार कथाओंसे मनोविज्ञानके किसी सिद्धांतका निश्चयात्मक ज्ञान अथवा आविष्कार होना नहीं है। एक एक बातको सिद्ध करनेके लिये भिन्न भिन्न परिस्थितिके प्रत्यक्ष देखे उदाहरण सैकडोंकी संख्यामें एकत्रित करने चाहिए और इन कथाओंकी परीक्षा करनेवाले अंधविश्वासी नहीं होने चाहिए। तब कभी जाकर किसी सिद्धांतकी स्थिरता हो सकती है।

ऊपरकी कथासे जो अनुमान ऊपर लिखे हैं, उससे वे ठीक प्रकार अवश्य ही सिद्ध हो रहे हैं, यह मेरा बिलकुल आग्रह नहीं है। कदाचित् होंगे और कदाचित् न भी होंगे। जब इस प्रकारकी सैकडों बातें सैकडों प्रसंगोंमें देखी जांयगीं तब कभी जाकर हम किसी परिणामतक पहुँच सकेंगे।

पाठकोंको भी उचित है कि वे जब कभी संभव हो तब इस प्रकारके कथाप्रसंगोंका ध्यान रखा करें और भोलेपनका विचार छोडकर चिकित्सक दृष्टिसे निरीक्षण और परीक्षण करके, उन प्रसंगोंकी प्रसिद्धि करें, जिससे किसी मनोविज्ञानकी बातका पता लगना संभव हो। यों ही मनःकल्पित कथाएँ नहीं चाहिए। जो वास्तवमें जिस रूपमें हुई हैं उनको वैसा ही बताकर यदि उससे किसी सिद्धांतका पोषण हो सके, तो करनेका यत्न करना चाहिए। आशा है कि पाठक भी इस दृष्टिसे बातें देखकर विचारकी संगतिद्वारा सहायता करेंगे। यह कार्य किसी एकका नहीं है, परंतु सब वैदिक धर्मियोंका है। वेदके मंत्रोंका इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव देखा जा सकता है। यदि इस समय हमारी गलती हो जायगी तो हमारे पीछेसे जो अच्छे मनुष्य आ रहे हैं, वे उसको ठीक करेंगे। हमारा अनुमान यदि गलत होगा, तो दूसरे ठीक अनुमान निकाल सकेंगे। परंतु इस मार्गसे कार्यका प्रारंभ होना चाहिए। इसी उद्देशसे ऊपर लिखी कथा और अपने अनुमान पाठकोंके सम्मुख रखे हैं। सिद्धि असिद्धिका किसी प्रकार आग्रह रखनेकी इच्छा ही नहीं है। आशा है कि पाठक भी यही निर्विकार दृष्टि धारण करके इसका विचार करेंगे।

वेदमें मनका " दूरं-गमं, जविष्ठं " आदि शब्दोंद्वारा वर्णन किया है। मन एक स्थानसे दूसरे स्थानको पहुंचता है, इस विषयमें वेदके कथन स्पष्ट हैं। योगके पुस्तकोंमें भी यह सिद्धि लिखी है कि एक स्थानपर बैठा योगी ध्यानद्वारा दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। तथा मनके स्थानान्तरके लिये स्थानकी दूरताका कोई प्रतिबंध नहीं है। एकके मनकी शक्तिका दूसरेके ऊपर परिणाम होता है, मानसिक चिकित्साका यही मूल मंत्र है। जो मानसचिकित्सा वेद कह रहा है, उसको प्रत्यक्ष करनेके लिये वैदिक धर्मियोंके यत्न होने चाहिए। मानसचिकित्साका उपहास करना योग्य नहीं है, क्योंकि वेदमें यही मुख्य और श्रेष्ठ चिकित्सा कही है।

वैद्युत् मन है

" जो देवताओंमें विद्युत् है, वही शरीरमें मन है। " यह बात केनोपनिषद्के अंतमें कही है। अन्य स्थानोंमें प्रायः चंद्रमाका मनके साथ संबंध बताया गया है। बहुत थोडे स्थानमें विद्युत्का मनसे संबंध बताया है। यह मुझे पता नहीं कि " विद्युत् " और " चंद्रमा " शब्द वैदिक वाङ्मयमें समानार्थक हैं वा नहीं। परंतु इन दोनोंका मनके साथ संबंध जोडा है, इस बातसे कुछ न कुछ उनका परस्पर संबंध माना गया है, ऐसा पता लगता है।

केनोपनिषद्के अनुसार मन विद्युत् तत्त्वका बना है। उपनिषदोंमें मनको वैद्युत् ही कहा है, इसका यही हेतु प्रतीत होता है। यदि मन वैद्युत है तो विद्युत्के वेगके समान उसका वेग होना चाहिए। विद्युत्का वेग प्रतिक्षण सवा लाख मील समझा जाता है। यदि मन वैद्युत है तो उसका भी यही वेग होना उचित है। यदि इसका वेग इतना बडा है और यह क्षणमें लाख मील दूर तक पहुंच सकता है, तो स्थानकी दूरी इसके लिये कुछ भी नहीं है।

पाठक इन बातोंका विचार करें और मनकी विलक्षण शक्ति जानकर उसका विकास करनेका यत्न करें।

स्वप्नका दूसरा अनुभव।

श्री० म० ख्यालीराम हीरालालजी गुप्त, नया बाजार, छावनी नीमचका लिखा हुआ ता. २५।६।२१ का पत्र प्राप्त हुआ, उसमें निम्न बातें लिखी हैं—

"(१) मैं ता० २७ फर्वरी स० १९२१ को गुरुकुल इंद्रप्रस्थमें मेरा इकलौता बालक (चि. वासुदेव ऊर्फ ब्र० भवभूति) प्रवेश कर आया था। तत्पश्चात् कई पत्र उनकी राजीखुशीके आते रहे। ता० १४ अप्रैल स० १९२१ का गुरुकुलसे लिखा हुआ पत्र मुझे ता. १६ अप्रैलको प्राप्त हुआ, जिसमें पुत्रकी राजीखुशीके समाचार थे।

"(२) ता० १७ अप्रैल स० १९२१ के दिन किसी विशेष कारणके बिना मेरा चित्त गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जानेके लिये बहुत ही उत्सुक हुआ। परंतु मैं वहां न जा सका। दूसरे दिनसे मेरा चित्त बहुत ही व्याकुल और उदास हुआ और साथ साथ शरीर भी बिगडता गया। भूख वगैरा मिट गई। प्रतिक्षण वहां पहुंचनेकी इच्छा बराबर प्रबल होती गई।

"(३) ता० २० अप्रैल स० १९२१ की रात्रिके चौथे प्रहरमें अर्थात् ता. २१ के प्रातःकालमें अनुमान ५॥५॥ बजेके मेरी स्त्री मेरे पिताजी, जो क्रमशः ६ और १८ वर्ष पूर्व मर चुके थे, स्वप्नमें आकर कहते हैं कि– "घबराओ मत, होशियार रहो, अब सोचो कि यह क्या होता है।"

"(४) मुझे पहिले भी दो वर्ष पूर्व (स० १९१९में) स्वप्न हुआ था, उस स्वप्नमें मेरे मृत पिताजीने आकर कहा कि "वासुदेव गुजर गया।" मैंने पूछा कि "कहां?" उत्तर मिला कि "गुरुकुलमें।" पिताजीने उसी स्वप्नमें फिर कहा कि "तेरा एकही बालक था, वह गुजर गया, तू किसीकी मानता नहीं।" यह स्वप्न देखकर मेरी आंखें खुल गई, घबराकर देखा तो पुत्र मेरे बिस्तरे पर ही सो रहा था (यह दो वर्ष पूर्वके समय स्वप्न हुआ, मैं इसको असत्य समझता था। परंतु बात वैसी ही बन गई।)

"(५) ता० २१ अप्रैल स० १९२१ के प्रातः कालसे गुरुकुल जानेकी इच्छा मंद हो गई और फिर कभी वैसी उत्सुकता नहीं हुई।

"(६) ता० २३ अप्रैल स० १९२१ के प्रातःकाल ही गुरुकुलका पत्र प्राप्त हुआ, उसमें लिखा था कि "बालकका स्वर्गवास ता. २१।४।२१ को ६ बजे प्रातः हो गया। ता. १९ को विशेष ज्वर हुआ, ता. २० को सरसाम (सन्निपात) हो गया और ता. २१ को प्रातः यह घटना हो गई।"

"(७) न कोई बालककी बीमारीकी खबर थी, अचानक यही पत्र प्राप्त हुआ और विशेष कुछ लिखा नहीं जाता। मैं स्वप्न वगैरा की बातें झूठीं समझा करता था, और न मुझे बहुत स्वप्न आते हैं, जो जैसे आये वेही आपको लिखे।

"(८) उक्त घटना होनेके पश्चात् इंद्रप्रस्थ गुरुकुलमें जाकर वहांके डाक्टरजीसे पूछनेपर विदित हुआ कि ता. २०।४।२१ के रात्रिको तथा ता. २१ के प्रातःकाल ठीक जिस वक्त मुझे स्वप्न हुआ मेरा प्रिय पुत्र मेरे लिये तडफ रहा था, मुझे पुकारता तथा मेरे लिये उठ उठ कर भागता था। डाक्टरजीने पूछा कि 'कहां जाता है?' पुत्रने उत्तर दिया कि 'हमारे घर मेरे दादाजीके पास जाऊँगा।' (पुत्र मुझे दादाजी कहता था)"

स्वप्नपर विचार

इस प्रकार स्वप्नका वृत्तांत किसी किसी समय बराबर अनुभव में आता है। उक्त स्वप्नके संबंधमें निम्न बातें विचार करनी योग्य हैं—

(१) पुत्रकी बीमारीका वृत्तांत पिताको बिलकुल विदित नहीं था, परंतु पत्रद्वारा पुत्रकी कुशलताकाही पिताको पता हुआ था।

(२) जिस समय पिताके मनमें गुरुकुल जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई थी उसी समय गुरुकुलमें उनका पुत्र अस्वस्थ होने लगा था और जब पुत्रकी बीमारी बढ गई तब उस उदासीनताका परिणाम भूख आदि मिटनेमें हुआ। +

(३) पुत्रकी मृत्यु होनेके पश्चात् गुरुकुल पहुंचनेकी पिताके मनमें इच्छा कम हो गई और फिर वैसी इच्छा हुई ही नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय पुत्र रोगवश होनेके कारण अस्वस्थ हुआ, उसी समयसे पुत्रके मनमें पिताके पास जानेकी इच्छा हुई, वह पिताका स्मरण करने लगा और उसका परिणाम पिताके मनपर होनेसे, पिताके मनमें भी गुरुकुलमें जाकर पुत्रको देखनेकी इच्छा प्रबल हुई। पुत्रकी बीमारीकी प्रबलताके साथ, पिताके मनकी इच्छा भी वहां पहुंचनेके लिये प्रबल हो गई, यह बात मानसिक संदेशका वेग बता रही है।

उक्त बातोंका परस्पर संबंध अत्यंत स्पष्ट है। स्वप्नका समय और पुत्रके मृत्युका समय ठीक एकही है। उस स्वप्नके पश्चात् पुत्रदर्शनकी अभिलाषा पिताके मनमें न होनेका कारण स्पष्ट ही है, क्योंकि मानसिक संदेशा भेजनेवाला पुत्रका मन उस समय पुत्रके शरीरसे अलग हो चुका था और पुत्रका आत्मा मरणोत्तरकालीन सुप्त अवस्थामें पहुँचनेके कारण, न तो उसको अपनी बीमारीका पता था और न पिताका स्मरण था।

स्वप्नमें मृत पिताका और मृत स्त्रीका दर्शन और उनके शब्द विचार करने योग्य हैं। उन शब्दोंका संबंध मृत पुत्रकी मृत्युके समयकी अवस्थाके साथ स्पष्ट है। इस विषयमें विशेष निश्चयकी बात लिखी नहीं जा सकती, क्योंकि इस प्रकारके मृत पुरुषोंके स्वप्नमें दर्शन होनेके विषयमें अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता है, तथा अधिक सूक्ष्म विचार होनेकी भी आवश्यकता है। इसलिये इस विषयमें यहां कुछभी लिखनेका विचार नहीं है, परंतु जो बातें बाह्य सृष्टिमें हो गई हैं, उस विषयमें स्पष्ट प्रमाण होनेके कारण थोडासा लिखनेका विचार किया है।

पितापुत्रका अत्यंत प्रेम था। अकेला एक पुत्र दूर गुरुकुलमें होनेसे पिताका मन पुत्रके विषयमें आतुरताका भाव रखता होगा। इस प्रकारका आतुर मन अत्यंत नरम और कोमलसा होता है, इसी कारण उसपर मानसिक आघात शीघ्र परिणाम कर सकते हैं। यही कारण है कि जिस समय पुत्रके मनमें पितृदर्शनकी उत्सुकता हो गई, अथवा पुत्रका मन शरीरकी अस्वस्थताके कारण व्याकुल हुआ, उसी समय पिताके मनपर भी उसका परिणाम हो गया।

सितार, बीन आदि वाद्य जो बजाते हैं, उनको अनुभव है कि एक तार बजानेसे, उस तारके स्वरके साथ मिले हुए जितने तार होंगे उतनेही विना बजाये आवाज देने लगते हैं। पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, इष्टमित्र आदिमें यदि मानसिक संबंध अत्यंत प्रेमका होगा, तो एकके भाव दूसरेके मनमें उद्भूत होना अत्यंत स्वाभाविक बात है। एकको दुःख होनेसे दूसरेका मन इसी कारण उदास होने लगता है।

मन विद्युत् तत्त्वका बना है, अथवा यों समझिये कि विद्युत्शक्ति मनमें केंद्रित हुई है। तथा संपूर्ण जगत्में विद्युत्तत्त्व पूर्णतासे व्याप्त है। अर्थात् जगद्व्यापक विद्युत्तत्त्वके साथ हमारे मनका संबंध है। इसलिये एक मनमें सुखदुःखादि विचारोंके कारण जो न्यूनाधिक हलचल होती है, उसके आघात बाहरके विद्युत्में होते हैं और वे आघात इस विद्युत्द्वारा तत्सदृश दूसरेके मनतक पहुंचते हैं। ये आघात हरएकके मनपर इसलिये असर नहीं कर सकते, क्योंकि हरएकका मन एकसाही नरम अथवा सख्त नहीं होता। मनकी न्यूनाधिक अवस्थाके कारण सम अवस्थाका मनही कंपित हो सकता है।

इतना विचार होनेपर भी दो वर्ष पूर्वके स्वप्नमें, जब

+ यहां पता लग सकता है कि मनकी उदासीनतासे पेटके पचनव्यापारमें भी कितना परिवर्तन होता है। इसका उलटाभी परिणाम होता है, अर्थात् यदि मन उत्साहपूर्ण आनंदित रहा तो पेटकी कमजोरी दूर होकर भूख बढती है। मन प्रसन्न रखनेका इस प्रकार शरीरपर हितकारक परिणाम होता है। यही कारण है कि उदासीन विचारोंसे आयुष्य घटता है और उत्साहपूर्ण विचारोंसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने स्वास्थ्यकी कुंजी अपने ही मनमें है और वैद्यकी गोलीमें नहीं है।

कि पुत्र गुरुकुलमें दाखिल भी नहीं किया गया था, उस समयके स्वप्नमें 'गुरुकुलमें पुत्रकी मृत्यु हुई' यह बात दिखाई पडना विलक्षण प्रतीत होता है। परंतु आश्चर्य यह है कि उसी स्वप्नके अनुसार अंतमें बात बन गई। कई विचारी पुरुष ऐसे प्रसंगोंको देखकर ही कहने लगते हैं कि मृत्युका समय निश्चित हुआ करता है। परंतु "मृत्यु दूर किया जा सकता है," इस विषयमें वेदके मंत्र अत्यंत स्पष्ट है, दीर्घ आयु प्राप्त करनेके विषयमें योगके कथन तथा आर्ष वचन इतने स्पष्ट हैं कि उनके संबंधमें शंका भी नहीं हो सकती।

इसलिये विचार करना चाहिये कि दीर्घ आयुष्य कौन प्राप्त कर सकता है और कौन नहीं। यद्यपि स्वप्नका विचार करना ही इस लेखका मुख्य उद्देश है, तथापि प्रसंगतः यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, (१) बालक अवस्थामें स्वतंत्र पुरुषार्थकी कर्तृत्वशक्ति विकसित न होनेके कारण, उस अवस्थामें जो बातें होती हैं, उनका संबंध निश्चितरूपसे पूर्वकर्मोंके साथ ही होता है। (२) "मैं यह करूँगा, और मैं ऐसा बनूँगा" इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति यौवनके प्रारंभसे अर्थात् १५ वर्षकी आयुके पश्चात्, किंवा विशेष अवस्थामें ८ वर्षकी अवस्थामें भी बनती है। (३) जो सज्जन इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति बनाते हैं और योग्य सुनियमानुसार योगाभ्यासादिद्वारा अपनी आयु बढानेका पुरुषार्थ करते हैं, उनकी दीर्घ आयु होती है। (४) परंतु सर्वसाधारण जनता योगादि श्रेष्ठ मार्गके अनुसार नहीं चलती, इसलिये उनका संपूर्ण जीवन पूर्वकर्मके वेगके अनुसार ही हुआ करता है।

इस स्पष्टीकरणसे पता लग सकता है कि कौन पूर्वकर्मके प्रवाहमें बह जानेवाले होते हैं, और कौन पूर्वकर्मोंके प्रवाहको तोडकर अपनी इच्छानुसार उसका वेग बदलनेवाले होते हैं। वैदिक धर्मके उपदेशानुसार मनुष्य अपना व्यवहार करेगा, तो वह कर्मोंके वेगको अपनी इच्छानुसार बदलनेकी योग्यता निश्चयसे प्राप्त कर सकता है, परंतु ऐसा होनेके लिये वैदिक धर्मके लोग अनुष्ठानी होने चाहिये। जो अनुष्ठान करेंगे वे प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं। आजकल जो वेदके विषयमें प्रेम दिखाई देता है वह केवल बातोंमें है, तथा सब प्रयत्न दूसरोंके सुधारके लिये हो रहे हैं !! परंतु स्मरण रहे कि फुरसतके समयके प्रचारसे सच्चे धर्मकी जाग्रति नहीं हो सकती; क्योंकि जो दीप स्वयं जलता नहीं है, वह दूसरे दीपोंको जगा नहीं सकता। अस्तु। यही कारण है कि वैदिक धर्मके प्रचारका कार्य भी प्राचीन आर्योंकी रीतिके अनुसार नहीं होता है, परंतु पश्चिमीय विचारोंकी लहरोंके अनुसार होता है। स्वयं अपने अंतःकरणका दीप वेदाध्ययनसे जगाकर, अनुभवके पश्चात् ही दूसरेके अन्दर दीप जगानेका यत्न होना चाहिये। अस्तु।

प्रचलित विषय स्वप्नका है। दो वर्ष पूर्व अपने पुत्रका मरण जिसने अपने स्वप्नमें देखा था, उसीने अपने पुत्रका मरण गुरुकुलमें होनेका अनुभव लिया और पुत्रके मरण-समयमें भी स्वप्नसे ही उसको मृत्युकी सूचना मिली। इसका विचार करनेके समय यह मृत्यु बाल्यावस्थामें हुई है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। पूर्व स्थलमें कहा ही है कि बाल्यावस्थामें होनेवाली मृत्यु पूर्वकर्मानुसार होती है अर्थात् जो बात पूर्वकर्मानुसार होती है वह निश्चित होती है। जो बात निश्चित होती है, उसका समय और स्वरूप भी निश्चित हो सकता है। जो बात निश्चित समयमें, निश्चित रूपसे होनेवाली होती है, उसका जैसा पता उस समयमें लग सकता है, उसी प्रकार उस समयके पूर्व भी लग सकता है। जैसा सूर्यचंद्रके ग्रहणोंका पता कई वर्ष पूर्व भी लग सकता है, क्योंकि सूर्यचंद्र आदि ग्रहोंकी गति निश्चित है। निश्चित होनेसे ही पहिले पता लग सकता है। जो कोई बात निश्चित होती है उसका पता पहिले भी लग सकता है, परंतु पुरुषार्थकी बात अनिश्चित होनेके कारण पुरुषार्थी योगी इच्छामरणी भी हो सकता है, इसलिये उसके विषयमें भविष्यकी बातें जानना असंभव है। परन्तु जो कर्मके प्रवाहकी गतिके अनुसार बह रहे हैं, वे इतने समयमें वहांतक पहुचेंगे, ऐसा कहा जा सकता है। जो कर्मकी गतिका विज्ञान जानेंगे उनका अनुमान ठीक होगा, औरोंका गलत भी हो सकता है।

उक्त पुत्रकी मृत्यु गुरुकुलमें निश्चित थी, क्योंकि पुरुषार्थकी आयु प्राप्त होनेके पूर्व ही वह होनेवाली थी; उसकी मृत्युका निश्चय होनेके कारण उसकी मृत्युकी कल्पना सर्वव्यापक यमस्वरूप परमेश्वरकी व्यापक बुद्धिमें पहिले ही

निश्चयरूपसे होनी स्वाभाविक है। यदि किसीका मन किसी कारण परमेश्वरकी बुद्धिके साथ संलग्न हो गया तो वह मृत्युकी उस कल्पनाको जान सकता है। इस प्रकार किसी किसीको इन बातोंका पता पहिले ही स्वप्नमें होता है कि, जो बातें भविष्यमें बननेवाली होती हैं। इसका और एक उदाहरण जो अभी प्रत्यक्ष देखनेके कारण विश्वास करने योग्य है, जैसा हुआ वैसा ही यहाँ लिखता हूं—

और एक स्वप्न

"(१) ता. १० जून स. १९२१ शुक्रवारकी रात्रिमें मेरी धर्मपत्नीको एक स्वप्न हुआ। जिसमें उन्होंने देखा कि श्री. युवराज राजासाहिब महाराजाका द्वितीय पुत्र सायंकालके समय मर गया और उसके शवको नौकर लेजा रहे हैं" इ०।

"(२) दूसरे दिन उक्त स्वप्नका वृत्तांत धर्मपत्नीने मुझे सुनाया, परंतु जिस पुत्रके विषयका स्वप्न था वह वैसा बीमार न होनेके कारण हमको उक्त स्वप्न केवल कल्पनारूप ही विदित हुआ।"

"(३) उस पुत्रकी बीमारीकी अथवा स्वास्थ्यकी कोई बात धर्मपत्नीको विदित न थी। और जिस समय उक्त स्वप्न हुआ उस समय वह कोई विशेष बीमार भी नहीं था।"

"(४) शनिवारके दिन सायंकाल राजासाहिबके डाक्टरोंने पुत्रके स्वास्थ्यकी परीक्षा की तो पता लगा कि उसको घटसर्पकी (डिफ्थेरिया) बीमारी हो गई है। यह बीमारी भयानक होनेके कारण बडे बडे डाक्टर बाहरसे भी बुलाये गये और बडे प्रयत्नसे इलाज होता रहा।"

"(५) सोमवार (ता० १३ जून १९२१) के दिन पूरे दिनभर आराम भी रहा। तीन डॉक्टर अपनी पराकाष्ठा कर रहे थे। परंतु अंतमें सोमवारके सायंकालमें सात बजनेके समय दस पांच मिनिटोंमें ही बीमारी बढ गई और उस तीन वर्षकी आयुके बालकका देहांत हो गया।"

इस प्रकार प्रत्यक्ष मेरे सामने यह स्वप्नका अनुभव हुआ है। यह बात आँखोंमें मेरे सन्मुख हुई। जैसी घटना हुई वैसी ही ऊपर लिखी है। जिस दिन जिसके विषयमें स्वप्न हुआ उस दिनके तीन दिन पश्चात् उसी लडकेका देहांत हुआ। स्वप्नमें देहान्तका समय सायंकालका ही था। मृत्यु होनेसे तीन दिन पूर्व लडकेके स्वास्थ्यके ही समय, उसीके मृत्युका दृश्य स्वप्नमें दिखाई दिया, यह विलक्षण बात है; इसलिये मानसशास्त्रका विचार करनेवालोंके लिये यह विचार करनेयोग्य बात है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

स्वप्न कैसे होते हैं और इनमें सत्यका भाग रहता है वा नहीं, इसका यहां अवश्य विचार करना है। स्थूल शरीरका संबंध छूटने और सूक्ष्म शरीरपर ही केवल कार्य करनेकी अवस्थामें आत्मा स्वप्न देखता है। प्रायः स्वप्न ऐसे ही होते हैं कि जो विचार मनमें होते हैं; सौमें निन्यानवे स्वप्न अपनी इच्छाके प्रतिबिंबरूप ही होते हैं। जीवात्माके लिये तीन अवस्थाओंका अनुभव प्रतिदिन आता है—

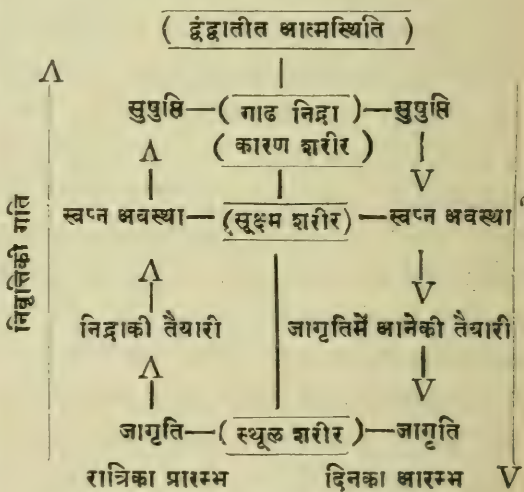

जीवात्मा स्थूल शरीरमें जबतक कार्य करता है तबतक जागृति होती है। जब शरीर थक जाता है तब उसको विश्रांति देनेके लिये तथा उसमें नवीन शक्तिकी स्थापना करनेके लिये जीवात्मारूपी सूर्य स्थूल शरीरमें फैली हुई अपनी किरणोंको आकर्षित करता है और सूक्ष्म शरीरमें ही अपना "मनो-राज्य" करने लगता है। यही स्वप्नावस्था है। जागृतिसे सुषुप्तिमें जानेके समय बीचकी यह अवस्था होती है। प्रतिदिनके स्वप्न हरएकको स्मरण नहीं होते, इससे यह अनुमान करना गलत होगा कि स्वप्न हुए ही नहीं। प्रतिदिन स्वप्नसृष्टिका अनुभव होता है, परंतु हमारी स्मरणशक्तिकी कमजोरीके कारण उनका स्मरण नहीं रहता। इस विषयमें उपनिषदोंका निम्न मंत्र विचार करने योग्य है-

स्वप्न-स्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशति-मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥४॥ स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति० ॥ १० ॥ मांडूक्य उ०

" स्वप्नस्थानमें जब आत्मा जाता है तब इसकी प्रज्ञा-बुद्धि अंदर ही कार्य करने लगती है, इस समय इसके सात अंग (पांच सूक्ष्म भूत, अहंकार और महत्तत्व ये सात अंग) होते हैं, इस समय इसके उन्नीस मुख होते हैं। (७ ज्ञानेंद्रियों और ७ कर्मेंद्रियोंके मूल सूक्ष्म चौदह केंद्र, पंच सूक्ष्म प्राण मिलकर उन्नीस मुख हैं, आंख, कान, नाक प्रत्येकके दो दो केंद्र मिलकर छः केंद्र हुए, त्वचा सातवा केंद्र है। दो पांव दो हाथ मिलकर चार और मूत्रद्वार, गुदा और वाणी इनके तीन इंद्रिय मिलकर सात होते हैं) इन अंगों और मुखोंसे सूक्ष्म कल्पनाके ही भोग इस स्वप्न अवस्थामें आत्मा भोगता है। यह आत्माका बीचवाला तैजस द्वितीय पाद है। स्वप्नस्थानका तैजस रूप है, इसका दर्शक उकार ओंकारके बीचमें है। यह उत्कृष्ट अवस्था है और (जागृति तथा सुषुप्ति इन) दोनों अवस्थाओंके साथ संबंध रखनेवाली है। "

स्वप्नकी अवस्थाका वास्तविक वर्णन इन मंत्रोंके विचारसे प्राप्त हो सकता है। जागृतिमें स्थूल शरीरका संबंध रहता है वह संबंध इस अवस्थामें नहीं होता, इसलिये स्वप्नमें स्थूल सृष्टिका दर्शन नहीं होता। इस अवस्थामें केवल कल्पनाका ही मनोराज्य चलता है, इसलिये जैसी जिसकी कल्पना और जैसे जिसके संस्कार होते हैं वैसे उसको स्वप्न दीखते हैं। इस विषयमें उपनिषदोंके निम्न मंत्र देखिये—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति ॥

छा. उ. ८-१०-१

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति० ॥ छां. उ. ८-११-१

" स्वप्नमें जो अपने गौरवके साथ चलता है वह आत्मा है। गाढ निद्रा प्राप्त होनेपर आनंदित होता हुआ जो स्वप्नकोभी नहीं जानता वह आत्मा है। "

इस छांदोग्य वचनमें स्पष्ट कहा है कि सुषुप्तिके पूर्वकी यह स्वप्नावस्था है। तथा बृहदारण्यक उपनिषत्में कहा है–

स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ॥ तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च ॥ बृ. ४।३।९

" वह आत्मा स्वप्न अवस्थामें जाकर इस लोकका अतिक्रमण करता है। इस पुरुषके दो स्थान होते हैं, एक इस लोकका और दूसरा परलोकका स्थान, तीसरा संधिस्थान है जिसको स्वप्नस्थान कहते हैं, इस संधिस्थान अर्थात् स्वप्नस्थानमें रहता हुआ यह दोनों स्थानोंको देखता है। "

१ परलोक	स्वः	स्वर्ग	सुषुप्ति	कारणदेह
२ संधिलोक	भुवः	अंतरिक्ष	स्वप्न	सूक्ष्मदेह
३ इहलोक	भूः	पृथिवी	जागृति	स्थूलदेह

उक्त बृहदारण्यकवचनके तात्पर्यसे यह कोष्टक बनता है। इससे स्वर्गलोककी भी कल्पना हो सकती है। गाढ निद्रामें मनुष्य स्वर्गधामतक पहुंचकर पुनः जागृतिमें इस भूलोकमें प्राप्त होता है। और बीचके संधिस्थानमें उसको स्वप्नका अनुभव होता है। इस प्रकार मनुष्यको प्रतिदिन स्वर्गधामका आनंद प्राप्त होता है, स्वप्नका मुकाम तो उसके मार्गमेंही है। तथा —

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरूते बहूनि॥ उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥ स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च० ॥ बृ. ४-३-९, १५ ॥

" स्वप्नमें वह अच्छे अथवा बुरे भाव, सुखके अथवा भयके दृश्य देखता है। " यह उसका अनुभव वह जागृतिमें आकर कहता है। आनंदकारक स्वप्नोंसे आनंदित होता है और भयके स्वप्नोंसे भयभीत होता है। इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ॥ समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥

छां. उ. ५-२-९

" जब काम्य कर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीका दर्शन होगा, तब वहां उस स्वप्नदर्शनसे समृद्धि सूचित होगी। " यदि छांदोग्य उपनिषद्के मतानुसार कई स्वप्न समृद्धिसूचक होंगे, तो निःसंदेह ऐसेभी दूसरे स्वप्न होंगे कि जो विपत्तिके सूचक हो सकते हैं। विचारशील मनुष्य सहस्रों स्वप्नोंके अनुभव एकत्रित करके उसका एक शास्त्र बना सकते हैं, जिसमें शुभ स्वप्नोंके लक्षण प्रकाशित किये जा सकते हैं। परंतु इस समयतक वैसा प्रयत्न किसीने नहीं किया। इसका कारण इतनाही है कि ऐसा करनेसे कोई लाभ होना संभव ही नहीं है। स्वप्नसे यदि किसी बातकी सूचना मिलभी गई तो, उसको जानना कठिन है, और जाननेके पश्चात् अनिष्टको दूर करना असंभव है, इसलिये ऋषियोंने स्वप्नशास्त्र बनानेका यत्न नहीं किया। किसी किसी समय स्वप्नका अर्थ भी तबतक समझता नहीं जबतक कि वह बात बन नहीं जाती। तथापि स्वप्नका तत्त्व जाननेका हरएकको अवश्य यत्न करना चाहिये, क्योंकि उससे अपने आत्माकी शक्तिका पता लगता है, परंतु दुष्ट स्वप्नके कारण अपना मन विनाकारण उदासीन भी नहीं करना चाहिये, तथा उत्तम स्वप्नसे व्यर्थ खुश भी नहीं होना चाहिये। स्वप्नके विषयमें प्रश्नोपनिषद् का कथन अब देखिये —

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगंतरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति॥
प्र० उ० ४।५

" यहां स्वप्नमें यह आत्मदेव अपनी महिमाका अनुभव करता है। जो देखा हुआ होता है वह फिर देखता है, सुनी हुई बातोंको सुनता है, देशदेशांतरोंमें अनुभव की हुई बातोंका पुनः पुनः अनुभव करता है। देखा अथवा न देखा, सुना अथवा न सुना हुआ जो होता है तथा अनुभव किया हुआ अथवा न किया हुआ भी, तथा सत् और असत् सब कुछ यह स्वप्नमें देखता है। "

" सत् और असत् " अर्थात् सत्य असत्य, अच्छी बुरी सभी बातें यह स्वप्नमें देखता है। प्रायः देखी और अनुभूत बातोंको ही देखता है, परंतु किसी समय न देखी हुई बातें भी स्वप्नमें दिखाई देती हैं, कल्पनातरंगोंसे ऐसा होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। कल्पनामें दो बातें एकत्रित मिलाई जाती है, जैसे पक्षीका उडना और मनुष्यका चलना, इन दोनों अनुभवोंको मिलाकर "मैं उड रहा हूं" ऐसा अनुभव स्वप्नमें हुआ करता है। इस प्रकार उपनिषदोंका कथन है। अब वेदमंत्रोंका विचार करते हैं—

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ ० निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि॥ ० अभूत्याः पुत्रोऽसि॥ ० निर्भूत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० पराभूत्याः पुत्रोऽसि॥ अ० १६।५।१-८

"हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिका हमें पता है, तू (ग्राह्याः) चिरकालीन रोग, (निर्ऋत्याः) सत्य नियमोंके विरुद्ध आचरण, (अभूत्याः) दारिद्र्य, (निर्भूत्याः) उदासीनता तथा (पराभूत्याः) पराभव आदिका बच्चा है, और तू यमका सहायक है। "

इस मंत्रमें स्वप्नके पांच कारण दिये हैं। (१) चिरकालीन रोगोंकी शरीरमें स्थिति, (२) सुनियमोंके विरुद्ध आचरण, (३) दारिद्र्यकी विपन्न अवस्था, (४) उदासीनता, दुर्मुखता, (५) जगत् व्यवहारोंमें पराभव प्राप्त होना, ये पांच कारण हैं कि जिनसे बुरे स्वप्न होते हैं, " ये बुरे स्वप्न मृत्युके सहायक हैं। " उक्त विपत्तियोंके कारण मन सदा चिंतातुर रहता है, जिससे बुरे स्वप्न होते हैं। स्वप्नके कारणोंके विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्। प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहंतु॥
अ० १०।५।२४

" निर्दोष जल हमारे (रिप्रं अप) दोष दूर करें, तथा (एनः) पाप, मल और दुष्ट स्वप्नका कारण (प्र वहन्तु) दूर करें। "

(१) शरीरमें मलोंका संचय, (२) मनमें पापभावना और अन्य दोष होनेके कारण बुरे स्वप्न होते हैं, जलचिकित्सासे अथवा निर्दोष और स्वच्छ जलके प्रयोगसे उक्त दोष दूर हो जाते हैं और दुष्ट स्वप्न नहीं आते। तथा—

दुःष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं। अ. ७।८३।४

"(दुरितं) पाप और दुष्ट स्वप्न दूर करके (सुकृतस्य) सत्कर्मके लोकको प्राप्त करेंगे।" यहां 'दुरित' (दुः+इत) शब्दसे केवल पापका बोध ही नहीं होता, परन्तु जो बुराई शरीर, मन और बुद्धिमें प्रविष्ट होती है, वह सब इस शब्दसे बोधित होती है। दुष्ट स्वप्नोंका यह कारण है। तथा—

अस‍न्मंत्राद्दुःष्वप्न्याद् दुःष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्यांजन॥
अ. ४।९।६

"(१) (अ-सत्-मंत्रात्) दुष्ट विचार, (२) दुष्ट स्वप्न, (३) दुराचार, (४) (शम-लात्) शांतिका नाश करनेवाले प्रकार, (५) (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय, (६) (घोरात्) भयंकर नेत्रोंके भाव आदिसे हम सबको बचाओ।" ये सब दुष्ट स्वप्नोंके साथी हैं। ये ही दुष्ट स्वप्नके कारण हैं। जो कोई चाहता है कि बुरे स्वप्नोंसे अपने आपको कष्ट न हो, वह इन मन्त्रोंमें कहीं बातोंका विचार करे, उसको बुरे स्वप्न कष्ट नहीं देंगे, अर्थात् उसको बुरे स्वप्न ही नहीं दिखाई देंगे। बुरे स्वप्नोंके उदाहरण निम्न मन्त्रोंमें देखिए—

यत्ते स्वप्न अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा॥
अ. ७।१०।११

"स्वप्नमें जो अन्न मैं खाता हूं, वह प्रातःकाल दीखता नहीं है। वह सब मेरे लिये शुभ हो, जो दिनमें दीखता नहीं है।" इससे प्रतीत होता है कि स्वप्नमें भोजन करना अच्छा नहीं है। शरीरमें बीमारी प्रविष्ट होनेसे इस प्रकारके स्वप्न होते हैं, इसलिये ये स्वप्न अस्वास्थ्यके सूचक हैं। पूर्व मन्त्रोंमें दुष्ट स्वप्नोंके कारणोंमें इस प्रकारके स्वप्नोंका कारण पाठक देख सकते हैं। तथा इस विषयमें निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
अ. २०।९६।१६

"जो तमरूप स्वप्नके द्वारा तुझे मोह करता है।" अर्थात् ये सब स्वप्न तम अवस्थाके कारण होते हैं। तमोगुणकी प्रधानतासे इनकी उत्पत्ति है। इसलिये सात्विक भावनाकी वृद्धि करनेसे दुष्ट स्वप्नोंको दूर किया जा सकता है। तमोगुण जिनमें प्रधान रहता है, इस प्रकारके मनुष्योंमें ज्ञान कम होता है, और चित्तमें भ्रांति बहुत रहती है, यह कारण है कि उनको स्वप्नमें नाना प्रकारके आकार दिखाई देते हैं, अपने सम्बन्धियोंका दर्शन स्वप्नमें होनेके विषयमें वेदका कथन निम्न मन्त्रोंमें देखने योग्य है—

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः॥ ७॥
अ. ८।६

"तेरा भाई अथवा पिता होकर जो तेरे स्वप्नमें आता है, उन घातक क्लीबरूपोंको (बजः) बलवान् बनकर ही दूर किया जा सकता है।"

तात्पर्य मनकी कमजोरीके कारण इस प्रकारके आकार स्वप्नमें दिखाई देते हैं। यद्यपि ये आकार भयानक भी होते हैं तो भी ये स्वयं (क्लीबरूप) असमर्थ होनेके कारण बलवान्‌का घात नहीं कर सकते, इसलिये मनको बलवान् बनानेसे उक्त स्वप्नोंका भय दूर किया जा सकता है। कई लोग इन स्वप्नोंसे डरते हैं, और उसकी फिकरमें ही मरने लगते हैं। उनको उक्त मंत्रका उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य है। स्वप्नोंके आकार क्लीब होते हैं, उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होता, इसलिये धैर्य धारण करनेसे कोई बिगाड नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य डरपोक होंगे उनका नाश इन स्वप्नोंके कारण हो सकता है, परंतु यहां स्मरण रहे कि, "यह स्वप्नका दोष नहीं, प्रत्युत उनके मनकी कमजोरीका दोष है।" इसलिये वैदिक उपदेशके अनुसार धैर्य धारण करके स्वप्नोंसे डरना नहीं चाहिये। स्वप्नदोष दूर करनेका उपाय निम्न मंत्रमें देखिये—

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यसि पापं० ॥ अ० १०।३।६
पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः॥
ब्रह्माहमंतरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥
अ० ७।१००।१

"यदि स्वप्नमें बुरा भाव देखा तो इस प्रकारके दुष्ट स्वप्नों और पापमूल आपत्तिसूचक स्वप्नोंके पश्चात् मैं (अंतरं) मनके अंदर (ब्रह्म कृण्वे) ब्रह्मकी उपासना-प्रार्थना-करता हूं, जिससे (शुचः) शोक उत्पन्न करनेवाले स्वप्नके मुख्य परिणाम (परा) दूर होते हैं।"

यह उपाय है कि जिससे पाठक अपने मनको दृढ बना सकते हैं। परमेश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह इस प्रकार भयसे अपनेको बचा सकता है। अब किसी प्रकारके बुरे स्वप्नसे कोई भी न डरे। पहिले तो यह विश्वास रखे कि स्वप्नके आकार और दृश्य शक्तिहीन होनेसे हमारा बुरा नहीं कर सकते। पश्चात् यदि किसीका मन कमजोर रहा तो इस प्रकारके स्वप्नके पश्चात् ईश्वरोपासनासे अपने मनमें बल बढावे। सर्वशक्तिमान परमेश्वर इस समय अवश्य ही बल देगा। मनकी सब कमजोरी ईशउपासनासे दूर होगी। इसी विषयकी और एक प्रार्थना देखिये—

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह ॥ स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद् वरुण पाह्यस्मान् ॥

ऋ. २।२८।१०

" हे वरुण राजन्! हे देव! जो मेरा मित्र, साथी, चोर, हिंस्र पशु आदि स्वप्नमें आकर (भीरवे मह्यं) मुझ भीरुको डराता है, उससे मुझे बचाओ।" यह वह प्रार्थना है जो कि स्वप्नके पश्चात् करनी चाहिये। इससे उपासकके मनमें बल प्राप्त होता है। इस प्रार्थनामंत्रमें ऐसी शब्दयोजना है कि जो स्वप्नके भयकी वस्तविक बात प्रकट कर रही है। मंत्रमें " भीरवे मह्यं " (डरपोक मैं हूं इसलिये मुझे डर होता है) ये शब्द हैं। अर्थात् यदि किसीके मनमें भीरुता अथवा डर न होगा तो उसको किसी प्रकारके स्वप्नसे भय न होगा। परंतु सर्वसाधारण जनतामें ऐसे धैर्यवान् पुरुष कम होते हैं, इसलिये दुष्ट स्वप्नका मनपर जो बुरा असर होता है, उसको दूर करनेके लिये " ब्रह्मकी उपासना " यह एक मात्र उपाय है। ईश्वर-भक्तिसे मन बलवान् होता है और बल प्राप्त होनेसे मनके सभी कुसंस्कार दूर हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इससे उचित बोध लेंगे।

स्वप्न मनके संस्कारोंके कारण होते हैं। इसलिये अपने मनके संस्कारोंकी परीक्षा करनेके लिये स्वप्नोंका विचार करना चाहिये। इतनी मनकी उन्नति करनी चाहिये कि स्वप्नमें भी मनसे पाप न हो, स्वप्नका किया हुआ पाप भी बुराही है—

यदि जाग्रद् यदि स्वप्ने एनांसि चकृमा वयं॥ सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वस्मान्मुंचत्वंहसः ॥

यजु० २०।१६

" यदि हम जागृतिमें अथवा स्वप्नमें पाप करेंगे, तो उससे हम सबको (सूर्यः) देव बचावे। " अपने स्वप्नकी परीक्षासे अपनी धार्मिक अवस्थाका पता लग सकता है। इसलिये हरएकको अपने स्वप्नकी परीक्षा करना उचित है। इस प्रकार वेदका स्वप्न विषयक आदेश है।

अब इस लेखका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि कई स्वप्न भविष्यमें होनेवाले बातोंके ठीक ठीक निदर्शक होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि हरएक स्वप्नका संबंध इस प्रकार बताया जा सकता है। तथा स्वप्नकी सचाई परिणाम देखनेके पश्चात् ही विदित होनेवाली होनेसे स्वप्नकी सूचनासे होनेवाली बातमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। इसलिये केवल स्वप्नोंका डर ही नहीं मानना चाहिये, परंतु अपने उपर स्वप्नसे कोई परिणाम होगा ऐसा विचार भी कभी धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वप्नके दृश्यमें ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। तथापि यदि किसीको स्वप्नकी भीति प्रतीत होती हो, तो उसको ईश्वरउपासनाद्वारा उसका निवारण करना चाहिये।

यद्यपि उक्त हेतुके कारण स्वप्नोंका विचार भी करनेकी कोई जरूरत नहीं है, तथापि स्वप्नोंसे अपने मनकी विलक्षण शक्तिका ज्ञान होता है इसलिये स्वप्नोंका तत्वविचारकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। स्वप्नकी अवस्थाका ठीक ठीक विचार होनेसे आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है, इस दृष्टिसे स्वप्नोंका आंदोलन करना चाहिये। इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे किसी प्रकारके स्वप्नसे न डरें परंतु उसको " आत्मा, बुद्धि, मन और चित्त इनकी शक्तियोंका ज्ञान होनेका साधन समझकर इस दृष्टिसे उनका विचार करें " इस समयतक स्वप्नोंके कई वृत्तांत प्रकाशित हुए हैं और प्रत्येक स्वप्नसे मनके विलक्षण सामर्थ्यका प्रमाण मिला है। यदि पाठक इस प्रकारके अपने अनुभव लिखेंगे, तो लोगोंपर बडा उपकार हो सकता है।

जो मनकी शक्ति स्वप्नद्वारा प्रकट होती है, वह योग-साधनसे यदि बढाई जाय तो जागृतिमें भी काममें लाई जा सकती है। पाठक इस दृष्टिसे इन स्वप्नोंका विचार करें और इनके विचारसे अपनी शक्तिको जानकर उस शक्तिका विकास करके सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें।

विजय प्राप्त करनेकी कला

अजीताः स्याम शरदः शतं ॥ तै. आ. ४।४२।५
अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ यजु. अ. ३६।२४

"हम सब सौ वर्षपर्यंत पराजित न होते हुए जीवित रहें, तथा हम सब सौ वर्षपर्यंत अदीन अर्थात् उत्साही जीवनसे युक्त रहें" यह वैदिक धर्मकी आकांक्षा प्रसिद्ध है। हर एक मनुष्यको उचित है, कि वह सदा ऐसे पुरुषार्थ करता रहे, कि जिससे वह कभी पराजित न हो सके। पराजय होनेसे सब प्रकारकी आपत्तियां प्राप्त होती हैं। पराजितोंको ही सब कष्ट भोगने पडते हैं। पराजितोंके सद्गुण बुरे समझे जाते हैं, और विजयी लोगोंके दुर्गुण अनुकरणीय समझते हैं। विजयका इतना प्रभाव है। इसलिये विजय प्राप्त करनेका यत्न हरएकको करना उचित है। विजय किस प्रकार मिलता है इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है—

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत
या सजन्या। अवस्यवे यो वरिवः कृणोति
ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ऋ. ४।५०।९

जो (अ-प्रति-इतः) पीछे नहीं हटता वह पुरुषार्थी मनुष्य ही (जयति) विजय प्राप्त कर सकता है। वही प्रतिजन्यानि) व्यक्तिविषयक तथा (सजन्या) समूह अथवा समाजविषयक (धनानि) धनोंको (सं जयति) विजयसे प्राप्त करता है। (यः) जो राजा (अवस्यवे) अपना रक्षण करनेवाले (ब्रह्मणे) ज्ञानीको ही (वरिवः) सहायता (कृणोति) करता है, (तं देवाः अवन्ति) उसीका देव रक्षण करते हैं।

इस मंत्रमें विजयकी कुंजी रखी है। (१) जो पीछे नहीं हटता वही विजय प्राप्त करता है। यह मंत्रका पहिला विधान है।...

प्र-इत	प्रति-इत
प्र-गति	प्रति-गति
आगे-बढना	पीछे-हटना

'प्र- इत और प्रति-इत' ये दो शब्द वेदमें वारंवार आते हैं पहिला उन्नति और अभ्युदयका दर्शक है और दूसरा अवनति अथवा पीछे हटनेका दर्शक है। जो पीछे नहीं हटता अर्थात् जो अपने स्थानपर स्थिर रहता है, (युधि-ष्ठिर) जीवन कलहके घनघोर युद्धमें जो न डरता हुआ अपने स्थानसे पीछे नहीं भागता, अथवा जो अपने पुरुषार्थके साथ आगे बढता है, वही विजय पाता है। परंतु जो जीवन कलहमें पीछे रहेगा वह गिरेगा। इस लिये निर्भयताके साथ आगे बढनेकी तैयारी करना सबको उचित है।

आगे बढनेका तात्पर्य यहां मनुष्यकी उन्नतिके सब भूमिकाओंमें उन्नति प्राप्त करनेसे है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रियविषयक, शारीरिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक अथवा सर्व राष्ट्रीय प्रयत्नोंमें सर्वप्रकारके पुरुषार्थोंके साथ आगे बढनेका संदेशा [अ-प्रति-इतः] "अप्रतीतः" इस शब्दद्वारा वेदने सब लोगोंको पहुंचाया है। जो सुनेंगे और जो इस आदेशके अनुसार अपना आचरण करेंगे वेही विजयी और यशस्वी हो सकते हैं। जो सुनते हुए आचरण नहीं करेंगे वे गिर जायेंगे।

सत्यका पालन करो

(१) जब आप सचाईपर रहेंगे, अपने शब्दको सदा सत्यसे पूर्ण रखेंगे, प्रामाणिकता, सीधा सरल व्यवहार और उन्नत आचरणसे आप पवित्र बनेंगे; (२) शुद्ध संस्कारोंसे युक्त रहनेका आप प्रयत्न करेंगे, उन्नति और अभ्युदयके लिये ही सदा पुरुषार्थ करेंगे, जगतका सुधार करनेके लिये स्वयं अपने आपको अर्पण करेंगे, लोगोंको उच्च, श्रेष्ठ और अधिक पवित्र भूमिकामें पहुंचानेके लिये जब आप अपनी पराकाष्ठा करेंगे; (३) जब आप निर्भयतासे कार्य करेंगे, भीतिसे दूर रहेंगे, सत्कर्म करनेके लिये किसीसे नहीं डरेंगे, अपनी पूर्णता करनेके लिये अहर्निश प्रयत्न करेंगे; (४) जब आप ऐश और आरामकी पर्वा छोडकर, सुस्तीको दूर करके अपने ही इंद्रियोंके सुखोंमें मस्त न होंगे, तथा श्रेष्ठ कार्य करनेके लिये योग्य स्वार्थत्याग आनंदके साथ करेंगे; (५) संदेहको दूर करके निश्चयात्मक बुद्धिसे सतत पुरुषार्थ करेंगे, सोचने विचार करनेमें ही जब आप अपना सब समय न गमायेंगे, परंतु सोच विचारपूर्वक कार्य करनेके लिये सदा तत्पर रहेंगे, (६) जब आप विजयी पुरुषवीरोंके समान अपने विचार प्रकट करेंगे अपना चालचलन शूरोंके समान उदात्त करेंगे अपने कार्य धैर्यशील उदार चरितोंके समान करेंगे, अपने सब खूनमें विजयकी ध्वनि कूट कूट कर भर देंगे; (७) जब आप विजयी पुरुषोंके चरित्र पढेंगे उनके गीत गायेंगे, उनके समान बननेका यत्न करेंगे, उनके चरित्र दूसरोंको सुनायेंगे, तथा उनके जीवनोंमें प्रेममय भक्ति रखेंगे; (८) जब आप श्रेष्ठ पुरुषोंकी संमति आदरके साथ विचार कोटिमें लेंगे, अपनी निंदा स्तुतिकी पर्वाह न करते हुए योग्य कार्य दक्षतासे

करेंगे; (९) जब कष्ट और आपत्तियाँ आजायँगी तब न डरते हुए बडे बिलक्षण धैर्यके साथ अपना ही योग्य धार्मिक सत्कार्य चलाते रहेंगे, (१०) जब आप दैवका विचार न करते हुए, पुरुषार्थका ही ख्याल मनमें धरेंगे, सत्कार्य करते हुए यदि सब दुनिया आपके विरुद्ध हो गई तो भी जब नहीं डरेंगे; (११) अपने पुरुषार्थके बलपर जब आप निर्भर रहेंगे, सत्कार्य करते हुए यदि विष आपको प्राप्त हुवा तो भी यदि आप निर्भयतासे उसको स्वीकार करनेके लिए तैयार होंगे, (१२) जब आप अच्छे नागरिक, भले पडौसी, उत्तम राष्ट्रहितैषी, और मानवी हितका कार्य करनेमें तत्पर बनेंगे, (१३) अपने सुविचार प्रकट करने और अपना जीवन विशेष उच्चप्रकारसे व्यतीत करनेके लिये जब आप किसीसे नहीं डरेंगे, (१४) जब अपने आपको पूर्ण धैर्यवान मानेंगे, अपनी वैयक्तिक उच्चताकी सिद्धता करनेका सुविचार करेंगे, अपने आपको गिरा हुआ न मानेंगे; (१५) जब आप अपनी इंद्रियोंका शमन और दमन करेंगे, उनको स्वाधीन रखेंगे, आप अपनी शक्तियोंके प्रभु बनेंगे सब दुष्टभावोंको दूर करेंगे; (१६) जब आप सदा उच्च विचार उच्चार और आचारको ही पसंद करेंगे, उच्च आकांक्षा धरेंगे और अभ्युदयके मार्गसे चलेंगे; (१७) जब आप अपना जीवनका सुधार करनेका दृढ निश्चय करेंगे, जीवन कलहमें सत्यके साथ आगे बढेंगे, अपना आदर्श जीवन बनानेका यत्न करेंगे; (१८) जब आप उत्साह, उल्लास और आनंद अपने चेहरेपर सदा रखेंगे; अपना वायुमंडल उत्साहपूर्ण बनायेंगे और अपना घर, पोशाक और अपने अन्य पदार्थ उल्लासपूर्ण सदा रखेंगे; (१९) जब आप सुधारके मार्गसे प्रगति करेंगे, और हीन मार्गसे दूर रहेंगे; (२०) जब आप द्वेष, मत्सर, और दूसरेकी निंदा न करते हुए दूसरोंके उत्तम गुणोंका ही विचार करेंगे; (२१) अपने निश्चित विचारसे इधर उधर न भटकेंगे, अपने मार्गमें ही सुदृढ विचारसे चलेंगे, (२२) सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करके सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेके लिये जब आप दृढ विश्वाससे प्रयत्न करेंगे; (२३) जब आप जगत्‌की ओर पूर्णताकी भावनासे देखेंगे, और दोषकी दृष्टिसे ही सब दुनियाकी ओर देखना छोड देंगे; (२४) जब आप निश्चयका बल धारण करके बंधनोंको तोडनेका प्रबल यत्न करेंगे (२५) जब आप सत्य तत्वोंके प्रेमसे कार्य करेंगे और छोटे मोटे प्रलोभनोंमें न फंसेंगे; (२६) जब आप सदा सर्वदा अविचारसे दूसरोंका अनुकरण न करेंगे, परंतु अपनी बुद्धिसे अपनी स्वतंत्रताका मार्ग ढूंढेंगे; (२७) जब आप उचितको निकट और अनुचितको दूर करनेमें धैर्य बतायेंगे, ' न ' कहनेके समय ' हां ' नहीं कहेंगे, और ' हां ' कहनेके समय ' न ' नहीं कहेंगे, दूसरोंकी मोहब्बतसे अपना सत्यमार्ग न भूलेंगे, (२८) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके कर्तव्योंमें जब आप सदा आगे ही बढते जायगे; (२९) परमात्माकी भक्तिसे अपने अंतःकरणोंको पवित्र रखेंगे; (३०) जब आप हृदयसे न डरेंगे, मनमें विश्वास रखेंगे, और आत्मामें बल रखेंगे; (३१) ' मैं अवश्य विजय प्राप्त करूंगा ' ऐसी ही भावना जब मनमें दृढ करेंगे, (३२) शरीर, मन आदि अपने साधनोंको जब एक ही श्रेष्ठ पुरुषार्थमें लगायेंगे; (३३) जब आप अपने आपको परमेश्वरके अंदर समझकर पूर्ण विश्वाससे कार्य करेंगे; तब आप आगे बढ सकते हैं और आगे बढनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं।

इससे आप और अधिक सोच कर अपने काया वाचा मनकी शुद्धि करने, अपने आपको योग्य बनाने और पूर्ण विजय प्राप्त करनेका मार्ग ढूंढ सकते हैं। सोचिए और सीधे मार्गको प्राप्त करके उसपर चलिए।

उक्त मंत्रमें (प्रतिजन्य धन) वैयक्तिक धन तथा (सजन्य धन) समुदाय, समूह, संघ अथवा समाजका धन, ऐसे दो प्रकारके धन कहे हैं। उन्नति, अभ्युदय, विकास आदि सब दो प्रकारका होता है। एक मनुष्यके संबंधसे जो उन्नति आदि है उसको वैयक्तिक, व्यक्तिविषयक प्रतिजन्य, प्रत्येक जनके संबंधमें कहा जाता है। तथा जो अभ्युदय सब जनताके संबंधमें होता है उसको सामुदायिक, सामाजिक सजन्य संपूर्ण जनोंके संबंधमें, राष्ट्रीय, समाज अथवा जातिके संबंधमें, कहते हैं। देखिए—

व्यक्ति	समाज
मनुष्य	संघ
प्रति–जन	स–जन
प्रति–जन्य	स–जन्य
अ–संभूति	सं–भूति

यजु० अ० ४० अथवा ईशोपनिषदमें संभूति और असंभूतिका विचार आगया है। वहां कहा है कि "जो केवल व्यक्तिकी उन्नति करनेमें मस्त रहते हैं, वे गिर जाते हैं तथा जो केवल सामाजिक सुधारमें ही लग जाते हैं वे भी गिर जाते हैं व्यक्तिकी उन्नतिका एक विशेष महत्व है, और समाजके सुधारका एक विशेष महत्व है। इस बातको जान कर जो दोनों प्रकारके सुधारको साथ साथ करते जाते हैं, वे व्यक्तिकी उन्नतिसे दुःखको दूर करके सार्वजनिक अभ्युदयसे अविनाशी स्वातंत्र्यको प्राप्त करते हैं।" अर्थात्, व्यक्तिका अभ्युदय और सार्वजनिक निश्रेयसका साधन करना वैदिक धर्मका मुख्य उद्देश है जो इस उद्देशको छोड देते हैं वे अवनत होते हैं। इसलिये इस मंत्रमें विजय प्राप्तिके उपदेशमें 'प्रतिजन्य और सजन्य' अर्थात् एक एककी और संघकी उन्नतिका समावेश किया है। यहां धनका तात्पर्य **'धन्यताका साधन'** है, न कि रुपया आना पाई। जिससे मनुष्य अपने आपको धन्य समझ सकता है वह उस मनुष्यके लिये उस समय धन होता है। इसलिये धन्यताके सब साधन धन ही हैं।

सुविचारी सदाचारी

वैदिक धर्ममें रहता हुवा जीता जागता सुविचारी सदाचारी और सच्छील मनुष्य व्यक्तिके और जातिक सुधारक विचारोंसे दूर नहीं रह सकता। वर्णाश्रम धर्ममें सब जातीय व्यवस्था ही है ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो आश्रम व्यक्तिके सुधारक हैं। गृहस्थमें जनताके विचारोंका प्रारंभ होता है, तथा वानप्रस्थ और संन्यास ये दो आश्रम केवल जनताकी उन्नति करनेके ही हैं। व्यक्तिके स्वार्थको छोडना और जनताकी भलाई करनेका विचार मनमें दृढ करना, यही संन्यासका तत्व है। जनतात्माकी सेवा करना ही संन्यास धर्म है। चार वर्णोंके धर्ममें तो प्रसिद्धिसे ही सार्वजनिक सुव्यवस्थाका मार्ग है। इसलिये उसका विचार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। इस कारण सब वैदिकधर्मियोंको उचित है कि वे जिस प्रकार अपने सुधारका विचार करते हैं, उसी प्रकार वे जनताका अथवा जातिका भी अवश्य विचार करें। क्योंकि जबतक दोनों उन्नतियोंकी प्राप्ति न होगी तबतक धर्मकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त होना असंभव है।

पूर्वोक्त मंत्रके उत्तर चरणमें 'अवस्युः ब्रह्मा' ये शब्द आये हैं। 'अवस्यु' का अर्थ-संरक्षण, हलचल, प्रेम-समाधान शांति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, विनती, पुरुषार्थ, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, ऐक्य, स्वीकार, अस्तित्व, वृद्धि और विरोधका परिहार करनेवाला हैं। ये उन्नीस कार्य मनुष्यके अभ्युदयके साधक हैं। पाठक यहां विचार करें कि इन उन्नीस कार्योंसे मानवी उन्नति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। मनुष्य मात्रके सब हलचलके प्रयत्न जो व्यक्तिकी उन्नतिके लिये होते हैं तथा जो जातीयताके विकासके लिये हो सकते हैं, उन सबकी सूचना उक्त अर्थोंमें आ रही है। इतना व्यापक अर्थ बतानेवाला 'अवस्यु' शब्द है। 'अव्' धातुसे यह शब्द बनता है और इसी धातुसे 'ऊति, अवन, ओं' आदि शब्द बनते हैं। इसलिये इन सब शब्दोंमें मुख्यतया अथवा गौणवृत्तिसे सब पूर्वोक्त अर्थ विद्यमान रहते ही हैं। पाठक इस शब्दके ये अर्थ विशेष स्मरणपूर्वक मनमें धारण करें, क्योंकि 'अवन' शब्दका प्रयोग तथा इस धातुसे बने हुए शब्द वेदमें विशेष हेतुसे दिये हैं।

जो अपनी व्यक्तिकी, समाजकी, राष्ट्रकी तथा जनताकी सुयोग्य उन्नति करनेकी पराकाष्ठा करता है वही 'अवस्यु' हो सकता है।

सदाचारका स्वप्नसे संबंध

यहां सदाचारका थोडासा वर्णन किया है वह इसलिये है कि मनुष्य अपने आपको ऐसे सुयोग्य पुरुषार्थके कार्योंमें सदा लगाकर रखे। इससे स्वप्न भी उसको उत्तम पुरुषार्थके ही आजायंगे और बुरे स्वप्नसे उसको किसी तरहके क्लेश नहीं होंगे।

मनुष्य अपने आपको शुभ पुरुषार्थके कार्योंमें सदा लगावे और कभी बुरे कार्योंमें न लगावें। इससे उसका मन सदा सुविचारसे युक्त रहेगा और स्वप्न भी उसको अच्छे ही आजायंगे।

मनुष्य जिस कर्ममें अपने आपको लगाता है उस प्रकारके स्वप्न उसको आते हैं। इसलिये मनुष्य अपने आपको शुभ कर्ममें लगावे। पुरुषार्थके श्रेष्ठ कर्ममें दत्तचित्त रहे जिससे मनुष्यका संपूर्ण जीवन ही परिशुद्ध बनेगा। वेदमें इसीलिये कहा है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।
आप्यायध्वम्। वा० य० १।१

'परमेश्वर आपको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रेरित करे। इससे आप परम उन्नतिको प्राप्त होंगे।' मनुष्य श्रेष्ठतम कर्म करे और अपनी उन्नति करें। इससे अशुभ स्वप्न दूर हो सकते हैं।

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

ॐ

वैदिक व्याख्यान माला — २९ वाँ व्याख्यान

वेदकी दैवत संहिता

और

वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय–मण्डल, पारडी (सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

वेदकी दैवत संहिता
और
वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह

(एक अत्यंत आवश्यक व्यवस्था)

वेदका धर्म सब धर्मोंसे प्राचीन है। विश्वके पुस्तकालयमें वेद, विशेषतः ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है। इस विषयमें सब विद्वानोंका ऐकमत्य है। ऐसे वेदके लक्षण पूर्व मीमांसाकार भगवान् जैमिनी मुनी इस तरह करते हैं—

ऋचाका लक्षण

ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ ३५ ॥

सामका लक्षण

गीतिषु साम ॥ ३६ ॥

यजुका लक्षण

शेषे यजुः शब्दः ॥ ३७ ॥ मीमांसा दर्शन २।१

१ ऋग्वेद मंत्रका लक्षण यह है— जहां अर्थके अनुसंधानसे चरणोंकी व्यवस्था होती है, वह ऋग्वेदका मन्त्र है।

२ साम मन्त्रका लक्षण यह है— जो मंत्र गाया जाता है वह सामका मंत्र है।

३ यजुर्मंत्रका लक्षण यह है— जो ऋचा (पादबद्ध मंत्र) नहीं है और जो (गाने योग्य) साम नहीं है वह गद्य मन्त्र यजु कहा जाता है।

ये तीन लक्षण तीनों वेदोंके मंत्रोंके जैमिनी महामुनिने अपनी पूर्व मीमांसामें दिये हैं। पादव्यवस्था जिस मंत्रमें है वह ऋग्वेदका मंत्र है, जो गाया जाता है वह वेदमंत्र साम है और जो शेष गद्य मंत्र है वह यजुर्वेद मंत्र है।

ये लक्षण सचमुच मननीय हैं। जिस मंत्रमें चरण हैं वह ऋचाका मंत्र है। इस लक्षणको मनमें धारण करनेसे आज प्राप्त होनेवाले ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके चरणवाले सब मंत्र ऋग्वेदके मंत्र हो गये। अथर्ववेदमें जो गद्य मंत्र होंगे उनको छोडकर चरणवाले सब मंत्र ऋचा ही कहे जांयगे। इतना ही नहीं परंतु यजुर्वेदमें जो जो मंत्र चरणवाले हैं, पादबद्ध हैं उनका नाम भी ऋचा ही हुआ।

सामका निर्णय

जिनका गान किया जाता है वह साम है। ' साम ' में ' सा+अम ' ये दो पद हैं। ' सा ' का अर्थ ' ऋचा ' है और ' अम ' का अर्थ स्वर या आलाप है। आलापके साथ जो मंत्र गाया जाता है उसको ' साम ' कहा जाता है।

या ऋक्, तत् साम। छां० उ० १।३।४
सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्।
बृ० उ० १।३।२२

' जो ऋचा है वह साम है। ' अर्थात् जो पादबद्ध मंत्र गाया जाता है वह साम कहलाता है। सामवेदमें जो मंत्र हैं वे ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। जो सामवेदके मंत्र इस ऋग्वेदमें नहीं हैं वे ऋग्वेदकी शांख्यायन संहितामें हैं। तात्पर्य 'जो ऋचा है वही साम है' यह सत्य है। अर्थात् सब सामवेदके मंत्र ऋग्वेदके ही मंत्र हैं। प्रत्येक चरणबद्ध मंत्र गाया जा सकता है। हमने ऋग्वेदके तथा अथर्ववेदके मंत्र ताल स्वर आलापमें गानेवाले विद्वान् देखे हैं। अनेक रागोंमें वे इन मन्त्रोंका उत्तम गायन करते हैं। पं० गजानंदशर्मा देवरात नामक एक वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। इनका पता– " ब्रह्मचर्याश्रम, गोकर्ण " है। वे इस तरह ऋग्वेद मंत्रों का गायन करते हैं। उनके शिष्य भी ऐसे

गायन करनेवाले हैं। कोई भी उनको बुलाकर वेदमंत्रोंका इस तरहका गायन करवा सकते हैं। और सुनकर अपूर्व आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

अर्थात् ऋग्वेदके मंत्रोंका गायन होता है और इस तरह जो गायन होता है उसका नाम साम गायन है। मूल ऋग्वेदके मन्त्रका गायन किस तरह होता है वह अब देखिये—

अग्न आ याहि वीतये, गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

ऋग्वेद ६।१६।१०

यही मंत्र सामवेदमें इस तरह लिखा जाता है—

अग्न आ याहि वीतये, गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

सामवेद १।१।१।१

जहां ऋग्वेदमें अक्षरके नीचे स्वर अर्थात् अनुदात्त स्वर होता है वहां सामवेदमें ३ अंक उस अनुदात्त स्वरका सूचक रहता है। जहां ऋग्वेदमें ऊपर अक्षरके सिरपर खडा स्वर होता है, उदात्त स्वर जहां होता है वहां ' २ ' अंक उदात्त स्वरका सूचक रहता है। अनुदात्त स्वरके पीछला स्वर उदात्त होता है किसी समय ऋग्वेदमें यह दर्शाया नहीं जाता, पर सामवेदमें यह ' २ ' अंकसे अवश्य दर्शाया जाता है। अर्थात् सामवेदके मंत्रोंपरके अंक ऋग्वेदके स्वरके बोधक हैं, और ये अंक गायनके आलापके दर्शक नहीं हैं।

जो लोग सामवेद मंत्र बोलते समय ' आ आ आ ' करके आलाप करते हैं, वह गलत उच्चारण है। सामवेदके मंत्रके स्वर ऋग्वेदके ही स्वर हैं अतः उनका उच्चारण ऋग्वेदके मंत्रके समान ही करना चाहिये। सामवेदमें जो मंत्र हैं, वे ऋग्वेदसे ही लिये हैं। ये गान बनानेके लिये हैं। इनको ' योनि-मंत्र ' कहते हैं। सामगायन इनसे होता है इसलिये ' सामगानकी यह योनि है '। सामगान इनसे बनता है जो गाया जाता है। पूर्व स्थानमें जो ऋग्वेदका मंत्र दिया है और वही सामवेदमें है ऐसा भी दर्शाया है उस मंत्रके गान इस तरह बने हैं—

(१) गोतमस्य पर्कम्।

ओग्नाई। आयाहीऽ ३। वोइतोयाऽ२इ। तोयाऽ२ इ। गृणानो ह।व्यदातयाऽ २ इ। तो या ऽ २ इ। नाइ होतासाऽ २३। त्साऽ २ इ। बाऽ२३४ औहोवा। हीऽ२३४षी ॥१

(२) कश्यपस्य बार्हिषम्।

अग्न आयाही वी। तया इ। गृणानो हव्यदा-ताऽ२३ याइ। नि होता सत्सि बर्हाऽ२३ इषी। बर्हाऽ२ इषाऽ२३४ औहोवा। बर्हीऽ३ षीऽ २ ३ ४ ५ ॥ २ ॥

(३) गोतमस्य पर्कम्।

अग्न आयाहि। वाऽ५ इतयाइ। गृणानो हव्य-दाऽ१ ताऽ३ ये। नि होताऽ२३४ सा। त्साऽ २३४ इषाऽ३। हाऽ२३४ इषोऽ६ हाइ ॥३॥

इस तरह जो ऋग्वेदका मंत्र सामवेदमें लिया गया, उस एक ही ऋग्वेद मंत्रके ३ सामगान बने। इन तीन सामगानोंमें गोतमके बनाये दो सामगान हैं और कश्यपका बनाया एक है। इसलिये कहा है कि—

ऋचि अध्यूढं साम गीयते। छां० उ० १।६।१

ऋचा पर आश्रित सामगायन होता है। इसी बातको विवाह प्रकरणका एक मंत्र कहता है—

अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाहमस्मि ऋक्त्वं,
द्यौरहं पृथिवी त्वं, ताविह संभवाव, प्रजामाज-
नयावहै ॥ अथर्व० १४।२।७१; ऐतरेय ब्रा. ८।२७;
बृ. उ. ६।४।२०

विवाहके समय पति पत्नीको कहता है कि “ (अमः अहं अस्मि) स्वरका आलाप मैं हूं और (सा त्वं) वह ऋचा तू स्त्री है। सामगानका आलाप मैं हूं और ऋचा तू है।

द्यु मैं हूं और पृथिवी तू है, हम दोनों यहां मिलजुलकर रहें और प्रजाको उत्पन्न करें।"

यहां 'सा+अम' (साम) को विवाहित दंपती माना है। (सा) ऋचा रूपी उपवर कन्याके साथ (अम) आलाप स्वरका विवाह हुआ और इस विवाहसे सुन्दर मनोहारि गान उत्पन्न हुआ। इस अथर्ववेद मंत्रका भी, अथर्व ऋचाका भी गान होता है ऐसा यहां माना है। ऋचा वह है जो चरणवाला मंत्र है, वह आलापके साथ गाया जाता है, उस गानका नाम साम है। अर्थात् जो आज 'सामवेद' नामसे सुप्रसिद्ध वेद है वह सामगानोंके योनि-मंत्रोंका वेद है। वास्तवमें वह (सा+अमः) सामवेद नहीं है, क्योंकि वह केवल "सा" (ऋचा) ओंका संग्रह ही है। उन ऋचाओंके साथ "अम" स्वरका आलाप मिला ही नहीं है। इस कारण यह सत्य रीतिसे सामवेद नहीं है। वह ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह मात्र है।

यहां यह भी समझना योग्य है कि सामवेदकी १३ शाखाएं सामतर्पणमें लिखी हैं–"राणायन–शाट्यमुग्रय-व्यास–भागुरि–औलुण्डी—गौल्गुलवी–भानुमानौ–पमन्यव– काराटि– मशकगार्ग्य– वार्षगव्य– कुथुम– शाली होत्र–जैमिनी" इन तेरह सामवेदकी शाखाओंके नाम सामतर्पणमें लिखे हैं। इनमें "राणायनी, कौथुमी (कुथुम शाखावाली) और जैमिनी" इन शाखाओंकी सामवेद संहिताएं इस समय हमारे पास हैं। और प्रत्येक साम संहितामें मन्त्रक्रमकी भिन्नता है। तथा मंत्रसंख्या भी न्यूनाधिक है। मंत्रोंसे बने गान भी विभिन्न हैं।

हमारे पास कौथुमी तथा जैमिनी शाखाके गान लिखे हैं, कौथुमी शाखाके ऊह, ऊह्य, ग्रामगेय ऐसे थोडे गान हमने छापे भी हैं। बाकीके छापने हैं। दोनों शाखाओंके मिलकर करीब ८००० गान हैं। राणायनी शाखाके गान हमें अभीतक प्राप्त नहीं हुए। पर कौथुमी और जैमिनी शाखाके गान भी सबके सब ८००० ठीक तरह छापना बहुत व्ययका कार्य है। प्रत्येक शाखाकी गानपद्धति विभिन्न है और स्वर तथा आलापकी पद्धति विभिन्न होनेसे ये इतने गान हुए हैं। सच्चा 'सामवेद' (सा+अम+वेद) ऋचाओंके स्वर आलापोंका वेद यही है। जो प्रसिद्ध 'सामवेद संहिता' करके है वह केवल ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह मात्र है। उसमें गानका संबंध बिलकुल नहीं है।

ऋग्वेदके तथा अथर्ववेदके सब चरणबद्ध मंत्रोंका गान हो सकता है। और गान करनेवाले विद्वान गोकर्णमें इस समय हैं भी। इसलिये ये साम सहस्रों हो सकते हैं चारों वेदोंमें चरणवाले मंत्र १७००० से कुछ अधिक हैं। एक एक मंत्रके तीन सामगान भी हुए तो भी ५० हजार साम हो सकते हैं। इसलिये कहते हैं कि सामगानोंका अन्त नहीं है। ये तो अनन्त हो सकते हैं। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' सामवेदके गानोंके सहस्रों मार्ग हैं ऐसा इसीलिये कहा है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' (भ. गी. १०।२२) वेदोंमें सामवेद ईश्वरकी विभूति कही है वह इसीलिये है। महाभारतमें अनुशासन पर्वमें (१४।३१७) 'सामवेदश्च वेदानां।' इस तरह सब वेदोंमें सामका महत्त्व वर्णन किया है। इसकी विशेषता इस तरह दर्शायी है—

वाच ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः। छां० उ० १।१।२

'वाणीका रस ऋग्वेद है, ऋग्वेदका रस सामगान है, सामगानका रस उद्गीथ गान है।' तथा—

सामवेद एव पुष्पम्। छां० उ० ३।३।१।

'सामवेद यह वेदरूपी वृक्षका फूल है।' जैसा वृक्षकी शोभा फूल बढाता है वैसा वेदकी शोभा सामगान बढाता है। और देखिये—

का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच।
छां० उ० १।८।४

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। बृ० उ० १।३।२५

सामकी गति स्वरमें है। सामका (स्वं) सर्वस्व स्वर ही है। अर्थात् सामवेद ऋग्वेदके मंत्रोंका संग्रह है और उन मंत्रोंपर ऋषियोंने गान रचे हैं। इसलिये सब सामगान ऋषियोंके नामसे बोले जाते हैं। 'गौतमस्य पर्क। कश्यपस्य बर्हिषं।' इत्यादि सामके नाम किस ऋषिने कौनसा गान रचा वह बता रहे हैं।

वेदमंत्रोंमें सामकी प्रशंसा

वेद मंत्रोंमें सामका उल्लेख अनेक प्रकार आया है वह अब देखिये—

आङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः (देवाः)। ऋ० १।१०७।२

अङ्गिरसो न सामभिः। ऋ० १०।७८।५

अंगिरसोंके सामगानका यह उल्लेख है। शकुनि पक्षीके स्वरके समान सामगान गाते हैं ऐसा कहा है—

उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानुराजति। उद्गातेव शकुने साम गायसि; ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि॥ ऋ० २।४३।१-२

' गायत्र और त्रैष्टुभ ' सामके नाम इस मंत्रमें हैं। शकुन पक्षी उद्गाताके समान साम गाता है। शकुन पक्षीके स्वरके समान साम गायन हो ऐसा इससे सूचित होता है। जो जागता है उसको साम प्राप्त होते हैं, ऐसा कहनेवाला मंत्र यह है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते।
यो जागार तमु सामानि यन्ति॥ ऋ० ५।४४।१४

जो जागता है उसको ऋचाएं चाहती हैं, और जो जागता है उसको साम प्राप्त होते हैं। तथा—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः
यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। ऋ० १०।१०७।६

जो सामगान करता है उसको ऋषि, ब्रह्मा तथा यज्ञके लिये योग्य कहते हैं। तथा—

उपगासिषत् श्रवत्साम गीयमानम्। ऋ० ८।८१।५
यूयमृषिमवथ सामविप्रम्। ऋ० ५।५४।१४

(सामविप्रं) सामगानमें जो कुशल गायक होता है उसका संरक्षण देव करते हैं। इन्द्रकी सामसे स्तुति करनेके विषयमें ऐसा कहा है—

इन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। ऋ० ८।९५।७
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ऋ० ८।९८।१; अथर्व० २०।६२।५

बृहस्पतिः सामभिः ऋक्को अर्चतु। ऋ० १०।३६।५
अर्चन्त एके महि साम मन्वत। ऋ० ८।२९।१०

इन्द्रकी शुद्ध सामसे स्तुति करते हैं। बडे इन्द्रकी साम गाकर प्रशंसा करते हैं। सामोंसे अर्चना की जाती है। सामोंके अनेक नाम भी वेदमंत्रोंमें आये हैं देखिये—

आंगूष्यं शवसानाय साम। ऋ० १।६२।२
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कं अर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। ऋ० १।१६४।२४; अथर्व. ९।१०।२
साम कृण्वन् सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेति।
ऋ० ९।९६।२२

' आंगूष्य, अर्क, गायत्र ये सामके नाम इन मंत्रोंमें आये हैं। (सामन्यः विपश्चित्) साम गायन करनेवाला ज्ञानी विद्वान् (साम क्रन्दन् एति) सामके आलाप जोरसे गाता हुआ आता है। यहां सामगान बडे स्वरसे करनेका उल्लेख है। सामगानमें प्रवीण बडे आवाजसे साम गाते हैं।

सामका वर्णन अन्य रीतिसे भी वेदमें हुआ है। देखिये-

ऋचं साम यजामहे। अथर्व० ७।५४।१
षडु सामानि षडहं वहन्ति। अथर्व० ८।९।१६
ऋक्संशितः सामतेजाः। अथर्व० १०।५।३०
सामानि यस्य लोमानि। अथर्व० ९।६।२; १०।७।२०
ऋचः साम यजुर्मही। अथर्व० १०।७।१४
साम्ना ये साम संविदुः। अथर्व० १०।८।४१
ऋक्साम यजुः उच्छिष्टे उद्गीतः प्रस्तुतं स्तुतम्।
उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च॥ अथर्व० ११।७।५
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् ऋचः सामाथो यजुः।
अथर्व० ११।८।२३
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
अथर्व० १२।१।३८
ऋचां च वै स साम्नां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति। अथर्व० १५।६।९

" ऋचा और सामसे यज्ञ होता है। छः साम हैं। सामसे तेजस्वी होता है। परमात्माके लोम सामगान हैं। ऋचा, साम और यजु ये तीन वेदमंत्र हैं। ऋचा, साम, यजु, सामका स्वर और आलाप परमात्मामें हैं। शरीरमें ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है वह ऋचा साम तथा यजुरूपसे प्रकट है। यजु जाननेवाले ऋचाओंसे और सामसे अर्चना करते हैं। ऋचाओंका तथा सामोंका वह प्रिय धाम होता है। "

इस तरह ऋचा, साम और यजुका परस्पर संबंध वेद मंत्रोंमें बताया है। वेदोंमें निम्नलिखित सामगानोंके नाम आये हैं। वैरूपं, बृहत्, गौरिवीति, रैवतं, अर्कं, गायत्रं, श्लोकं, भद्रं इत्यादि नाम ऋग्वेदमें है। वाजसनेयी यजुर्वेदमें रथन्तरं (य. १०।१०), बृहत् (१०।११), वैरूपं (य. १०।१२), वैराजं (१०।१३); वैखानसं, वामदेव्यं, यज्ञायज्ञियं (वा० य० १२।४), शाकरं रैवतं (य० १०।४), गायत्रं, गौरिवीतं, अभीवर्तं, क्रोशं, सत्यस्याधिं, प्रजापतेर्हृदयं, श्लोकं, अनुश्लोकं, भद्रं, राजत्, अक्यं, इलान्दं इत्यादि नाम यजुर्वेदके हैं। प्रायः यजुर्वेदके सभी संहिताओंमें ये नाम हैं।

ऐतरेय ब्राह्मणमें— 'बृहत्, रथन्तर, वैरूपं, वैराजं, शाकरं, रैवतं, गायत्रं, श्यैतं, नौधसं, रौरवं, यौधाजयं, आग्निष्टोमीयं, भासं, विकर्ण इत्यादि नाम आये हैं। इस तरह चारों वेदोंमें और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सामगानोंके नाम आये हैं। इनमें कई नाम छंदोंसे बने हैं, कई मधुर स्वरसे हैं।

ऋचा पादवाले, चरणवाले मंत्रका नाम है। इसी पादबद्ध मंत्रका गान होता है, जिसका नाम साम हैं। शेष गद्य मंत्रका नाम यजु है। वेदमंत्रोंमें, पूर्व स्थानमें दिये या न दिये मंत्रोंमें, जो साम शब्द आया है वह सामगानका वाचक है। सामवेद नामक मंत्र संग्रहका वाचक वह नहीं है। सामवेदमें संग्रहित योनिमंत्रोंसे भिन्न अन्य पादबद्ध मंत्र भी गाये जाते हैं और उनको भी 'साम' कहते हैं।

सामके विषयमें इतना कहना पर्याप्त है। इससे सामवेदके मंत्र ऋग्वेद मंत्र ही हैं यह सिद्ध हुआ है।

गानके लिये ऋग्वेदसे जो मंत्र संगृहित किये वही मंत्र संग्रह सामवेद करके प्रसिद्ध हुआ है। सामकी शाखाओंकी संहिताओंमें सामवेदके मंत्रोंका क्रम विभिन्न है, संख्या भी न्यूनाधिक है और उनसे बने सामगान भी विभिन्न हैं और अनेक हैं।

सामवेद मंत्रसंग्रह

सामवेद मंत्रसंग्रह पूर्वार्धमें 'आग्नेय काण्ड' (मंत्रसंख्या ११४), 'ऐन्द्र काण्ड (मंत्रसंख्या ३५२), पावमान काण्ड (सोमकाण्ड, मंत्रसंख्या ११९) आरण्यक काण्ड मंत्र५५, महानाम्नि मंत्र १० मिलकर ६५० मंत्र हैं। अग्नि, इन्द्र और सोम इन तीन देवताओंके ये तीन विभाग हैं। अतः इसको 'दैवत संहिता' हम कह सकते हैं।

उत्तरार्चिकमें करीब १२२५ मंत्रोंका संग्रह है। पर यह संग्रह देवतानुसार नहीं है।

राणायनीय तथा जैमिनीय सामवेद संहिताओंमें मंत्रसंख्या कुछ न्यूनाधिक है।

अथर्ववेदके विषयमें

अथर्ववेदके विषयमें अब विचार करते हैं। अथर्ववेद संहिताके दो प्रवाह आज मिलते हैं। एक पिप्पलाद अथर्ववेद और दूसरा शौनकीय अथर्ववेद। पतंजली महामुनिने अपने व्याकरण महाभाष्यके प्रारंभमें 'शं नो देवी' मंत्रसे अथर्ववेदका प्रारंभ लिखा है। वह पिप्पलाद शाखाका प्रतीत होता है क्योंकि शौनकीय अथर्ववेदका प्रारंभ 'ये त्रिषप्ता' मंत्रसे हुआ है।

अथर्ववेदकी काण्डगणना

अथर्ववेदकी काण्ड गणना प्रारंभमें विषयानुसार नहीं है केवल सूक्तमें मंत्र संख्यानुसार हुई है, देखिये—

१ प्रथम काण्ड

४ मंत्रवाले	सूक्त	३०	मंत्र संख्या	१२०
५ ,,	,,	१	,,	५
६ ,,	,,	२	,,	१२
७ ,,	,,	१	,,	७
९ ,,	,,	१	,,	९
		३५		१५३

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

२ द्वितीय काण्ड

५ ,,	,,	२२	,,	११०
६ ,,	,,	५	,,	३०
७ ,,	,,	५	,,	३५
८ ,,	,,	४	,,	३२
		३६		२०७

इस द्वितीयकाण्डकी प्रकृति ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

३ तृतीय काण्ड

६ मंत्रवाले सूक्त		१३	मंत्रसंख्या		७८
७	,, ,,	६	,,		४२
८	,, ,,	६	,,		४८
९	,, ,,	२	,,		१८
१०	,, ,,	२	,,		२०
११	,, ,,	१	,,		११
१३	,, ,,	१	,,		१३
		३१			२३०

इस तृतीय काण्डकी प्रकृति ६ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

४ चतुर्थ काण्ड

७	,, ,,	२१	,,	१४७
८	,, ,,	१०	,,	८०
९	,, ,,	३	,,	२७
१०	,, ,,	३	,,	३०
१२	,, ,,	२	,,	२४
१६	,, ,,	१	,,	१६
		४०		३२४

इस चतुर्थ काण्डकी प्रकृति ७ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

५ पञ्चम काण्ड

८	,, ,,	२	,,	१६
९	,, ,,	४	,,	३६
१०	,, ,,	२	,,	२०
११	,, ,,	६	,,	६६
१२	,, ,,	५	,,	६०
१३	,, ,,	३	,,	३९
१४	,, ,,	३	,,	४२
१५	,, ,,	३	,,	४५
१७	,, ,,	२	,,	३४
१८	,, ,,	१	,,	१८
		३१		३७६

इस पञ्चम काण्डकी कोई विशेष सूक्त संख्याविषयक प्रकृति नहीं है।

६ षष्ठ काण्ड

३	,, ,,	१२२	,,	३६६
४	,, ,,	१२	,,	४८
५	,, ,,	८	,,	४०
		१४२		४५४

इस षष्ठ काण्डकी प्रकृति ३ मंत्रोंके सूक्तोंकी है।

७ सप्तम काण्ड

१	,, ,,	५८	,,	५८
२	,, ,,	२७	,,	५४
३	,, ,,	१०	,,	३०
४	,, ,,	१०	,,	४०
५	,, ,,	३	,,	१५
६	,, ,,	४	,,	२४
७	,, ,,	३	,,	२१
८	,, ,,	३	,,	२४
९	,, ,,	१	,,	९
११	,, ,,	१	,,	११
		१२०		२८६

इस सप्तम काण्डकी प्रकृति १ तथा २ मंत्रोंके सूक्तोंकी है। सात काण्डतक मंत्रसंख्या २०३० होती है। सात काण्डतक ही विशेष मंत्र संख्यावाले सूक्तोंके अनुसार काण्डोंकी रचना हुई है। यह संग्रह विषयवार नहीं है और ना ही ऋषिवार वा देवतावार है। केवल सूक्तमें मन्त्रसंख्या कितनी है उसको देखकर यह संग्रह हुआ है। इसके आगेके काण्ड कुछ अंशमें विषयानुसार या प्रकरणानुसार हैं, ऐसा कह सकते हैं, देखिये—

	मंत्र संख्या	विषय
१ से ७ काण्डतक	२०३०	
८ अष्टम काण्ड	२९३	दीर्घायु। शत्रुनाश। औषधि। विराट्।
९ नवम ,,	३१३	मधु। काम। शाला। वृक्ष। अज। गौ। अतिथिसत्कार। आत्मा। यक्ष्मनाश।
१० दशम ,,	३५०	कृत्यानाश। ब्रह्म। सर्पविषनाश। विजय। गौ।
११ एकादश ,,	३१३	ब्रह्मौदन। रुद्र। प्राण। ब्रह्मचर्य। ब्रह्म। अध्यात्म। शत्रु निवारण।
१२ द्वादश ,,	३०४	मातृभूमि। अग्नि। ओदन। गौ।
१३ त्रयोदश ,,	१८८	अध्यात्म
१४ चतुर्दश ,,	१३९	विवाह
१५ पञ्चदश ,,	२३०	अध्यात्म। व्रात्य
१६ षोडश ,,	१०३	दुःखनाश। विजय प्राप्ति

१७ सप्तदश ,,	३०	अभ्युदय प्रार्थना
१८ अष्टादश ,,	२८३	पितृमेध
१९ एकोनविंशति,,	४५३	(फुटकर अनेक विषय)
२० विंश ,,	९५८	,, ,, ,,
	५९८७	अथर्ववेदकी कुल मन्त्रसंख्या

अष्टम काण्डसे १८ वे काण्डतक कुछ अंशमें प्रकरण दीखते हैं। परन्तु १९ वे और २० वे काण्ड फिर फुटकर हैं। और त्रयोदश, चतुर्दश तथा अष्टादश काण्डमें जैसे स्पष्ट प्रकरण हैं वैसे अन्य काण्डोंमें नहीं हैं। पर थोडे प्रयत्नसे इनके प्रकरण बन सकते हैं। प्रथम सात कांडोंके सूक्त तो केवल संख्याकी दृष्टिसे एकत्रित हुए हैं—

७ सप्तम काण्ड	१ तथा २ मन्त्रोंके सूक्त	बहुसंख्य हैं।	
६ षष्ठ ,,	३	,,	,,
१ प्रथम ,,	४	,,	,,
२ द्वितीय ,,	५	,,	,,
३ तृतीय ,,	६	,,	,,
४ चतुर्थ ,,	७	,,	,,

इस तरह यह गणना सूक्तमें मन्त्रसंख्याके अनुसार है। विषयवार नहीं, देवतावार नहीं और ऋषि अनुसार भी नहीं है। अठारहवें काण्डमें अन्त्येष्टी संस्कारके मन्त्र तथा पितृमेधके मन्त्र हैं। अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहिता यहीं समाप्त होती है। अगले दोनों काण्ड पिप्पलाद संहितामें नहीं है। इस कारण कई समझते हैं कि यहां अथर्ववेद संहिता समाप्त होती है। उन्नीसवां तथा वीसवां ये दो काण्ड पीछेसे संग्रहित हुए हैं ऐसा इस कारण कई मानते हैं। वीसवे काण्डमें प्रायः ऋग्वेदके ही मन्त्र हैं और उन्नीसवें काण्डमें बहुत सूक्त ऐसे हैं कि जो बडे मननीय हैं। इस कारण हम वीस काण्ड तकके संग्रहको ही अथर्ववेदमें संमिलित मानते हैं। अन्तिम दोनों काण्ड शौनकके पूर्व ही इसमें संमिलित हुए हैं। जो शौनकाचार्यने स्वीकारे हैं उनपर हमारा आक्षेप होना योग्य नहीं है। शौनकाचार्यके स्वीकृत होनेके कारण इस अथर्ववेदमें २० काण्ड और ५९८७ मन्त्र मानना सयुक्तिक है।

अथर्ववेदके नाम

अथर्ववेदके (१) अथर्ववेद, (२) ब्रह्मवेद, (३) आंगिरसवेद, (४) भिषग्वेद और (५) क्षत्रवेद ये नाम प्रसिद्ध हैं। पहिले तीन नाम तो अत्यंत प्रसिद्ध हैं। ये पहिले तीनों नाम ऋषियोंके नाम हैं यह विशेष रीतिसे यहां समझना आवश्यक है। अन्तिम दो नाम विषयके अनुसार हैं।

१ अथर्वा	ऋषिके मंत्र	१७६८	हैं
२ ब्रह्मा	,, ,,	९६७	,,
३ अंगिरा	,, ,,	६७०	,,

अंगिराको भृग्वंगिरा भी कहा जाता है। अन्य ऋषियोंके मंत्र संख्यामें कम हैं। जिस ऋषिके मंत्र इस वेदमें संख्यामें अधिक हैं उस ऋषिका नाम इस वेदको दिया है और इस कारण 'अथर्ववेद, ब्रह्मवेद अथवा अंगिरावेद' ये नाम इस वेदको मिले हैं।

व्युत्पत्ति करके हम इन नामोंका अर्थ अथर्ववेदके अनुकूल बता सकते हैं। जैसा पूर्व आचार्योंने किया भी है जैसा—

अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु. दै. ११।२।१७

'थर्वका अर्थ गति है, वह जहां नहीं वह अथर्वा है।' अर्थात् निश्चलता, चित्तवृत्तिका निरोध करनेसे जो मानसिक शान्ति प्राप्त होती है वह अ-थर्व पदसे सूचित होती है। तथा—

अथ अर्वाग् एनं... अन्विच्छेति । तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् ।
गोपथ ब्रा. ११४

'अपने समीप इसकी खोज करो (अथ अर्वाक्) अब पास इसकी खोज करो ऐसा कहनेसे अथर्वा हुआ है।' यह अथर्वाकी व्युत्पत्ति गोपथ ब्राह्मणने दी है। (अथ) अब (अर्वाक्) पास अपनेमें खोज कर यह इसका अर्थ है। बाहर आत्माकी खोज न करते हुए अपनेमें देखो।

अथर्ववेदमें इस विषयके मंत्र भी हैं देखिये—

मूर्धानमस्य संसीव्य, अथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६
तद् वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वोऽनुसृष्टास्तिर्यङ्नुसृष्टाः
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
अथर्व. १०।२।२६–२८

'सिर और हृदयको अथर्वा सीता है और मस्तकके ऊपर प्राणको चलाता है। यह अथर्वाका सिर देवोंका कोश है। प्राण इस सिर मन और अन्नकी रक्षा करता है। ऊपर तिरछा सब ओर यह पुरुष ही है। यह ब्रह्मकी नगरी है, इसमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं।'

इस तरह अथर्वाका वर्णन इसी अथर्ववेदमें है। इस आत्माको अपने अन्दर खोजकर अपने अन्दर देखनेका यह विषय इस रीतिसे इस वेदमें है। इस कारण इस व्युत्पत्तिसे जो अर्थ प्रकट होता है वह अर्थ इस अथर्ववेदमें है इसमें संदेह नहीं है।

ब्रह्मवेद

ब्रह्मवेदका अर्थ ब्रह्मका ज्ञान देनेवाला वेद। इस अथर्ववेदमें स्पष्ट शब्दोंसे ब्रह्मका ज्ञान बताया है इस विषयके प्रमाण मंत्र अब देखिये—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ अथर्व. १०।२

'जो इस ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसके आंख और प्राण वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते। आठचक्र और नौ द्वार इस देवनगरी अयोध्याके हैं और इसके मध्यमें तेजसे आवृत्त सुवर्णका कोश है। इस सुवर्णमय कोशमें जो पूजनीय आत्मदेव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।'

यह ब्रह्मका ज्ञान इस वेदमें होनेसे इसका नाम ब्रह्मवेद सार्थ है। गोपथ ब्राह्मणमें भी ऐसा ही कहा है—

श्रेष्ठो हि वेदः, तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥ गोपथ ब्रा० १।९

'यह अथर्ववेद श्रेष्ठ वेद है, तपसे यह ब्रह्मज्ञानीयोंके हृदयमें प्रकट हुआ है।' इस कारण इसको 'ब्रह्मवेद' नाम सार्थ है।

आंगिरसवेद। भिषग्वेद।

इस अथर्ववेदको 'आंगिरसवेद' तथा 'भृग्वंगिरोवेद' तथा 'भिषग्वेद' भी कहते हैं। इस विषयमें गोपथ ब्राह्मणका वचन देखने योग्य है—

एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः।
योंऽगिरसः स रसः। ये अथर्वाणस्तद् भेषजम्।
यद् भेषजं तदमृतं। यदमृतं तद् ब्रह्म।
गोपथ ब्रा० ३।४

'भृग्वंगिरसोंका जो ब्रह्मज्ञान है वह बडा महत्वपूर्ण ज्ञान है। जो अंगरस है वह एक रस ही है। जो अथर्वा है वह औषध है। जो औषध है वह अमृत अर्थात् मृत्युसे बचानेवाला है और जो मृत्युसे बचाता है वही ब्रह्म है।' इस तरहका वर्णन गोपथमें दिया है, वह 'भृग्वंगिरावेद, अंगिरावेद, भिषग्वेद और ब्रह्मवेद' इन नामोंकी संगति बता रहा है।

आंगिरसका स्वरूप

आंगिरसका स्वरूप उपनिषदोंमें इस तरह समझाया है—

आंगिरसं मन्यन्ते, अङ्गानां हि यद् रसः।
छां० १।२।१०

आंगिरसोऽङ्गानाँ हि रसः। बृ० १।३।८
प्राणो हि अंगानां रसः। बृ० १।३।१९

'आंगिरसका अर्थ अंगोंका रस है। प्राण ही अंगोंका रस है।' शरीरमें एक प्रकारका जीवन रस रहता है, उसको अंगरस कहते हैं। इस अंगरसकी जो विद्या है उसका नाम आंगिरसी विद्या है, यही 'आंगिरस वेद' है। इस विषयमें निम्नस्थानमें लिखित मंत्र देखने योग्य है—

आथर्वणीः आंगिरसीः दैवीः मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥
अथर्व. ११।४।१६

'आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी तथा मनुष्यजा औषधि-चिकित्सा तब यशस्वी सिद्ध होती है जब प्राण शरीरमें रहना चाहता है।' यहां आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी तथा मानवी चिकित्साओंका वर्णन है। अथर्वाके मंत्रोंमें वर्णित चिकित्सा आथर्वणी चिकित्सा होगी, अंगीयरससे जो चिकित्सा की जाती है, वह करनेवाले आंगिरस ऋषि कहलाते हैं। दैवी चिकित्सा वह है कि जो अग्नि, जल, सूर्य, विद्युत्, औषधि आदिसे होती है। मनुष्यज चिकित्सा जो मानवोंद्वारा विविध साधनोंसे होती है। यहां इस मंत्रमें चार चिकित्साओंका उल्लेख है। अथर्ववेदके नामोंके विषयमें निम्न स्थानमें दिये वचन मननीय हैं—

१ 'अथर्ववेद' यह नाम गोपथ ब्राह्मणमें दिया है। 'शं नो देवीरभिष्टय' इत्यारभ्य 'अथर्ववेदं अधीयते।' (गो. ब्रा. १।२९) यहां अथर्ववेद नाम आया है।

२ 'ब्रह्मवेद' यह नाम 'तं ऋचः सामानि यजूंषि ब्रह्म च अनुव्यचलन्।' (अथर्व. १५।६।८) इसमें 'ब्रह्म' नाम अथर्ववेदके लिये आया है।

३ शतपथमें 'ता उपदिशति अङ्गिरसो वेद' (श. ब्रा. १३।४।३।८) 'अङ्गिरसवेद' यह नाम अथर्ववेदके लिये आया है।

४ 'सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखं' (अथर्व १०।७।२०) यहां 'अथर्वांगिरसो' वेदपद अथर्ववेदके लिये आया है।

५ 'एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः।' (गो. ब्रा. ३।४) इस गोपथ ब्राह्मणमें 'भृग्वंगिरस' पद अथर्ववेदके लिये आया है।

६ 'ऋच, ... यजुः... साम ... क्षत्रं ... वेद'। (श. ब्रा. ११।६।१४) इस शतपथ ब्राह्मणके वचनमें 'क्षत्र' पद अथर्ववेदका सूचक आया है।

७ 'ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि होत्रा ब्रूम।' (अथर्व. ११।६।१४) में 'भेषजा' पद अथर्ववेदका वाचक है।

अथर्व वेदमें चिकित्साएं हैं इसलिये 'भेषज्यवेद' नाम अथर्ववेदके लिये योग्य है। अथर्ववेदमें युद्ध विद्या है इस कारण 'क्षत्रवेद' यह नाम भी अथर्ववेदके लिये योग्य है। इस तरह अथर्ववेदके नाम हैं। ये सब अंशतः सार्थ हैं। अंशतः सार्थ कहनेका कारण यह है कि ये नाम अथर्ववेदके अंशके हैं, परंतु वे संपूर्णके लिये प्रयुक्त हुए हैं। अब हम देखेंगे कि अथर्ववेदमें सूक्तोंके विषय कैसे हैं।

सूक्तोंके विषय

१ प्रथम काण्ड- १ मेधाजनन, २ रोगोपशमन, ३ मूत्रमोचन, ४-६ आपः, ७-८ यातुधाननाशन, ९ विजय प्रार्थना, १० पाशविमोचन, ११ सुख प्रसूति, १२ यक्ष्मनाशन, १३ विद्युद्, १४ कुलपा कन्या, १५ पुष्टिकर्म, १६ शत्रुबाधन, १७ धमनी बंधन, १८ अलक्ष्मी नाशन, १९-२१ शत्रुनिवारण, २२ हृद्रोगकामिलानाशन, २३-२४ श्वेतकुष्ठनाशन, २५ ज्वरनाशन, २६ शर्मप्राप्ति, २७ स्वस्त्ययन, २८ रक्षोघ्न, २९ सपत्नीक्षयण, ३० दीर्घायु, ३१ पापमोचन, ३२ महद्ब्रह्म, ३३ आपः, ३४ मधुविद्या, ३५ दीर्घायु।

२ द्वितीय काण्ड- १ परमधाम, २ भुवनपति, ३ आस्रावभेषज, ४ दीर्घायु, ५ इन्द्र, ६ सपत्नहा, ७ शापमोचन, ८ क्षत्रियरोगनाशन, ९ दीर्घायु, १० पाशमोचन, ११ श्रेयःप्राप्ति, १२ शत्रुनाशन, १३ दीर्घायु, १४ दस्युनाशन, १५ अभयप्राप्ति, १६ सुरक्षा, १७ बलप्राप्ति, १८-२४ शत्रुनाशन, २५ पृश्निपर्णी, २६ पशु संवर्धन, २७ शत्रुपराजय, २८-२९ दीर्घायु, ३० मनः, ३१-३२ क्रिमिजम्भन, ३३ यक्ष्मनाशन, ३४ पशु, ३५ विश्वकर्मा, ३६ पतिवेदनम्।

३ तृतीय काण्ड— १-२ शत्रुसेना संमोहन, ३ स्वराज्ये राज्ञः पुनः स्थापनं, ४ प्रजाभी राज्ञः संवरणं, ५ राजा राजकृतश्च, ६ शत्रुनाशन, ७ यक्ष्मनाशन, ८ राष्ट्रधारण, ९ दुःखनाशन, १० रायस्पोषप्राप्तिः, ११ दीर्घायु, १२ शाला, १३ आपः, १४ गोष्ठः, १५ वाणिज्य, १६ स्वस्ति, १७ कृषि, १८ वनस्पति; १९ क्षत्रं, २० रयिसंवर्धन, २१ शान्ति, २२ वर्चः प्राप्ति, २३ वीरप्रसूति, २४ समृद्धि, २५ कामस्य इषुः, २६ आत्मरक्षा, २७ शत्रुनिवारण, २८ पशुपोषण, २९ अवि, ३० सांमनस्य, ३१ यक्ष्मनाशन।

४ चतुर्थ काण्ड— १ ब्रह्म, २ आत्मा, ३ शत्रुनाशन, ४ वाजीकरण, ५ स्वापन, ६-७ विषघ्न, ८ राज्याभिषेक, ९ आञ्जन, १० शंखमणि, ११ अनड्वान्, १२ रोहिणी, १३ रोगनिवारण, १४ स्वर्ज्योति, १५ वृष्टि, १६ सत्यानृतसमीक्षक, १७-१९ अपामार्ग, २० पिशाचक्षयण, २१ गावः, २२ अमित्रक्षय, २३-२९ पापमोचन, ३० राष्ट्री, ३१ सेना निरीक्षण, ३२ सेना संयोजन, ३३ पापनाशन, ३४ ब्रह्मौदन, ३५ मृत्युसंतरण, ३६ सत्यौजा अग्नि, ३७ क्रिमिनाशन, ३८ वृषभ, ३९ संनति, ४० शत्रुनाशन।

५ पंचम काण्ड— १ अमृतासु, २ भुवनज्येष्ठ, ३ विजय, ४ कुष्ठनाशन, ५ लाक्षा, ६ ब्रह्मविद्या, ७-८ शत्रुनाश, ९-१० आत्मा, ११ संपत्कर्म, १२ ऋतयज्ञ, १३ सर्पविषनाश, १४ कृत्यापरिहरण, १५ मधुला वनस्पति, रोगनाश, १६ वृषरोगनाश, १७ ब्रह्मजाया, १८-१९ ब्रह्मगवी, २०-२१ शत्रुसेनात्रासन, २२ तक्मनाशन, २३ क्रिमिघ्न, २४ ब्रह्मकर्म, २५ गर्भाधान, २६ नवशाला, २७ अग्निः, २८ दीर्घायुः, २९ रक्षोघ्न, ३० दीर्घायु, ३१ कृत्यापरिहरण।

यहांतक हमने पांच काण्डोंके विषय सूक्तक्रमसे दिये हैं। देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि, ये सूक्त विषयानुसार नहीं हैं। यदि ये सब सूक्त विषयानुसार रखे जांयगे, तो इनका अध्ययन अत्यंत सहज हो सकेगा। विना कष्टके ये सूक्त समझमें आ सकते हैं।

विषयानुसार सूक्तसंग्रह

इस कारण विषयानुसार सूक्तोंका संग्रह करना चाहिये। पिप्पलाद संहिता तथा शौनक संहिता ये दो अथर्ववेदके प्रवाह हैं। दोनोंके अन्दर सूक्तोंमें थोडासा अन्तर है। इस लिये दोनोंके सूक्त विषयवार संग्रहित किये जांय तो वेदका अध्ययन सहज हो सकेगा। आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, राज्यशासन, युद्ध, सैन्यसंचालन, रोगचिकित्सा, औषधप्रयोग आदि जितने विषय हैं उतने विषयोंके नीचे सूक्तोंका संग्रह करनेसे वेदका अध्ययन सहज हो सकेगा, और थोडे समयमें भी हो सकेगा। ऊपर जो सूक्तोंके शीर्षक दिये हैं, उनको देखनेसे ऐसा विषयवार सूक्तसंग्रह करना कोई कठीन नहीं है, परंतु उपयोगकी दृष्टीसे अधिक लाभकारी है यह सहज ही ध्यानमें आ सकता है। ऊपर जो नाम अथर्ववेदके दिये हैं वे अथर्ववेदके मुख्य प्रकरण हैं ऐसा माना जा सकता है। 'क्षत्रवेद' में सेना युद्धशास्त्र आदि विषय आ जांयगे, 'भिषग्वेद' में औषधि, चिकित्सा आदि विषय आ जांयगे, इस तरह यह विषयवार सूक्तसंग्रह किया जाय तो ५ वर्षोंका अध्ययन एक दो वर्षोंमें सहज हो सकेगा। यह इस तरह अथर्ववेदका विचार हुआ अब हम ऋग्वेदका विचार करते हैं—

ऋग्वेदका विचार

ऋग्वेदकी (१) शाकल संहिता, (२) वाष्कल संहिता और (३) सांख्यायन संहिता ऐसी तीन संहिताएं इस समय उपलब्ध हैं। शाकल संहितामें यथा स्थान परिशिष्ट जोड देनेसे सांख्यायन संहिता होती है। बाष्कल संहिताका पाठ भी थोडी न्यूनाधिकतासे ऐसा ही है। ये पाठ हमने अपनी ऋग्वेद संहितामें दिये हैं।

ऋग्वेद संहिता दस मंडलोंमें विभक्त है। आठ अष्टकोंकी गणना भी दूसरी है। मण्डलोंकी गणना ऋषिवार है, केवल नवममण्डल सोमदेवताका है। बाकी नौ मण्डल ऋषिक्रमसे संहिता है। अष्टकोंकी गणनामें कुछ विशेष हेतु नहीं है। कुल संहिता ६४ अध्यायोंमें विभक्त करके आठ आठ अध्यायोंके आठ अष्टक बनाये हैं। न ऋषिवार यह गणना है और नाही देवतावार है।

मण्डलोंकी गणना इससे अच्छी है। नवम मण्डल केवल सोम देवताके मन्त्रोंका संग्रह करके बनाया है। बाकी सब नौ मण्डल ऋषिक्रमसे संग्रहित हुए हैं। इस कारण ये नौ मण्डल 'आर्षेय संहिता' कही जा सकती है और नवम मण्डलको हम 'दैवत संहिता' कह सकते हैं। यह ऋग्वेदको देखकर पाठकोंको पता लग सकता है कि 'आर्षेय संहिता' किस तरह बनानी चाहिये और 'दैवत संहिता' किस रीतिसे बनानी चाहिये। इस ऋग्वेदने इन दोनों प्रकारके संग्रह करके स्वयं बताया है कि ये दो संग्रह इस तरह होते हैं। और दोनों संग्रह लाभकारी है।

दैवत संहिताका आदर्श
सोम देवताका मंत्रसंग्रह

ऋग्वेदका नवम मण्डल "दैवत संहिता" का एक भाग है। सोम देवताके ११०८ मन्त्र इस मण्डलमें एकत्रित किये हैं। सब मन्त्रोंकी देवता 'पवमान सोम' है और एक एक ऋषिके मन्त्र क्रमशः संग्रहित हैं देखिये—

नवममण्डल (देवता पवमान सोम)– १ मधुच्छन्दा १०; २ मेधातिथि १०; ३ शुनःशेप १०; ४ हिरण्यस्तूप १०; ५–२४ असित १४४; २५ दळहच्युत ६; २६ इध्मवाह ६; २७–२८ नृमेध ६; २९ प्रियमेध; ३० बिन्दु ६; ३१ गोतम ६; ३२ श्यावाश्व ६; ३३–३४ त्रित १२; ३५–३६ प्रभूवसु १२; ३७–३८ रहूगण १२; ३९–४० बृहन्मति १२; ४१–४३ मेध्यातिथि १८; ४४–४६ अयास्य १८; ४७–४९ कवि १८; ५०–५२ उचथ्य १५; ५३–६० अवत्सार ३२; ६१ अमहीयु ३०; ६२ जमदग्नि ३०; ६३ निध्रुवि ३०; ६४ कश्यप ३०; ६५ भृगु ३०; ६६ शतं वैखानसाः ३०; ६७ सप्त ऋषयः ३२; ६८ वत्सप्रि १०; ६९ हिरण्यस्तूप १०; ७० रेणु १०; ७१ ऋषभ ९; ७२ हरिमन्त ९; ७३ पवित्र ९; ७४ कक्षीवान् ९, ७५–७९ कवि २५; ८०–८२ वसु १५; ८३ पवित्र ५; ८४ वाच्य ५; ८५ वेन १२; ८६ अकृष्टा माषा, सिकता, अजा इ० ४८; ८७–८९ उशना २४; ९० वसिष्ठ ६; ९१–९२ कश्यप १२; ९३ नोधा ५; ९४

कण्व ५; ९५ प्रस्कण्व ५; ९६ प्रतर्दन २४; ९७ वसिष्ठो वासिष्ठाश्च ५८; ९८ अंबरीष १२; ९९-१०० रेभसूनू १७; १०१ अग्निगु आदयः १६; १०२ त्रित ८; १०३ द्वित ६; १०४-१०५ पर्वतनारदौ १२; १०६ अग्न्यादयः १४; १०७ सप्तर्षयः २६; १०८ गौरिवीति १६; १०९ अग्नयः २२; ११० त्र्यरुणः १२; १११ अनानत ३; ११२ शिशु ४; ११३-११४ कश्यप १५; (कुल 'पवमान सोम' देवताकी मन्त्रसंख्या ११०८)

यह नवममण्डल ऋग्वेदका है। यह दैवत संहिता बनी बनायी है। इसी तरह अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके मन्त्र संग्रह हम तैयार कर सकते हैं। हमने ऐसी ही दैवत संहिता चारों वेदोंकी बनाई और मुद्रित भी की जो वेदप्रेमी जनताको बहुत ही पसंद आयी। इसीलिये उसकी दो सहस्र पुस्तकें हाथों हाथ बिक गयी। पुनः द्वितीयवार यह दैवत संहिता छापनी है।

ऋग्वेदके शेष नौ मण्डल 'आर्षेय संहिता' है। ऋषि क्रमसे जो मन्त्रसंग्रह होता है वह आर्षेय संहिता कहलाती है।

आर्षेय संहिता

ऋग्वेदके १-८ तकके आठ मण्डल और दशममण्डल इन नौ मण्डलोंमें ऋषिक्रमसे मन्त्रसंग्रह कैसा है वह अब देखिये—

१ प्रथम मण्डल— १-१० मधुच्छन्दाः; ११ जेता; १२-२३ मेधातिथि; २४-३० शुनःशेप; ३१-३५ हिरण्यस्तूप; ३६-४३ कण्व, ४४-५० प्रस्कण्व; ५१-५७ सव्य, ५८-६४ नोधाः, ६५-७३ पराशर; ७४-९३ गोतम; ९४-९८ कुत्स; ९९ कश्यप; १०० ऋज्राश्व; १०१-११५ कुत्स; ११६-१२६ कक्षीवान्; १२७-१३९ परुच्छेप; १४०-१६४ दीर्घतमाः; १६५-१९१ अगस्त्य इतने ऋषियोंके २००६ मन्त्र प्रथम मण्डलमें हैं।

२ द्वितीय मण्डल— १-४३ सूक्तोंमें गृत्समद ऋषिके ४२९ मन्त्र द्वितीय मण्डलमें है।

३ तृतीय मण्डल— १-६२ सूक्तोंमें विश्वामित्र ऋषिके ६१७ मन्त्र इस तृतीय मण्डलमें हैं।

४ चतुर्थ मण्डल— १-५८ सूक्तोंमें वामदेव ऋषिके ५८९ मन्त्र इस चतुर्थ मण्डलमें हैं।

५ पञ्चम मण्डल— १-८७ सूक्तोंमें अत्रि तथा अत्रिगोत्रके ऋषियोंके ७२७ मन्त्र इस पञ्चम मण्डलमें है।

६ षष्ठ मण्डल— १-७५ सूक्तोंमें भरद्वाजके तथा भरद्वाज गोत्रके ऋषियोंके ७६५ मन्त्र इस षष्ठ मण्डलमें हैं।

७ सप्तम मण्डल— १-१०४ सूक्तोंमें वसिष्ठ ऋषिके ८४१ मन्त्र इस सप्तम मण्डलमें हैं।

८ अष्टम मण्डल— १-१०३ कण्व गोत्रके अनेक ऋषियोंके तथा अत्रि आदि गोत्रोत्पन्न ऋषियोंके १७१६ मन्त्र हैं।

९ नवम मण्डल— सोम देवताके मन्त्रोंका संग्रह है यह इससे पूर्व बताया ही है।

१० दशम मण्डलमें १९१ सूक्त हैं और अनेक गोत्रोंके अनेक ऋषियोंके १७५४ मन्त्र हैं।

एक नवम मण्डल सोम देवताका है। शेष ९ मण्डल ऋषियोंके मण्डल हैं। अतः ऋग्वेद संहिता मुख्यतः आर्षेय संहिता है,' केवल नवम मण्डल ही दैवत संहिता है।

सामवेद संहिता ऋग्वेदसे मन्त्र लेकर तैयार हुई है। यह बात पूर्व स्थानमें बतायी ही है। इस सामवेद संहितामें पूर्वार्ध दैवत संहिता है, उत्तरार्ध वैसा नहीं है। सामवेद संहिता ऋग्वेदके मन्त्रोंका संग्रह होनेसे अर्थ जाननेके समय उसका पृथक् विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ऋग्वेदके मन्त्रोंके अर्थमें सामवेदके मन्त्रोंका अर्थ आ जाता है।

अथर्ववेदके मन्त्रोंकी रचना सूक्तमें मन्त्रसंख्याकी दृष्टिसे प्रथम ७ काण्डोंमें है। इसके आगेके १८ वे काण्डतकके ११ काण्ड कुछ अंशमें विषयवार मन्त्र संग्रहसे बने हैं। फिर अन्तिम उन्नीस और वीस ये दो काण्ड वैसे नहीं हैं।

दैवत संहितासे वेदाध्ययनकी सुविधा

यदि चारों संहिताओंके मन्त्र देवतानुसार संग्रहित किये गये, और उनके देवतानुसार प्रकरण बनाये गये, तो वेदमन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये बडी सरलता हो सकती है। वेदका अध्ययन इस समय एक कठिन समस्यासी बनी है, उसमें इस रीतिसे सीधी गति हो सकती है। और दैवत संहिता कोई नयी चीज हम बनाते हैं ऐसी बात नहीं है,

परन्तु ऋग्वेदका नवम मण्डल, और सामवेद पूर्वार्ध ये दैवत संहिताएं ही हैं। इस आधारपर सब वेद-मन्त्रोंकी हम दैवत संहिता बना सकते हैं।

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये पद्यमय काव्य हैं। इनमें चरणबद्ध मन्त्र रचना है। इनके देवता निश्चित हैं। इसलिये इनका देवतानुसार मन्त्रसंग्रह बनाना कोई कठिन बात नहीं है और वैसा हमने बनाया भी था और मुद्रित भी किया था। अब उसको पुनः संशोधित रूपसे छापना है।

चारों वेदोंका सार्थ अध्ययन करनेके लिये ५।७ वर्ष लगते हैं। पर दैवत संहितानुसार चारों वेदोंका अध्ययन २।३ वर्षोंमें हो सकता है। आजकल लोगोंको अनेकानेक व्यवधान होनेसे समय कम मिलता है। इसलिये दैवत संहितामें जो विषय देखना हो वह झट देख सकते हैं और अपना कार्य कर सकते हैं। ऐसी अनेक सुविधाएं इस दैवत संहिताके प्रकरण बननेसे अनुभवमें आनेवाली हैं। इसलिये इस ओर विद्वान अधिक लक्ष्य दें ऐसी उनके सामने हमारी प्रार्थना है।

यहांतक ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहिताओंका विचार किया। ये तीनों वेद पद्यवेद हैं। इसलिये तीनोंका एकत्रीकरण करना सहज बात है। यजुर्वेदमें जो पद्य मंत्र है उनका समावेश पूर्वोक्त दैवत संहितामें हो सकता है। अब गद्य यजुर्वेदका विचार करना चाहिये।

यजुर्वेदका विचार

यजुर्वेदकी निम्नलिखित संहिताएं इस समय मिलती है–

१ वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता
२ काण्व ,, ,,
३ मैत्रायणी ,, ,,
४ काठक ,, ,,
५ तैत्तिरीय ,, ,,
६ कपिष्ठलकठ ,, ,,

कपिष्ठलकठ यजुर्वेद संहिता संपूर्ण नहीं मिली, इस कारण छापी नहीं। शेष सब संहिताएं स्वाध्यायमण्डल द्वारा छप चुकी हैं।

वाजसनेयी और काण्व ये दो संहिताएं एक जैसी ही हैं। कुछ अध्यायोंमें तथा क्वचित् मंत्रोंमें विभिन्नता है। बाकी क्रम तथा प्रकरण एक जैसे हैं। काण्वसंहितावाले अपनेको 'आद्यशाखी' अथवा 'प्रथमशाखी' कहते हैं अर्थात् उनकी संमतिसे काण्वसंहिता दोनोंमें आदि संहिता है। वाजसनेयी शाखावाले कहते हैं कि सूर्यसे लाया वेद हमारा है। दोनों संहिताएं समान होनेसे इस विवादके होनेपर भी कोई विशेष मतभेदके लिये स्थान नहीं है।

कपिष्ठल कठ संहिता त्रुटित मिलनेके कारण उस विषयमें अधिक लिखना असंभव है मैत्रायणी और काठक ये संहिताएं पूर्वोक्त दोनों संहिताओंके समान ही प्रकरणबद्ध हैं।

तैत्तिरीय यजुर्वेद संहिताको "कृष्ण यजुर्वेद" कहते हैं। और वाजसनेयी तथा काण्वको "शुक्ल यजुर्वेद" कहते हैं। यह शुक्ल यजुर्वेद उत्तर भारत, गुजरात, हिमाचल, नासिक, आदि उत्तर महाराष्ट्रमें प्रचलित है। इनको माध्यंदिन शाखी कहते हैं। उपनयनमें इनकी संध्या मध्यदिनसे प्रारंभ होती है। इनमें यह परंपरा आज भी चालू है।

शुक्ल और कृष्ण यह भेद इस यजुर्वेदमें है। प्रथम जो संहिता प्रचलित थी वह कृष्ण यजुसंहिता अर्थात् तैत्तिरीय संहिता थी। याज्ञवल्क्यका गुरुके साथ कुछ विवाद होनेके कारण याज्ञवल्क्यने उस यजुर्वेदका त्याग करके सूर्यसे शुक्लयजुर्वेद प्राप्त किया। यह कथा प्रसिद्ध है। इस कारण तैत्तिरीय संहिताको कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं और वाजसनेयी संहिताको शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद दक्षिण भारतमें है और उत्तर भारतमें शुक्ल यजुर्वेद है।

कृष्ण यजुर्वेदकी जो संहिता आज मिलती है वह बिलकुल प्रकरणबद्ध नहीं है। पहिले प्रकरणका विषय अन्तिम प्रकरणमें और अन्तिम प्रकरणके मंत्र किसी और स्थानपर हैं। ऐसी गडबड किसी अन्य संहितामें नहीं है।

यह तैत्तिरीय संहिता प्रथम जिस समय यजुर्वेदके रूपमें थी वह मंत्रक्रम कुछ और था और तैत्तिरीय संहिताके रूपमें जिस समय यह संहिता एकत्रित हो गयी, उस समय जो क्रम आज दीखता है वह मंत्रक्रम शुरू हुआ। प्राचीन पाठ कैसा था, उसका निर्णय हम आज भी कर सकते हैं। ऐसा खोजपूर्वक निर्णय गोकर्ण निवासी वेदके प्रकाण्ड विद्वान पं. श्री. देवरात गजानन्द शर्माजीने किया है और मुद्रणके लिये लिखित पुस्तक भी तैयार करके लिखकर रखी है। यह कई वर्षोंके खोजका परिणाम है। आज इस पुस्तकको छापकर प्रसिद्ध होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पर इसका

मुद्रण व्यय १०००० दस हजार रु. होता है। वह कोई धनी देवे तो यह ग्रंथ जनताके सामने आ सकता है। शुद्ध प्रकरणबद्ध अवस्थामें यह यजुर्वेद जनताको प्राप्त हो सकता है। आज इसको तैयार होकर १०।१२ वर्ष हुए, परंतु अब-तक मुद्रणके लिये आवश्यक धनका प्रबंध न हो सकनेके कारण यह ग्रंथ वैसा ही लेखरूपमें पड़ा है।

शेष यजुर्वेद प्रकरणबद्ध हैं इस कारण इनकी परस्पर तुलना की जा सकती है। वाजसनेयी यजुर्वेदमें क्रमशः ये प्रकरण है—

वाजसनेयी यजुर्वेदके प्रकरण

१	अध्याय	— दर्शपूर्णमास यज्ञ
२	,,	— अग्न्याधान, पितृयज्ञ
३	,,	— अग्निहोत्र, उपस्थान
४	,,	— अग्निष्टोम यज्ञ
५	,,	— सोम प्रकरण
६	,,	— अग्निषोमीय प्रकरण
७	,,	— ग्रह प्रकरण
८	,,	— द्वादशाह याग, गवामयन
९	,,	— वाजपेय यज्ञ, राजसूय यज्ञ
१०	,,	— सौत्रामणि
११	,,	— अग्निचयन
१२	,,	— उखाप्रकरण
१३	,,	— पुष्कर पर्णोपधान
१४	,,	— तृतीया चिति आदि
१५	,,	— पंचम चिति
१६	,,	— रुद्रदेवता
१७	,,	— चित्यपरिषेकादि
१८	,,	— वसोर्धारादि
१९	,,	— सौत्रामणि
२०	,,	— ,,
२१	,,	— पुरोऽनुवाक याज्य
२२	,,	— अश्वमेध यज्ञ
२३	,,	— ,,
२४	,,	— ,,
२५	,,	— ,,
२६	,,	— ,,
२७	,,	— अग्निचयन
२८	,,	— सौत्रामणि परिशेष
२९	,,	— अश्वमेध ,,
३०	,,	— पुरुषमेध
३१	,,	— ,,
३२	,,	— सर्वमेध
३३	,,	— पुरोरुक्
३४	,,	— ब्रह्मयज्ञ
३५	,,	— पितृमेध
३६	,,	— शान्ति
३७	,,	— प्रावर्ग्य, महावीर निर्माण
३८	,,	— घर्म
३९	,,	— ,,
४०	,,	— आत्मोपनिषद्

यहां क्रमशः इस यजुर्वेदमें यज्ञ प्रकरण किस तरह हैं यह बताया है। काण्व संहितामें अध्यायसंख्यामें कुछ न्यूनाधिक है। अन्य संहिताओंमें भी ऐसा ही क्रम है। यह सब व्यवस्था यज्ञके लिये जैसी चाहिये वैसी की गयी है। अन्य सब वेदकी संहिताओंमें भी यज्ञके कर्मानुसार विभाग किये गये हैं। यज्ञकी दृष्टिसे यह व्यवस्था योग्य है। पर इस वेदमें अन्य व्यवस्थाएं जो हैं उनको भी देखना चाहते हैं। इस कारण हमें मंत्रोंके क्रममें बदल करना आवश्यक पड रहा है।

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्रोंके देवता क्रमानु-सार तथा जहां होंगे वहां विषयक्रमानुसार भी मंत्रोंका संग्रह करना अत्यंत आवश्यक है। वेदकी उपयोगिताकी दृष्टिसे ऐसा करना अत्यंत योग्य तथा आवश्यक भी है। यह तो पद्यमय तीनों वेदोंके मंत्रोंके वर्गीकरणके विषयमें हुआ। यजुर्वेदके मंत्रोंका विचार विशेष रीतिसे करना आवश्यक है।

यजुर्वेदमें ४० अध्याय, १९७५ कण्डिकाएं और ३९८८ मंत्र हैं। एक एक कंडिकामें कई मंत्र हैं और प्रत्येक मंत्रका विशेष महत्त्व है। इसलिये इन ३९८८ मंत्रोंके विषयवार प्रकरण बनाने चाहिये। इस समय यज्ञकर्मानुसार प्रकरण हैं वे यज्ञ करनेके समय उपयोगी हैं। अतः जो आजकी यज्ञ विषयक प्रकरण व्यवस्था है उसको वैसी ही रहने देना योग्य है। जो अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करेंगे उनके लिये वह व्यवस्था उपयोगी सिद्ध होगी।

पर हमने तो वेदसे जनताकी शिक्षा, व्यवहार, राज्य-शासन, शत्रुसे युद्धादि व्यवहार करने हैं, सेनारचना, शस्त्र निर्माण, अस्त्र प्रयोग, चिकित्सा आदि करना है। इस कारण इन व्यवहारोंमें हमें वेदका मार्गदर्शन हो इस हेतुसे इन विषयोंके अनुसार मंत्रसंग्रह करनेकी अब आवश्यकता है। वह विषयवार मंत्रसंग्रह बनाना हमें आवश्यक है। वैसा विषयवार मंत्र संग्रह बनाया जाय तो वेद दैनिक कार्यमें प्रयुक्त होता है ऐसा अनुभव पाठकोंको आजायगा और वेदका महत्त्व जनताके सामने प्रकट होगा। आज वेद है पर वह दैनिक कार्यमें प्रयुक्त नहीं है। एक तो सब वेद यज्ञ प्रकरणानुसार होनेसे व्यवहारकी दृष्टिसे उसका कोई उपयोग जनताके सामने नहीं जैसा हुआ है। और हरएक श्रेष्ठ मानवी व्यवहारका आदेश देनेवाले वेद होते हुए वे चारों ओरसे बंद होनेके समान बने हैं। ये यजुर्वेदके मंत्रभाग दैनिक व्यवहार-में कैसे उपयोगी हैं देखिये। इसके उदाहरण हम देते हैं-

यजुर्वेदके सुभाषित

१ आप्यायध्वं (वा. यजु. १।१) - बढते जाओ। संपूर्ण अविकल उन्नति प्राप्त करो। अपना संपूर्ण विकास करो। आप्यायन क्रिया अपना सम विकास बता रही है। अपनी सत्कार्य करनेकी शक्ति पूर्ण विकसित होनी चाहिये। इसमें बाधा नहीं होनी चाहिये।

२ अनमीवाः, अयक्ष्माः (वा. यजु. १।१) - रोगरहित तथा क्षयरहित रहो। 'अमीव' रोगका नाम है। अप-चित अन्नसे जो रोग होते हैं वे 'अमीव' कहलाते हैं। ये न हों। इस कारण अपचन न हो इसकी सावधानी रखो और इन अपचनसे होनेवाले रोगोंसे अपना बचाव करो। यक्ष्म रोग क्षय कहलाता है। इनको भी दूर रखो।

३ स्तेनः वः मा ईशत। अघशंसः वः मा ईशत (वा. यजु १।१) - चोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे, पापी तुम्हारे ऊपर शासन न करे। तुम चोर और पापीके शासनमें न रहो। अपने शासक कैसे हैं इसका विचार करो। और अयोग्य शासकोंका सुधार करनेका उपाय सोचो।

४ कां अधुक्षः ? सा विश्वायुः। सा विश्वकर्मा। सा विश्वधायाः (वा. य. १।५) - किस गौका तुमने दोहन करके किसका दूध पिया है ? तुम्हारी गोशालामें 'दीर्घायु' 'कर्मशक्ति' और 'विश्व धारक शक्ति' ये तीन गौवें हैं ? इनमेंसे किस गौका तुमने दूध पीया है ? क्या तुमने दीर्घायु प्राप्त की ? क्या तुमने कौशल्य पूर्ण कर्म शक्ति बढायी अथवा धारणा शक्ति बढाई ? तुमने क्या किया ? आयुमें तुमने क्या किया ?

५ व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयं, तत् मे राध्यतां। (वा० य० १।५) — मैं नियमोंका पालन कर सकूं, वह मुझे सिद्धि देनेवाला हो। मनुष्य उत्तम नियमोंका पालन करनेमें समर्थ बने।

६ रक्षः प्रत्युष्टं, अरातयः प्रत्युष्टाः (वा० य० १।७) - राक्षस दूर हो गये, दान न देनेवाले दूर हो गये। हमारे समाजमें अब कोई राक्षसी वृत्तीके लोग नहीं रहे, अनुदार या दान न देनेवाले भी कोई हमारे समाजमें रहे नहीं हैं।

७ हंहस्व। माह्वाः। (वा० य० १।९) — तू सुदृढ बन, तू कुटिल न बन। तू शक्ति प्राप्त कर। और अपने स्वभावमें तेढापन न रख।

८ भूताय त्वा। न अरातये। (वा० य० १।११) - प्राणीयोंका हित करनेके लिये तुझे उत्पन्न किया है। शत्रुता करनेके लिये नहीं।

९ प्रोक्षिताः स्थ (वा० य० १।१३) — तुम पवित्र बनकर रहो। अपवित्रताकी ओर कभी न झुको।

१० दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् (वा० य० १।१३) - दिव्य कर्म करनेके लिये पवित्र बनो। पवित्र बनो और दिव्य कर्म करो।

११ इषं ऊर्जं आवद (वा० य० १।१६) — अन्न और बल बढानेके सम्बन्धमें बोल। यदि बोलना है तो अन्न और बल बढे ऐसा बोल। अन्न उत्तम मिले और उससे बल बढे ऐसा वक्तृत्व कर।

१२ शर्म असि (वा० य० १।१९) — तूं सुखस्वरूप हो। तेरा निज स्वरूप सुखमय है। दुःख आगन्तुक और बाहरसे आता है।

१३ मधुमतीः मधुमतीभिः संपृच्यन्तां (वा० य० १।२१) — मीठी भाषा बोलनेवाले मधुरभाषियोंके साथ मिलकर रहें। दोनों शान्ति बढावें।

१४ मा भेः। मा संविक्थाः। (वा० य० १।२३) - मत डर। मत पीछे हट। सत्कर्म करनेसे पीछे न हट। न डरता हुआ शुभ कर्म करके आगे बढ।

१५ सुक्ष्मा शिवा स्योना सुषदा ऊर्जस्वती पयस्वती असि (वा० य० १।२७)– मातृभूमी सुख देनेवाली, कल्याण करनेवाली, हित करनेवाली, उत्तम स्थान देनेवाली, बल बढानेवाली, खानपान देनेवाली हैं। यह जानकर मातृभूमिकी उपासना लोग करें और आनन्दसे अपनी मातृभूमिमें रहें।

१६ तेजः असि । शुक्रं असि । अमृतं असि (वा० य० १।३१)– तू तेजस्वी बलवान तथा अमर आत्मस्वरूपसे हो।

इस तरह वा० यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके कुछ वाक्य यहां दिये हैं। ये वचन प्रतिदिन मननपूर्वक पढने योग्य हैं। ये पढे न जानेसे हानि हो रही है। यदि ऐसे वचन अर्थके साथ छपे मिलेंगे, तो लोग पढेंगे और उससे वैदिक धर्म जीवनस्तरमें उतरेगा। यजुर्वेदमें ऐसे वचन करीब चार हजार हैं। अन्य यजुर्वेद संहिताओंमें भी दो सहस्र वचन ऐसे ही उपदेश देनेवाले मिल सकते हैं।

विषयानुसार इनको छांटकर अर्थके साथ जनताके सामने ये वचन आजांयगे तो कितना अच्छा होगा ?

यजुर्वेदके अनुषङ्ग

आजतक अनुषङ्ग सहित यजुर्वेद किसीने छापा नहीं वैसा छापना चाहिये। हमने इस समय तैत्तिरीय संहिता यजुर्वेदकी अनुषङ्ग समेत छापी है और वैसी वाजसनेयी संहिता अनुषङ्ग समेत छापनेकी तैयारी चल रही है।

यह अनुषङ्ग क्या है यह यहां हम बताते हैं। ग्रन्थका विस्तार न हो इसलिये यजुर्वेदके मन्त्र पुनः पुनः मन्त्रभागका उच्चारण छोडकर यजुर्वेदकी कंडिकाएं संक्षिप्त की हैं। कहांका कितना मन्त्र भाग कहां लेना, इसको अनुषङ्ग कहते हैं। इसका एक उदाहरण हम यहां देते हैं—

विभूरसि प्रवाहणो०-वह्निरसि हव्यवाहनः० ।
वा० यजु० ५।३१

इस कण्डिकामें कई ऐसे मन्त्रके टुकडे हैं और प्रत्येक मन्त्रके टुकडेके साथ ' रौद्रेणानीकेन पात, माग्नयः पिपृत, माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट । वा० यजु० ५।३४ यह मन्त्र भाग प्रत्येक मन्त्र खण्डके साथ जोडकर अर्थ समझना चाहिये। १२।१३ वार यह मन्त्र भाग संहितामें दिया नहीं होता। आगेसे या पीछेसे यह लेना होता है। जहां जो अनुषङ्ग लेना है उसका निर्देश यजुर्वेदकी टिप्पणीमें करना योग्य है। वैसा यजुर्वेद आजतक किसीने छापा नहीं। अर्थ करनेवालोंने भी इसका विचार किया नहीं है। जब इस अनुषङ्गके साथ यजुर्वेद छापा जायगा, तब वह अधिक सुबोध होगा। किस मन्त्र भागका किस मन्त्रभागसे सम्बन्ध है यह जाननेके विना न ठीक अर्थ हो सकता है न यज्ञ कर्म ठीक हो सकता है। यजुर्वेद अनेकोंने अनेकवार छापे, पर अनुषङ्ग बताये नहीं। यह दोष हम भविष्यमें दूर करना चाहते हैं।

अन्य वेदोंके सुभाषित

ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके पादबद्ध मंत्रोंमें अनेक सुभाषित हैं। उक्त तीनों वेदोंकी सब उपलब्ध संहिताओंमें सब मिलकर २०००० से अधिक सुभाषित हैं। इनका विषयवार संग्रह किया जाय तो दैनिक व्यवहारके तथा दैनिक पाठके लिये वह एक अत्यंत उपयोगी संग्रह हो सकता है। जो वेदपाठ नहीं कर सकते वे भी इसका पाठ करेंगे ऐसा यह संग्रह बोधप्रद तथा सुखसे समझने योग्य ग्रंथ होगा। इसके बनानेके लिये अवश्य बडी मेहनत करनी पडेगी और इसके लिये व्यय भी करना पडेगा। क्योंकि ऐसा परम उपयोगी संग्रह विना व्ययके तैयार होगा ऐसी बात नहीं है। अतः इसके लिये जो आवश्यक व्यय हो वह करना चाहिये और जितना सस्ता दिया जाय उतना देनेका प्रबंध करना आवश्यक है। हम यहां कुछ वैदिक सुभाषितोंके नमूने देते हैं, जिससे इस संग्रहकी कल्पना पाठक कर सकते हैं—

दांतोंकी शुद्धता

स शुचिदन् भूरिचित् अन्ना सद्यः समत्ति ।
ऋ० ७।४।२

' वह उत्तम शुद्ध दंतवाला बहुत अन्न खाता है।' यहां दांत शुद्ध रखनेका बोध है वह महत्त्वपूर्ण उपदेश है। दांत स्वच्छ न रहे तो अनेक रोग होते हैं इसलिये ' अ-शोणां दन्ताः ' (अ. १९।६०।१) दांत स्वच्छ रहने चाहिये ऐसा कहा है।

अज्ञानकी निन्दा और ज्ञानीकी प्रशंसा

अचेतनस्य पथः मा विदुक्षः । ऋ. ७।४।७

' अज्ञानीके मार्गसे हम न जांय।' अथवा कोई अज्ञानीके मार्गसे न जाय। तथा--

चिकित्वांसः अचेतसं अनिमिषा नयन्ति ।
ऋ. ७।६०।७

' ज्ञानी लोग अज्ञानीको योग्य मार्गसे आंखें खोलकर ले जाते हैं ।' अज्ञानी लोग यदि ज्ञानीकी संगतिमें रहने लगे तो वे सुधरते हैं । ज्ञानी उनकी सहायता करते हैं और उनको उत्तम मार्गसे चलाते हैं और उन्नतिकी ओर ले जाते हैं ।

अयंः देवः अचितः अचेतयत् । ऋ. ७।८६।७

' श्रेष्ठ ज्ञानी अज्ञानीको ज्ञानवान् बनाता है । ' और देखो—

अचितः परा शृणीत । ऋ० ७।१०४।१

' अज्ञानियोंको दूर करो ' अर्थात् अपने समाजमें अज्ञानी न रहें ऐसा करो । सबको ज्ञानी बना दो ।

सन्मार्गसे चलो

साधिष्ठेभिः पथिभिः प्र नयन्तु । ऋ. ७।६४।३

' उत्तम साधनोंसे युक्त मार्गसे हमें ले चलें । ' अर्थात् मार्ग ऐसे हों कि जो सुखकर हों और ठीक उन्नतितक पहुंचानेवाले हों ।

उत्तम बुद्धि प्राप्त करो

प्रशस्तां धियं पनयन्तः । ऋ. ७।१।१०
शुक्रा मनीषा देवी । ऋ. ७।३४।१
देवीं धियं अभिदधिध्वं । ७।३४।९

' प्रशस्त बुद्धिकी प्रशंसा करो ; बल बढानेवाली दिव्य बुद्धिका धारण करो । दिव्य गुणवाली बुद्धिको धारण करो । ' इस तरह उत्तम बुद्धिको धारण करनेके विषयमें कहा है ।

शरीरका संवर्धन कर

अपने शरीरका संवर्धन करनेके विषयमें अच्छे आदेश हैं देखिये—

स्वयं तन्वं वर्धस्व । ऋ० ७।८।५
ऊर्जः न–पात् । ऋ० ७।१६।१

' अपने शरीरको बढाओ । बलको न गिरानेवाला बनो । ' अपने शरीरकी उन्नति करना प्रत्येकका धर्म है । यह आवश्यक कर्तव्य है ।

अपना घर हो

अपना निज घर हो इस विषयमें ये वचन देखिये—

नृणां मा निषदाम । ऋ० ७।१।११
स्वे दुरोणे समिद्ध दीदाय । ऋ० ७।१२।१
शुने मा निषदाम । ऋ० ७।१।११

' दूसरेके घरमें हम न रहें । अपने घरमें तेजस्वी बनकर हम रहें । शून्य घरमें अर्थात् जिसमें कोई रहते नहीं ऐसे शून्य स्थानमें हम न रहें ।

अहं मृन्मयं गृहं मो गमं सु । ऋ० ७।८९।१

' हम मिट्टीके घरमें न रहें । ' अर्थात् हमें रहनेके लिये उत्तम पक्का घर मिले ।

इस प्रकार सहस्रों सुभाषित हैं जो दैनिक व्यवहारका बोध देते हैं । अतः इन वचनोंका विषयानुसार संग्रह होगा तो वह देखकर हरएक मनुष्य वेदके ज्ञानसे परिचित होगा और वेदके धर्मको अपने दैनंदिन जीवनमें हरएक पाठक ला सकेगा ।

यहांतक हमने चारों वेदोंकी व्यवस्था वेदको दैनंदिनके व्यवहारमें लानेके लिये कैसी करनी चाहिये यह बताया है । पाठक इसका मनन करें और वेदको मानवके दैनिक दिव्य धर्मके आचरणका ग्रन्थ बनावे ।

हरएक मनुष्य कृतकृत्य बननेके लिये जो अनुष्ठान करना आवश्यक है, वह इस संग्रह ग्रन्थसे मनुष्य जान सकते हैं । इस कारण यह संग्रह ग्रन्थ शीघ्र बने ऐसा यत्न करना विद्वानोंका कर्तव्य है ।

विद्वान् इसे बनावे, धनिक इसके लिये व्यय करें । ऐसा यह संग्रह ग्रन्थ अतिशीघ्र प्रकाशित किया जावे ।

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी. ए,. भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

वैदिक व्याख्यान माला — ३० वाँ व्याख्यान

वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (सूरत)

मूल्य छः आने

ॐ

वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था

वैदिक समयके आर्योंमें हम देखते हैं कि उनमें राज्य-शासनके कई प्रकार वर्णन किये हैं, देखिये—

साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् ॥ ऐ० ब्रा०

(१) साम्राज्य, (२) भौज्य, (३) स्वराज्य, (४) वैराज्य, (५) पारमेष्ठ्य राज्य, (६) महाराज्य, (७) आधिपत्यमय, (८) सामन्तपर्यायी, (९) राज्य ऐसे नाम ऐतरेय ब्राह्मणमें आ गये हैं। इन शासनोंमें क्या भेद है इसका विचार हम यहां करना नहीं चाहते, पर इतने शासनोंके प्रकार वैदिक समयमें थे इसमें संदेह नहीं है। और जिस कारण इतने विभिन्न नामके शासन थे, उसी कारण इस प्रत्येकमें कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य ही होगी, नहीं तो भिन्न भिन्न नाम रखनेका प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण इतने विभिन्न शासन उस समय थे ऐसा ही मानना उचित है। और भी कुछ राज्यशासनोंके नाम आये हैं। जैसा— (१०) जानराज्य, (११) विप्रराज्य, (१२) समर्यराज्य इत्यादि।

इतने विविध प्रकारके अनेक राज्य होनेके कारण शासन-व्यवस्थाके लिये आधार जो सैन्यकी व्यवस्था है, वह तो होनी ही चाहिये। यदि राज्यमें सैन्य न रहा, तो राज्य टिकेगा कैसे ? शत्रुका आक्रमण होनेपर सेनासे ही शत्रुका पराभव किया जा सकता है। सैन्य न रहा तो परास्त होना पडेगा, और परास्त होनेपर न तो स्थानपर स्वराज्य रहेगा और न साम्राज्य। इसलिये हमें यहां देखना है कि वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्थामें सैन्यकी व्यवस्था थी या नहीं थी, और थी तो कैसी थी।

राज्यशासनमें अनेक प्रकारकी शासनतंत्रकी व्यवस्थाएं होती हैं, आन्तरिक शासन, करव्यवस्था, न्यायप्रदानकी व्यवस्था, ग्रामव्यवस्था आदि अनेक प्रकारकी व्यवस्थाएं होती ही हैं। पर हम इन सब व्यवस्थाओंका विचार यहां नहीं करेंगे। हम यहां केवल "सेनाकी व्यवस्था" कैसी थी इसीका विचार करेंगे।

सेनाकी आवश्यकता

शूरा इव इत् युयुधयः न जग्मयः
श्रवस्यवः न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः
राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ऋ. १।८५।८

(शूरा इव) शूरोंके समान युद्ध करनेवाले, (युयुधयः न जग्मयः) योद्धाओंके समान शत्रूपर आक्रमण करनेवाले, (श्रवस्यवः न पृतनासु येतिरे) यश प्राप्त करनेवाले वीरोंके समान सैन्योंमें पुरुषार्थका प्रयत्न करते हैं। इन वीरोंको देखकर (विश्वा भुवनानि भयन्ते) सब भुवन, सब प्राणी भयभीत होते हैं, ये (राजान इव) राजाओंके समान (त्वेष-संदृशः) तेजस्वी दीखते हैं।

इस मंत्रमें सैन्यवाचक 'पृतना' यह शब्द है। ये वीर सेनामें रहते हैं और वीरताके कार्य करते हैं। यहां वीर-पुरुषोंकी सेना होती है ऐसा कहा है तथा—

सं यद् हनन्त मन्युभिर्जनासः।
शूरा यह्वीष्वोषधीषु विक्षु।
अध स्मा नो मरुतो रुद्रियासः
त्रातारो भूत पृतनास्वर्यः ॥ ऋ. ७।५६।२२

हे महावीर श्रेष्ठ वीरो ! जब तुम्हारे (शूरा जनासः) शूर पुरुष (यह्वीषु) नदियोंमें (ओषधीषु) झाडियोंमें अथवा (विक्षु) प्रजाजनोंमें रहकर (मन्युभिः) उत्साहसे शत्रुपर (सं हनन्त) मिलकर हमला करते हैं उस समय (पृतनासु) सेनाविभागोंमें रहनेवाले तुम सब वीर (नः त्रातारः भूत) हमारा संरक्षण करनेवाले बनो।

इस मंत्र ' पृतना ' पद सेना पथकोंका वाचक है और ये वीर इन सेना पथकोंमें रहकर संघसे शत्रुपर आक्रमण करते हैं और शत्रुका नाश करते हैं ऐसा कहा है। यह वैयक्तिक युद्ध नहीं है पर सेनाके पथकोंका संघ युद्ध है। व्यक्तिशः युद्ध करना और बात है और संघशः हमला करना और बात है। इस मंत्रमें ' सं हनन्त ' मिलकर एक होकर शत्रुपर आक्रण करनेका भाव स्पष्ट है। सेना है और सेनाके सब वीरोंका इकट्ठा शत्रुपर हमला होनेकी कल्पना जो इस मंत्रमें है वह विशेष देखनेयोग्य है। तथा—

मरुद्भिः उग्रः पृतनासु साळ्हा
मरुद्भिः उग्रः इत् सनिता वाजमर्वा ॥ ऋ. ७।५६।२३

(मरुद्भिः) वीरोंके साथ रहनेवाला वीर (पृतनासु) सेनाओंमें (उग्रः) शूरवीर होता है और (साळ्हा) शत्रुका पराभव करनेवाला भी होता है। सेनाके साथ रहनेसे साधारण मनुष्य भी उग्र शूरवीर बनता है और, शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ होता है। अनुशासनमें रहनेका यह प्रभाव है। सेनाकी शिक्षासे ऐसा प्रभाव होता है यह वैदिक राष्ट्रवादियोंको ज्ञात था। अनुशासनयुक्त सेनाका महत्त्व वे जानते थे यह इससे सिद्ध होता है। तथा—

नहि व ऊतिः पृतनासु मर्धति
यस्मा अराध्वं नरः ॥ ऋ. ७।५९।४

हे (नरः) नेता वीरो ! (यस्मै अराध्वं) जिसके लिये तुम सहायक होते हैं उसके लिये (वः ऊती) आपकी संरक्षणकी शक्ति (पृतनासु नहि मर्धति) सेनाओंमें रहनेके कारण कम नहीं होती। संघमें रहनेसे मनुष्यकी शक्ति बढती है। सेनाका यह लाभ वेदमंत्रोंमें स्पष्ट किया गया है। तथा और देखिये—

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वत्
मारुतं शर्धः पृतनासु उग्रम् ॥ अथर्व. ४।२७।७

(तिग्मं) प्रखर (सहस्वत्) शत्रुका पराभव करनेवाला तुम्हारा (अनीकं विदितं) सेनाका प्रभाव सबको विदित है। वह (मारुतं शर्धः) वीरोंका बल (पृतनासु उग्रं) सेनाओंमें अथवा सेनाओंके संघर्षोंमें बडा उग्र दीखता है।

इस मंत्रमें ' अनीकं ' तथा ' पृतना ' ये दो पद वीरोंकी सेनाके वाचक हैं। सेनामें वीरोंका बल बढ जाता है यह बात इन मंत्रोंसे स्पष्ट हो जाती है। अकेला अकेला वीर पृथक् पृथक् रहकर जितना पराक्रम कर सकता है, उससे अत्यंत अधिक वीरता वही वीर सेनाविभागके साथ रहकर बता सकता है यह इसका तात्पर्य है।

अनीक = सेनापथक

इस विषयके ये मंत्र देखिये, इनमें सेनाके पथकोंका प्रभाव वर्णन किया है—

असूत पृश्निर्महते रणाय
त्वेषमयासां मरुतामनीकम् ।
ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वं
आदित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ॥

ऋ. १।१६८।९

(पृश्निः) मातृभूमिने (महते रणाय) बडे युद्धके लिये (अयासां मरुतां) शत्रुपर हमला करनेवाले सैनिकोंका (त्वेषं अनीकं) तेजस्वी सेनापथक (असूत) निर्माण किया है। (ते) वे सैनिक (सप्-सरासः) संघ करके हमला करनेवाले वीर (अभ्वं अजनयन्त) बडा सामर्थ्य प्रकट करते हैं और (इषिरां स्व-धां) अन्न देनेवाली स्वकीय धारक शक्तिको उन्होंने (आत् इत् पर्यपश्यन्), सर्वत्र देखा। सर्वत्र अपनी शक्ति कार्य कर रही है ऐसा उन्होंने देखा।

यहां ' अनीक ' पद सेनावाचक है और इस तरह सेनापथकोंमें रहनेवाले वीर कैसा विलक्षण सामर्थ्य प्रकट करते हैं यह भी इस मंत्रने बताया है। तथा—

अनीकेषु अधि श्रियः। ऋ. ८।२०।१२

' सेनापथकोंमें ये वीर विजयश्री प्राप्त करते हैं।' सेनाके पथकोंमें रहनेवाले और कार्य करनेवाले वीर अधिक वीरता बताते हैं यह इसका तात्पर्य है।

इस तरह सेना, सैन्य, सेनापथक आदिके वाचक पद वेदमंत्रोंमें हैं। राज्यशासनके अनेक प्रकार थे, राज्य

संरक्षणके लिये सेना थी, तथा सेनामें रहनेवाले सैनिक विशेष शूरता प्रकट करते थे आदि वर्णन देखनेसे अत्यंत स्पष्टतासे यह प्रकट होता है कि वैदिक समयमें सेना-रचनाकी अच्छी कल्पना व्यवहारमें आ गयी थी।

सेनाकी कल्पना

प्रथम हम देखेंगे कि वेदमें 'सेनाकी कल्पना' है या नहीं? तो हमें वेदमें सेनाकी कल्पना है ऐसा स्पष्ट दीखता है, देखिये—

> असौ या सेना मरुतः परेषां
> अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
> तां विध्यत तमसाऽपव्रतेन
> यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। अथर्व ३।२।६

"हे मरुतो! यह जो शत्रुकी सेना बडे जोरसे स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आक्रमण करके आ रही है, उस सेनाको अपव्रत-तमसास्त्रसे वींधो और उस शत्रुसेनामेंसे एक वीर दूसरेको पहचान न सके ऐसा करो।"

यहां शत्रुकी सेना है, हमारी सेना है। शत्रुकी सेना बडे जोरसे हमारे ऊपर आक्रमण करके आ रही है, उस शत्रुकी सेनाको अपव्रत तमसास्त्रसे वींधना और उस शत्रुसेनामें ऐसी खिलबिली मचाना कि उनमेंसे एक भी सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके।

इस वर्णनमें स्पष्ट अपनी सेना, शत्रुकी सेना, उनका परस्पर आक्रमण और तमसास्त्रका प्रयोग और उससे शत्रुसेनामें गडबड मचाना आदि बातें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समयके राष्ट्रशासनके प्रबंधमें सेनाका प्रबंध अच्छा था।

अपव्रत तमसास्त्र

अपव्रत-तमसास्त्र एक अस्त्र है कि जो शत्रुसेनापर फेंकनेसे उनमें ऐसी गडबडी मचा जाती है कि जिससे एक सैनिक दूसरेको नहीं पहचान सकता। 'तमसास्त्र या धूम्रास्त्र' ही एक प्रकारका अस्त्र है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है कि शस्त्रअस्त्रसे सुसज्जित अपनी सेना रखनी चाहिये। शत्रुसेनाकी अपेक्षा अपनी सेना अधिक सुसज्जित रहनी चाहिये। और देखिये—

> इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतः घ्नन्तु ओजसा।
> चक्षुंष्यग्निरादत्तां पुनरेतु पराजिता॥ अथर्व. ३।१।६

*

"इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहित करे, शत्रुकी सेना मोहित होनेपर उसका वध मरुत करें, शत्रुकी सेनाकी दृष्टि अग्नि दूर करे, फिर वह शत्रुकी सेना पराजित होती हुई वापस फिरे।"

इस तरह शत्रुसेनाको मोहित करना, पश्चात् उसकी कतल करना, शत्रुसेनाको कुछ भी न दीखे ऐसा करना और इस तरह कुण्ठित गति करके शत्रुसेनाका पूर्ण पराजय करना इस मंत्रमें लिखा है। यहां युद्ध करनेकी युक्तियां भी हैं। इस कारण वैदिक समयमें सैन्य थे, सैनिकोंका संचालन भी था। युद्धकी नाना युक्तियां भी थीं, और उनके प्रयोगसे शत्रुका पराजय करनेका साहस भी था। तथा—

> सेनजिच्च सुषेणश्च।
> अन्तिमित्रश्च दूरेऽमित्रश्च गणः॥
> वा. यजु.।१७।८२

'शत्रुकी सेनाका पराभव करनेवाला, उत्तम सेना अपने-पास रखनेवाला, अपने मित्रोंको समीप रखनेवाला और अपने शत्रुको दूर रखनेवाला। यह सब गणके साथ, संघके साथ होता है।' इस मंत्रसे सैन्यसे क्या क्या कार्य किये जाते हैं इसका बोध होता है। और देखिये—

> ते इदुग्राः शवसा धृष्णुषेणा उभे युजन्त रोदसी
> सुमेके। अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु
> तस्थौ न रोकः॥ ऋ. ६।६६।६

(ते) वे सैनिक (उग्राः) उग्र हैं और (शवसा धृष्णु-सेनाः) अपने बलसे साहसी सैन्यसे युक्त हैं। ये पृथिवी और आकाशमें (युजन्त इत्) अपने कार्यसे संयुक्त रहते हैं, अर्थात् युद्धकर्ममें दक्ष रहते हैं। इन वीरोंके (स्वशोचिः) अपने तेजके साथ (अमवत्सु) रहनेसे पृथिवी और आकाशमें कोई (रोकः न तस्थौ) प्रतिबंध नहीं रहता।" अर्थात् ऐसे शूर सैनिक रहनेपर उस राष्ट्रकी प्रगतिमें कोई किसी तरहका प्रतिबंध नहीं खडा रह सकता। प्रतिबंध उत्पन्न हुआ तो उसको ये सैनिक दूर करते हैं।

इतने मंत्रोंके विचारसे यह सिद्ध हुआ कि वैदिक समयकी राज्यशासनव्यवस्थामें—

१ सैन्यकी व्यवस्था थी,

२ संघसे सैन्यरचना होती थी, एक एक सैनिक नहीं होता था, पर संघकी रचनासे सैन्य रचना थी,

३ शत्रुसेनासे अपने सैन्यकी सुसज्जता अधिक रखी जाती थी,
४ अपनी सेना अच्छी रही तो अपनी प्रगतिमें रोक उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं होगा ' ऐसा विचार उस समय था,
५ अपनी सेना उत्तम रहनी चाहिये,
६ अपने मित्रोंको पास रखना चाहिये,
७ अपने शत्रुओंको दूर रखना चाहिये,
८ शत्रुसेनाको मोहित करके पश्चात् उसकी कतल करना,
९ तमसास्त्रसे शत्रुको परास्त करना,
१० अपने सैनिक उग्र होने चाहिये ऐसा प्रबंध करना।

ये बातें यहां इन मंत्रोंमें दीखती हैं। इससे सेना राष्ट्र-रक्षणके लिये रहनी चाहिये यह वैदिक समयमें दृढ विचार था, सेना रखी जाती थी और अच्छी सुसज्ज सेना रखी जाती थी। इतना सिद्ध होनेपर हम अब विचार करेंगे कि सैनिक कैसे होने चाहिये—

युद्धकी संभावना

जहां युद्धकी संभावना होती है वहां सेनाकी तैयारी रखना अत्यावश्यक होता है। वैदिक सभ्यता विश्वशान्ति स्थापन करनेवाली सभ्यता है इसमें संदेह नहीं है, तथापि मनुष्योंमें राक्षसी प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं, उनके द्वारा जनताको उपद्रव होते हैं। इनको प्रतिबंध करके जनताको सुखी करना राज्यशासनका मुख्य कार्य है। ऐसी परिस्थितिमें राष्ट्रमें सेनाकी आवश्यकता है। अतः इस विषयमें वेदका कथन क्या है इसका यहां विचार करना चाहिये।

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र
सन्तस्थाना विह्वयन्ते समीके। ऋ. १०।४२।४

(मम-सत्येषु) मेरा पक्ष सत्य है ऐसा आग्रह जहां होता है वहां युद्ध होता है। ऐसे युद्धोंके प्रसंग उत्पन्न होने पर हे (इन्द्र) प्रभो! (जनाः त्वां विह्वयन्ते) तुम्हें बुलाते हैं। इसी तरह (समीके संतस्थाना) युद्धमें खडे रहे वीर भी तुम्हें अपनी सहायतार्थ बुलाते हैं।

इस मन्त्रमें ' मम-सत्यं ' यह युद्धका नाम है। युद्धके इस नामसे एक बडा भारी सिद्धान्त वेदने प्रकट किया है, वह यह कि (मम सत्यं) " मेरा कहना ही सत्य है " ऐसा दोनों पक्ष कहने लगे, तो वहां युद्ध शुरू होता है। ' मम-सत्यं ' यही युद्धका नाम है और जबतक मानव-जाती है, तबतक ' मेरा पक्ष सत्य है ' ऐसा आग्रहसे कहनेवाले लोग होंगे ही। और जहां ऐसे लोग होंगे, वहां युद्ध होंगे ही। अर्थात् जनसमाजमें युद्धकी संभावना सदा रहेगी ही।

मनुष्योंमें तीन मनोवृत्तीके लोग होते हैं। राक्षसी मनोवृत्ती, मानवी मनोवृत्ती तथा दैवी मनोवृत्ती। ये तीन प्रकारकी मनोवृत्तीयां मानवोंमें होती हैं। इनमें राक्षसी मनोवृत्ती ' मेरा ही कहना सत्य है ' ऐसा कहकर युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त होती है। ये तीन मनोवृत्तियां मानवोंमें होती हैं और उनमें राक्षसी मनोवृत्ती झगडालू होती है, इसलिये वह किसी न किसी प्रकार दुराग्रह करके युद्धका प्रारंभ करती ही है।

इसके उदाहरण रावण, इन्द्रजीत, धृतराष्ट्रके पुत्र कौरव आदि भारतीय इतिहासमें हैं। सत्ययुगमें भी ये थे और कलियुगमें तो ये हैं ही। सदा राक्षसी प्रवृत्तिवाले लोग जनसमाजमें रहेंगे और वे युद्ध करेंगे। और इनके हाथमें राज्यशासन रहा तो ये अवश्य युद्ध करेंगे। इस तरह राक्षसी वृत्तीके लोग युद्ध करते हैं और युद्ध होते हैं इसलिये सेनाकी आवश्यकता रहती है।

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो
जनेषु। मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य
शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥ ऋ. १०।५४।२

हे इन्द्र! (तन्वा वावृधानः) अपने शरीरके सामर्थ्यसे उत्साहित होनेवाला तू (बलानि जनेषु प्रब्रुवाणः) बलोंके विषयमें सब जनोंमें वर्णन करता है और ऐसा करता हुआ (अचरः) तू भ्रमण करता है। (यानि ते युद्धानि आहुः) जो तुम्हारे द्वारा युद्ध होते हैं ऐसा कहते हैं (सा ते माया इत्) वह तुम्हारा कौशल्यका कार्य ही है, तुम्हारी युद्ध-विषयक कुशलता प्रसिद्ध है। इस युद्ध कुशलताके कारण (न अद्य शत्रुं विवित्से) न तो तुम्हे आज शत्रु प्राप्त होता है, (ननु पुरा) पूर्व समयमें भी तुम्हारे सामने शत्रु नहीं ठहरता था।

इस मंत्रमें शत्रु दूर करनेके लिये जो साधन कहे हैं वे ये हैं—

१ तन्वा वावृधानः - शरीरके सामर्थ्य और उत्साहको बढाना,

२ जनेषु वलानि प्रब्रुवाणः अचरः-जनतामें बलोंका- सेनाओंका अथवा सामर्थ्योंका वर्णन करते हुए भ्रमण करना। सबको बल बढानेका उपदेश करना।

३ यानि युद्धानि आहुः सा ते माया- जो युद्ध करके वर्णन किये जाते हैं वे शूरके कौशलयुक्त कर्म हैं। अर्थात् शूरवीर अतिकुशलतासे युद्ध करते हैं। और शत्रुको परास्त करते हैं।

४ अद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से- इस कारण न तो आज शत्रु सामने खडा रह सकता है और न पूर्व समयमें शत्रु ऐसे वीरके सामने खडा रह सकता था।

इस मंत्रमें 'वलानि और युद्धानि' ये पद अत्यंत महत्वके हैं। मनुष्यमें बल चाहिये, वीरता चाहिये और कुशलतासे युद्ध करनेकी शक्ति भी चाहिये। इससे शत्रु दूर हो सकते हैं। जो अत्यंत कुशलतासे युद्ध करता है और अपना बल बढाता है उसके सामने जैसे आज शत्रु ठहर नहीं सकते, वैसे ही पूर्व समयमें भी ठहरते नहीं थे और अर्थात् भविष्यमें भी उनके सामने शत्रु ठहर नहीं सकते। शत्रुको दूर करनेके दो ही उपाय हैं वे ये हैं। अपना बल बढाना और कुशलतासे युद्ध करना। इस मंत्रमें शत्रु हैं, और युद्धसे उनको दूर करनेका उपदेश किया है। अपनी शक्ति बढानेसे शत्रु दूर हो सकते हैं। अपना बल बढानेका अर्थ अपनी वैयक्तिक शक्ति बढाना और अपनी राष्ट्रीय सेना बढाना है। और देखो —

स्तोत्रमिन्द्राय गायत पुरुनृम्णाय सत्वने।
न किर्यं वृण्वते युधि॥ ऋ. ८।४५।२१

(पुरु-नृम्णाय) विशेष पौरुषसे युक्त और (सत्वने) बलवान् (इन्द्राय स्तोत्रं गायत) इन्द्रके लिये स्तोत्रोंका गान करो क्योंकि (युधि) युद्धमें (यं न किः वृण्वते) जिसका कोई पराभव कर नहीं सकता।

इन्द्र पौरुष और बलसे युक्त है, इस कारण कोई शत्रु युद्धमें इसके सामने ठहर नहीं सकता। यहां ऐसा कहा है कि अपना पौरुष और बल बढाना चाहिये और शत्रु अपने सामने न ठहर सके ऐसा करना चाहिये। इस मंत्रमें भी ऐसा कहा है कि युद्ध होने हैं, शत्रु सामने खडे हैं, ऐसी अवस्थामें अपने बल बढाने चाहिये। यह एकमात्र उपाय करने योग्य है। तथा और देखिये—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः।
प्रापश्यद् वीरो अभि पौंस्यं रणम्॥
ऋ. १०।११३।४

'उत्पन्न होते ही वीरने शत्रुओंको बाधा पहुंचाई। और उस वीरने जिसमें पौरुषका कार्य होता है ऐसे रणका निरीक्षण किया।' यहां रण शब्द युद्धका वाचक है जिसमें शत्रुओंको दूर करनेका कार्य होता है और विशाल पौरुष प्रयत्नसेही युद्धमें कार्य किया जाता है। और भी इस विषयमें देखिये—

रणं कृधि रणकृत् सत्यशुष्मा
ऽभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्। ऋ.१०।११२।१०

"(सत्य-शुष्मा) सच्चा बल अपनेमें बढाओ, (रणकृत्) युद्ध कुशलतासे करनेवाला हो और (रणं कृधि) शत्रुसे युद्ध कर। शत्रुके पासके धन हमें मिले ऐसा कर" यहां 'सत्य-शुष्मा' बनो ऐसा प्रथम कहा है अपने अन्दर सच्चा सामर्थ्य प्राप्त करो। अच्छी तरह बलवान् बनो, तथा 'रण-कृत्' युद्ध करनेवाला बनो। अर्थात् कुशलतासे युद्ध करनेकी शक्ति प्राप्त कर। प्रथम अपने अन्दरका सामर्थ्य बढाना और जहां युद्ध करनेकी आवश्यकता होगी वहां अत्यंत कुशलतासे युद्ध करना और शत्रुको विनष्ट करना। और हमारे पास धन आजांय ऐसा करना। यह उपदेश यहां कहा है। अर्थात् युद्ध जहां करना आवश्यक है वहां अवश्य करना चाहिये।

यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप।
रथीतमो रथीनाम॥ ऋ. ८।४५।७

'(सु-अश्व-युः) उत्तम घोडोंको अपने रथोंको जोडनेवाला (रथीनां रथीतमः) रथी वीरोंमें श्रेष्ठ रथी वीर इन्द्र (आजि-कृत्) युद्धको कुशलतासे करनेवाला (आजिं याति) युद्धमें जाता है।' यहां प्रथम वीरकी तैयारी बतायी है। उत्तम घोडे अपने रथोंको जोतता है और अपने घुडसवारोंके पास भी उत्तम घोडोंको रखता है और रथी वीरोंमें श्रेष्ठ वीर बनता है। इतनी तैयारी करके वह स्वयं उत्तम युद्ध करना जानता है और पश्चात् स्वयं युद्धमें जाकर युद्ध करता है। यौंही अपनी तैयारी करनेके विना ही युद्ध करना

नहीं चाहिये, परंतु अपनी उत्तम तैयारी करके युद्ध आवश्यक हुआ तो ऐसा करना चाहिये कि जिससे शत्रु ठहर न सके। तथा—

आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं
कृधि प्रजास्वाभगम्। ऋ. ८।५३।६

'(सत्पतिं) सज्जनोंका रक्षण करनेवाले, (विश्व-चर्षणिं) सब जनताका हित करनेवाले और (आजि-तुरं) युद्धमें त्वरासे कार्य करनेवाले वीरकी प्रशंसा करो वह हमें (प्रजासु आभगं) प्रजाओंमें भाग्यवान् करे।'

यहां चार पद महत्त्वपूर्ण हैं। (प्रजासु आभगं) प्रजाजनोंमें भाग्यवान् बनना। हरएक चाहता है कि मैं सबसे अधिक भाग्यवान् बनूं। ऐसा हरएकके मनमें रहना स्वाभाविक है। पर यह कैसा बने इस प्रश्नका उत्तर इस मन्त्रके आगेके तीन पदोंने दिया है। यदि भाग्यवान् बनना है तो (सत्-पतिः) सज्जनोंका पालन करो, 'परित्राणाय साधूनां' (गीता) सज्जनोंका संरक्षण करना यह भाग्यवान् बननेका एक साधन है। दूसरा (विश्व-चर्षणिः) सब मानवोंका हित करनेका कार्य करना, सार्वजनिक हित करना, जनताकी सेवा करना इससे इसकी योग्यता बढ जाती है। ये दो कार्य लोकोंके हित करनेके लिये हैं और (आजि-तुरः) युद्ध करनेके समय त्वरासे शत्रुके साथ लडना। शीघ्रतासे शत्रुसे युद्ध करना। उसमें शिथिलता न करना। इससे यह मनुष्य प्रजाजनोंमें भाग्यवान् होता है। यहां भी शत्रुसे युद्ध करना भी एक कार्य गिना है। और देखिये—

तमिन्महत्स्वाजिषूतमर्भे हवामहे।
असि हि वीर सेन्यः। ऋ. १।८१।१-२

उस वीरको (महत्सु आजिषु) बडे युद्धोंमें और उसको (अर्भे हवामहे) छोटे संग्रामोंमें सहाय्यार्थ बुलाते हैं। उसको इसलिये बुलाते हैं कि वह (हे वीर) हे शूर (सेन्यः असि) वह वीर सेनासे सुसज्य है। उसके पास उत्तम सेना है। शूरवीर स्वयं बलवान् हो और उसके पास उत्तम सेना हो, तब उसका वर्णन लोग करते हैं। वही बात और देखिये—

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं
प्रावद् विश्वेषु शतमूतिराजिषु
स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु। मनवे शासदव्रतान्।
ऋ. १।१३०।८

'इन्द्र (समत्सु) युद्धोंमें श्रेष्ठ सज्जनोंका (प्रावत्) रक्षण करता है। (विश्वेषु आजिषु) सब युद्धोंमें (शतं ऊतिः) सैंकडों प्रकारोंके संरक्षण देकर पालन करता है। (स्वः-मीळ्हेषु आजिषु) अपनी शक्ति बढानेवाले युद्धोंमें वह रक्षण करता है और (मनवे) मानवोंका हित करनेके लिये (अ-व्रतान्) दुष्टाचारवाले शत्रुओंको (शासत्) दण्ड देता है।'

इस मंत्रमें युद्धोंमें किस रीतिसे स्वपक्षीयोंका बचाव करना चाहिये, दुष्ट शत्रुओंका दमन किस तरह करना चाहिये, और सब प्रकारके संग्रामोंमें शत्रुओंका पराभव किस रीतिसे करना चाहिये यह सब अच्छी तरह बताया है।

यहांतक अनेक मंत्र हमने देखें, उनमें युद्ध, आहव, आजि, रण, समसत्य' आदि युद्धवाचक बहुतसे शब्द आये हैं। मनुष्य युद्धमें ही खडा है। अनेक प्रकारके युद्ध इसे लडने हैं। इसलिये युद्ध नहीं है ऐसा समझना बडा हानिकारक है। मनुष्य अनेक युद्धोंमें खडा है। इनमें इसे शत्रुओंसे लडकर विजय प्राप्त करना और विजयी होना है। इसलिये जगत्में युद्ध ही नहीं है ऐसा मानना हानिकारक है। युद्धमें हम खडे हैं ऐसा समझकर अपनी तैयारी करनी चाहिये।

अपना व्यक्तिका बल, अपने राष्ट्रका बल अर्थात् सेना, अपना युद्धकौशल ये सब सामर्थ्य योग्य रीतिसे अपने पास सुसज्य रखने चाहिये। तब ही अपना विजय हो सकता है।

अस्तु। इस तरह हमने वेदमंत्र देखकर यह परिणाम निकाला कि वैदिक राज्यव्यवस्थाके अनुसार राष्ट्रको युद्ध करनेके अवसर आते हैं, उस कार्यके लिये राष्ट्रकी वीरसेना तैयार करनी चाहिये और राष्ट्रमें वीर पुरुष निर्माण करने चाहिये।

सेनाकी इस तरह आवश्यकता सिद्ध होनेपर उस सेनाके विषयमें वेद क्या उपदेश देता है वह अब देखिये—

सब सैनिक समान

प्रथम बात जो वैदिक समयकी सेनामें दीखती है वह सब सैनिकोंकी समानता है। देखिये—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदः
अमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ऋ. ५।५९।६

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ. १।६०।५

" (अ- ज्येष्ठासः) इनमें कोई श्रेष्ठ नहीं, (अ-कनिष्ठासः) कोई कनिष्ठ भी नहीं तथा इनमें (अ-मध्यमासः) कोई मध्यम भी नहीं है। अर्थात् ये सब समसमान हैं। ये अपनी (महसा) शक्तिसे (वावृधुः) बढते हैं। ये (जनुषा सुजातासः) जन्मसे ही कुलीन हैं। ये (पृश्नि-मातरः) भूमिको माता माननेवाले हैं अर्थात् मातृभूमिकी सेवा करनेवाले हैं। ये (दिवः मर्याः) ये दिव्य नरवीर हैं। ये (भ्रातरः) परस्पर भाई हैं, (सौभगाय संवावृधुः) ये परस्पर अपने उत्तम भाग्य बढानेके लिये मिलकर प्रयत्न करते रहते हैं। "

इन मंत्रोंमें सैनिकोंकी समसमानताके विषयमें उत्तम रीतिसे वर्णन किया है। सब सैनिक समसमान हैं ऐसा यदि न माना जाय, तो सैनिकोंमें ऊंचानीचा माना जानेसे उनका आपसमें वैर होगा, वे आपसमें ही 'मैं ऊंचा' और 'वह नीच' ऐसा बोलकर लडेंगे और उनसे शत्रुका पराभव करनेका कार्य तो दूर ही रहेगा। पर अपना ही नाश होगा।

इसलिये सब सैनिक समान हैं, वे जन्मसे ही (जनुषा सुजातासः) उत्तम कुलीन हैं, उनमें जन्मजात उच्चनीचता नहीं है, वे (दिवः मर्याः) दिव्य नरवीर हैं। वे अपनी शक्तिसे बढते हैं। यह नियम कितना उत्तम है यह विचार करके हर कोई जान सकता है।

सैन्यकी भरती कैसी हो

यहांतक विचार हुआ और मालूम हुआ कि सैन्यमें जन्मजात ऊंचा नीचा यह भेद नहीं है। अब इन सैनिकोंकी भरती किस तरह की जाती है वह देखिये—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। ऋ. ८।१०३।१४

सत्वानो घोरवर्पसः। ऋ. १।६४।२

मृगा न भीमाः। ऋ. २।३१।१

" जो गौर वर्ण हैं, (घोर-वर्पसः) बडे शरीरवाले हैं और जो (सु-क्षत्रासः) उत्तम क्षात्र कर्म करनेवाले, उत्तम संरक्षण करनेवाले और (रिश-अदसः) शत्रुका नाश करनेवाले हैं। जो (सत्वानः) बलवान् हैं, महान विशाल शरीरवाले हैं और (मृगा न भीमाः) सिंहके समान भयंकर हैं। वे सेनामें भरती होने योग्य हैं। "

यहां (१) सुन्दर वर्ण,
(२) विशाल शरीर,
(३) सुरक्षा करनेका कौशल्य,
(४) शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य,
(५) शारीरिक बल और
(६) उग्रता।

ये गुण देखकर सेनामें भरती करनी योग्य है ऐसा कहा है। प्रथम ये ही गुण देखे जा सकते हैं। अन्य गुण आगे सैनिकीय शिक्षासे प्राप्त हो सकते हैं और बढाये भी जा सकते हैं। पर प्रथम ये गुण तरुणोंमें होने चाहिये। सेनामें भरती होनेके लिये ये गुण तो अवश्य चाहिये।

अरुणप्सवः (ऋ. ८।७।७)- अरुण अर्थात् लाल रंग जिनकी त्वचापर शोभता है ऐसे तरुण सेनामें भरती हों। शरीरपर लाल रंग तब चमकता है कि जब शरीरमें शुद्ध रक्त घूमता रहता है। ये ही तरुण वीर शत्रुके साथ उत्तम युद्ध कर सकते हैं। इन्हींके अन्दर ओज और सत्व स्वभावसे रहता है।

अपने तेजसे तेजस्वी

सेनामें भरती होने योग्य तरुण वीर वे हैं कि जो अपने तेजसे तेजस्वी रहते हैं। देखिये इनके विषयमें कहा है—

ये स्व-भानवः अजायन्त। ऋ. १।३७।२

स्वभानवः धन्वसु श्रायाः। ऋ. ५।५३।४

स्वभानवे वाचं प्रानज। ऋ. ५।५४।१

" जो अपने निजतेजसे चमकते हैं। अपने तेजसे चमकनेवाले वीर धनुष्योंका आश्रय करते हैं। जो अपने तेजसे चमकता है उसकी प्रशंसा करो। "

ये वीर सैनिक हैं। किसी तरुणको देखनेसे सहजहीसे पहचाना जाता है कि यह तरुण अपने निजतेजसे चमकता है वा नहीं। जो अपने चेहरेपर तेल, सुगंध कल्प, अथवा पावडर लगाकर अपने आपको तेजस्वी बताते हैं, उनकी भरती सैन्यमें नहीं हो सकेगी। परंतु जो (स्व-भानवः)

अपने निजतेजसे तेजस्वी दीखते हैं, अकृत्रिम रीतिसे सुडोल और आनंदी दीखते हैं वैसे तरुण ही सेनामें भरती होनेयोग्य हैं।

एक घरमें रहते हैं

सैनिकोंकी सेनामें भरती होनेपर उनकी रहने-सहनेकी व्यवस्था कैसी होती है यह भी देखनेयोग्य विषय है। ये एक घरमें रहते हैं। इस विषयमें देखिये—

१ समोकसः इषुं दधिरे। ऋ. १।६४।१०
२ उरुक्षया सगणा मानुषासः। अथर्व. ७।७७।३
३ वः उरु सदः कृतम्। ऋ. १।८५।७
४ समानस्मात्सदसः उरुक्रमः निः चक्रमे। ऋ. ५।८७।४
५ सनीळा मर्याः स्वश्वाः नरः। ऋ. ७।५६।१
६ सवयसः सनीळाः समान्याः। ऋ.१।६५।१

[१] (सं-ओकसः) एक घरमें रहनेवाले ये वीर बाण हाथमें धारण करते हैं।

[२] (उरु-क्षयाः) जिनका घर बडा है और जो (स- गणाः) संघके साथ रहते हैं अर्थात् जो अकेले अकेले नहीं रहते और जो मनुष्योंकी सेवा करनेके लिये तत्पर रहते हैं।

[३] (वः उरु सदः कृतं) आपके लिये, हे सैनिको! यह बडा घर बनाया है।

[४] (समानस्मात् सदसः) सबके एक घरसे (निः चक्रमे) एक एक वीर बाहर पडता है।

[५] ये (मर्याः) मरनेके लिये तैयार हुए वीर (स-नीळाः) एक घरके रहनेवाले और (सु-अश्वाः) उत्तम घोडोंपर बैठनेवाले हैं।

[६] ये वीर (स-वयसः) एक आयुवाले (स-नीळाः) एक बडे घरमें रहनेवाले और (स-मान्याः) सबकी मान्यता समान है ऐसे ये वीर हैं।

सैनिकोंके बडे मकान

यहां " (१) सं—ओकसः, (२) उरु—क्षयाः, (३) उरु सदः, (४) समानं सदः, " ये पद इन सैनिकोंका घर एक बडा भारी विस्तीर्ण होता था, यह भाव बताते हैं। युरोपीयन भारतमें आनेपर उन्होंने जो अपनी सेनाकी रचना की, उसमें भी उन्होंने एक बडे मकानमें ही सैनिकोंको रखा था। एक एक या दो दो कमरोंकी पंक्ति जिसमें हैं ऐसे लंबे मकान जिनको अंग्रेजीमें 'बरेक' कहते हैं, सैनिकोंके लिये अंग्रेजोंने बनाये। यही भाव इन पदोंसे स्पष्ट रूपसे दीख रहा है।

एक बडे मकानमें रहनेसे रहनेवालोंके अन्दर हम सब समान हैं, हममें बडा छोटा कोई नहीं यह भाव रहता है। इसलिये वैदिक समयके सैनिकोंको एक बडे मकानमें रखा जाता था। अंग्रेज भी इसी हेतुसे सैनिकोंको बडे घरमें रखते थे। पर भारतके आधुनिक समयके राजे अपने सैनिकोंको ऐसे बडे मकानोंमें रखते नहीं थे। इन हिंदु राजाओंके राज्यमें वेदपाठी पंडित थे, शास्त्री तथा विद्वान् भी थे। पर वेदपाठी वेदका अर्थ जानते नहीं थे और शास्त्री वेदमंत्रोंको याद नहीं करते थे और राजालोग वेदमें क्या है यह जानते नहीं थे, इस कारण हमारी सैनिकीय विद्या वेदकी वेदमें रही। युरोपीयनोंने यहां सेनाकी रचना वेदानुकूल की पर उस ओर किसीने देखा भी नहीं। जिनके पास वेद नहीं थे वे वेदके अनुसार अपने सैनिकोंको रखते थे और उससे सामर्थ्य प्राप्त करते थे और राज्य जीतते जाते थे। पर जिनके पास वेद थे वे अज्ञानके कारण कोरेके कोरे ही रहे और पराभूत होकर पारतंत्र्यमें भी पहुंचे।

यह यहां इसलिये कहना पडा कि वेदकी सैनिकीय शिक्षा सामर्थ्य बढानेवाली थी। इसलिये यदि वेदका ज्ञान मानवी व्यवहारमें आजाता, तो यूरोपीयनों द्वारा सहजहीमें भारतीय सेनाओंका पराभव न होता और भारत परतंत्र भी न होता। यह माना जा सकता है कि पराभवके लिये अन्यान्य भी कारण थे। यह सत्य है, तथापि यह सैनिकीय तैयारी यदि हमारी वेदके कथनानुसार होती, तो हमारे पराभवको कुछ न कुछ मर्यादा तो अवश्य होती।

उपर दिये मंत्रोंमें ' स-गणाः ' पद है। अर्थात् गणोंके साथ ये सैनिक अपने विशाल घरमें रहते हैं। गण उन सैनिकोंका नाम है कि जिनका प्रवेश सेनामें हुआ है और उनकी गणना सैनिक करके हो चुकी है।

इन मंत्रोंमें ' स्वश्वाः (सु-अश्वाः) ' पद है। उत्तम घोडे जिनके पास रहते हैं। अर्थात् घुडदलके सैनिक भी

ऐसे ही बडे विशाल मकानमें रहते थे। वैदिक समयमें जैसे पदाती (पैदल) विभागके सैनिक होते थे, वैसे ही घुडसवार भी होते थे। पैदलोंके समान ही घुडसवारोंकी रहने सहनेकी अनुशासन पद्धति समान ही थी। अर्थात् पैदल वीरोंकी रहनेकी शाला एक स्थानपर होती थी और घुडसवारोंकी दूसरे स्थानपर होती थी। उनके घर पृथक् होते थे, और घोडोंके स्थान भी पृथक् रहते थे। यहां हमें मालूम हुआ कि वैदिक समयमें घुडसवारोंकी सेना भी पृथक् थी।

इन मंत्रोंमें ' मनुषासः, मर्याः, नरः ' ये तीन पद हैं। ये सर्वसाधारणतः मनुष्यवाचक हैं, परंतु यहां ' मानवोंकी सेवा करनेवाले ' इस अर्थमें विशेषकर ये पद आये हैं। मनुष्योंका हित करनेका प्रयत्न करनेवाले। ' नरः नृभ्यो हिताः ' इस तरह इनका अर्थ समझना योग्य है। सैनिक नागरिकोंका हित करनेके लिये ही सेनामें प्रविष्ट होते हैं। यह कर्तव्य इन सैनिकोंका यहां व्यक्त हुआ है।

खेलनेमें प्रवीण

ये सैनिक खेल अर्थात् मर्दानी खेल खेलनेमें प्रवीण थे। वीरोंको ऐसा ही मर्दानी खेलोंके विषयमें प्रेम रहना चाहिये—

शीशूला न क्रीळाः सुमातरः। ऋ. १०।७८।६

' उत्तम माताओंको उत्तम खेल खेलनेवाले पुत्र होते हैं। ' जो उत्तम वीर होते हैं, वे मर्दानी खेल खेलनेमें अत्यंत प्रेम रखते हैं। इनका स्वभाव ही खेल खेलनेकी ओर होता है। ऐसे उत्तम मर्दानी खेल खेलनेवाले बडे वीर और बडे बहादर होते हैं। वीरोंको मर्दानी खेलोंमें प्रवीण रहना चाहिये।

ये सैनिक स्त्रियोंके समान सजते हैं।

हम सैनिकोंको जिस समय देखते हैं, उनके सब कोट, बूट, सूट, टोपी, बटन, शस्त्र-अस्त्र सब चकमक रहते हैं। ऐसा दीखता है कि ये सदा स्त्रियोंके समान सजेसजाये ही रहते हैं। यही बात वेदमंत्रमें वर्णन की है देखिये—

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयः
मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः। ऋ. १।८५।१

(ये) ये वीर (जनयः न) स्त्रियोंके समान (प्रशुम्भन्ते) अपने आपको सुशोभित करते हैं। स्त्रियां जिस तरह सदा अपने आपको सजाकर रखती हैं, उस तरह ये वीर अपने आपको सदा सजाकर रखते हैं। किसी समय इनकी कोई चीज या कोई वस्तु सुशोभित नहीं होती ऐसा नहीं होता। सदा इनकी वेषभूषाके सभी पदार्थ ठीकठाक और चकमक तथा जैसे सुशोभित हो सकते हैं, वैसे ही होते हैं। किसी भी समय, किसी भी रीतिसे, किसी भी स्थानपर शोभारहित वस्तु उनके शरीरपर दीखती नहीं। सदा ये सजेसजाये रहते हैं। सदा ठीकठाक रहते हैं।

यज्ञदृशः न शुभयन्ते मर्याः। ऋ. ७।५६।१६
गोमातरः यत् शुभयन्ते अञ्जिभिः। ऋ. १।८५।३

" यज्ञ देखनेके लिये जिस समय लोग जाते हैं उस समय जैसे सजकर, सुन्दर होकर जाते हैं, अपने शरीरको तथा अपने पोषाखको सजाकर जाते हैं, उस तरह ये सैनिक वीर सजेसजाये होनेके कारण सुन्दर दीखते हैं। गौको माता माननेवाले ये वीर अपने गणवेषसे अपने आपको सुशोभित करते हैं। "

यहां ' अञ्जि ' पद ' गणवेष ' का वाचक है। जो जिसका गणवेष होता है वह डालकर वह वीर सजकर अपने कामपर या अपने स्थानपर खडा रहता हैं, इस कारण वह वहां बडा सुंदर दीखता है।

हम सैनिक या पुलिसको सदा सजासजाया देखते हैं। इस कारण इसका परिणाम जनतापर होता है। यह बात वैदिक समयके राजकर्ताओंने जान ली थी। अतः वे अपने सैनिकोंको सदा सजेसजाये रखते थे। उनका अनुशासन ही वैसा था कि कोई सैनिक ढिलाढाला न रहे, कोई मलीन न रहे। सब सैनिक प्रभावी रहें। और देखिये—

स्वायुधः इष्मिणः सुनिष्काः।
उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. ७।५६।११
सस्वः चिद्धि तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. ७।५।७
स्वः क्षत्रेभिः तन्वः शुम्भमानाः। ऋ. १।१६५।५

" (सु-आयुधाः) उत्तम शस्त्र धारण करनेवाले, (इष्मिणः) गतिमान, (सुनिष्काः) उत्तम मणियोंका हार धारण करनेवाले, अथवा अपने शरीरपर रहनेवाले

सुवर्णके भूषण जिनके उत्तम तेजस्वी हैं ऐसे ये वीर (तन्वं शुम्भमानाः) अपने शरीरको सुशोभित रखते हैं। (सस्वः) गुप्तस्थानमें रहनेवाले अपने शरीरको सजाते हैं। (स्व-क्षत्रेभिः) अपने शौर्यसे अपने शरीरकी शोभा बढाते हैं।"

ये वीर (सु—आयुधः) अपने आयुधोंको, अपने शस्त्रास्त्रोंको अत्यंत तेजस्वी अवस्थामें रखते हैं। साफसफाई करके अपने सब आयुध उत्तम स्थितिमें रखते हैं। कोई शस्त्र मलिन होने नहीं देते। (इष्मिनः) इष्—अन्न और धनसे युक्त। सबके अन्न और धनका संरक्षण करनेके कारण इनको अन्न, धन जो चाहिये वह प्राप्त रहता है।

(सु—निष्काः) निष्क नाम मोहोर या अलंकारका है। अपने शरीरपर धारण करनेके अलंकार, कपडे, वेष भूषाके अलंकार आदि सबके सब जिसके तेजस्वी हैं। अपने शरीर-की शोभा बढानेवाले, मूंछ, दाढी, बाल आदिको अत्यंत आकर्षक जो रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी भी तरह शोभामें न्यून न हो ऐसी सदा व्यवस्था दक्षतासे करनेवाले तथा अपना सौंदर्य बढे इसलिये जो यत्न करते हैं ऐसे ये वीर हैं।

(सस्वः) स्वयं गुप्त स्थानमें रहते हैं। पुलिस अथवा सैनिक भी किसी किसी समय कुछ कारण विशेषके लिये गुप्त स्थितिमें रहते हैं। किसी दूसरेको न दीखें ऐसी स्थिति-में रहते हैं। तथापि ऐसे समयमें भी वे अपने शरीरको सुंदर रखते ही हैं।

(स्वक्षत्रेभिःतन्वं शुंभमानाः) अपने क्षात्र चिन्होंसे अपने शरीरकी शोभा बढाते हैं। अपने ओहदेके चिन्होंसे ये अपने शरीरको सजाते हैं। इनकी यह सजावट, इनका रुवाब बढानेके लिये सहायक होती है।

पिशा इव सुपिशः। ऋ. १।६४।८
अनुश्रियः धिरे। ऋ. १।११६।१०
सुचन्द्रं सुपेशसं वर्णं दधिरे। ऋ. २।३४।१३
महान्तः विराजथ। ऋ. ५।५५।२
रूपाणि चित्रा दृश्यी। ऋ. ५।५२।११

"उत्तम सुन्दर रूप जैसा सुन्दर दीखता है, वैसे जो सुन्दर दीखते हैं। हरप्रकारसे जो अपनी शोभा बढाते हैं। उत्तम तेजस्वी, अत्यंत सुन्दर वर्णका धारण करते हैं। बडे होकर विराजते रहो। इनके नानाप्रकारके रूप देखने योग्य हैं।"

जिन्होंने सैनिक देखें हैं, वे जैसे सजे रहते हैं। वैसे ही ये वैदिक समयके सैनिक अपने शरीर, बाल, मूछियां, दाढी, साफा, अस्त्रशस्त्र आदिको बडा तेजस्वी, सुन्दर तथा प्रभावी रखते थे। जिससे इनकी शोभा बढती थी और समयपर अस्त्रशस्त्र भी कार्यक्षम रहते थे। शोभाकी शोभा और उपयोगका उपयोग, ऐसे दोनों प्रकारके लाभ इनकी सजावटसे होते थे।

मरुतोंका गणवेष

ये जो वीर हैं वे 'मरुत्' करके वर्णित हुए हैं। मरुत्का अर्थ यह है—

मरुतो मितराविणो वा मितरोचनो वा महद् द्रवन्तीति वा। निरु. ११।२।१

कईयोंकी संमतिसे यह यास्काचार्यका वचन ऐसा है—

मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा महद् द्रवन्तीति वा। निरु. ११।२।१

इसका भाव यह है—

१ मरुतः = मितराविणः = मितभाषी, अधिक बडबड न करनेवाले;

२ मरुतः= अमित-राविणः= बहुत भाषण करनेवाले;

३ मरुतः = मितरोचनः = परिमित प्रकाश देनेवाले;

४ मरुतः = अमित रोचनः= अपरिमित प्रकाशनेवाले;

५ मरुतः = महत्द्रवन्ति = बडी गतिसे जो जाते हैं।

निरुक्तकारके इस वचनके ये दोनों प्रकारके अर्थ टीकाकार मानते हैं इस कारण ये यहां दिये हैं। और भी 'मरुत्'के अर्थ हैं वे सब देखिये—

१ मरुत् = (मा-रुद) = न रोनेवाले, युद्धमें न रोते हुए अपने कर्तव्य करनेवाले,

२ मरुत् = (मा-रुत्) = न बोलनेवाले, कम बोलनेवाले।

३ मरुत् = (मर्-उत्) = मरनेतक उठकर अपना कर्तव्य करनेवाले।

इस तरह अर्थ करके यह बताया है कि ये मरुद्वीर बहुत भक्भक् करते नहीं, परंतु चुप रहकर अपना कर्तव्य करते हैं। कभी रोते नहीं रहते, परंतु तत्परतासे अपना कर्तव्य आनंदके साथ करते हैं। मरनेतक उठकर कार्य करते रहते हैं। आलस्यमें कभी रोते नहीं रहते।

मरुत् वीरसैनिक हैं। इनका कार्य कैसा होना चाहिये यह बात इन अर्थोंके द्वारा बतायी है। पदोंका अर्थ करके तथा पदकी व्युत्पत्ति करके उसके गुण बताये जाते हैं। इसलिये इस व्युत्पत्तिका महत्त्व है। तथा व्युत्पत्तिका भाव बतानेवाले मंत्र भी रहते हैं। अस्तु। वीरोंके गुण इन अर्थोंके द्वारा बताये हैं। वीर न रोयें, न भक्भक् करें, न बोलते ही रहें, परंतु शक्ति रहनेतक अपना कर्तव्य करते रहें।

वीरोंके शस्त्र

वीरोंके शस्त्रअस्त्र तथा गणवेषका वर्णन निम्नस्थानमें लिखित मंत्रोंमें देखने योग्य है—

> वाशीमन्तो ऋष्टिमन्तो मनीषिणः
> सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः।
> स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः
> स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ २ ॥
> ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि
> सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्।
> नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो
> विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ॥ ६ ॥
> ऋ. ५।५७

(वाशीमन्तः) बर्चियाँ धारण करनेवाले, (ऋष्टिमन्तः) भाले बर्तनेवाले, (सु-धन्वानः) उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले, (इषुमन्तः) बाण पास रखनेवाले, (निषङ्गिनः) तर्कस-बाणोंकी थैलियां पास रखनेवाले, (सु-रथाः) उत्तम रथमें बैठनेवाले, (सु-अश्वाः) उत्तम घोडे अपने पास रखनेवाले, (पृश्नि-मातरः) मातृभूमिकी उपासना करनेवाले आप वीर (मनीषिणः) मनको अपने आधीन रखनेवाले हैं। ये अपने मनको इधर उधर भटकने नहीं देते। अच्छे कार्यमें अपने मनको लगाते हैं। ऐसे तुम (शुभं याथन) शुभ कर्म करनेके लिये आगे बढो।

आपके (अंसयोः अधि) कंधोंपर (ऋष्टयः) भाले हैं, (वः बाह्वोः) आपके बाहुओंमें (सहः ओजः बलं हितं) साहस, सामर्थ्य और बल रखा है। (शीर्षःसु नृम्णा) आपके सिरपर साफे हैं। यहांका 'नृम्णा' पद 'साफा, मुकुट, अथवा (नृ-मणा) मनुष्योंका मन जिसपर आकर्षित होता है वह आभूषण, वस्त्र अथवा पहनने योग्य वस्तु' ऐसा भाव बताता है। पर यह (शीर्षः सुनृम्णा) सिरमें धारण करने योग्य सुन्दर वस्तु है। यह मुकुट होगा, या सुन्दर साफा होगा और ऐसी ही कोई दूसरी सिरमें पहनने योग्य चीज होगी। 'नृम्णा' का अर्थ 'हिरण्मयानि पदोष्णीषादीनि' यह अर्थ सायनाचार्य देते हैं। इसका अर्थ जरतारीका साफा ऐसा है।

(रथेषु आयुधा) रथोंमें शस्त्र या आयुध रखे हैं। ऐसे ये वीर (विश्वा श्रीः तनुषु पिपिशे) सब शोभा इनके शरीरोंमें चमकती है। यह वर्णन सैनिकोंका है। युरोपीयन सेनाके सैनिकोंमें शस्त्रास्त्र भले ही दूसरे हों, पर उनके शरीर गणवेष धारण करनेके पश्चात् ऐसे शोभते हैं इसमें संदेह नहीं है। ऐसे ही सैनिक वैदिक समयकी सेनामें थे यह यहां देखने योग्य है। इनका वर्णन और देखिये—

> अंसेष्वा मरुतः खादयो वो
> वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
> वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना
> अनु स्वधामायुधैर्यच्छमाना ॥ ऋ. ७।५६।१३

(अंसेषु खादयः) तुम्हारे कंधोंपर आभूषण हैं, (वक्षःसु रुक्मा) छातीपर सुवर्णके कण्ठे (उपशिश्रियाणाः) लटक रहे हैं। वृष्टिके समय (विद्युतः न) बिजलियां चमकती हैं उस तरह चमक दमक तुम अपने आयुधोंसे (अनु यच्छमानाः) चमका रहे हैं। इसी तरह और भी सैनिकोंके पोषाखका वर्णन देखिये—

> समानमञ्ज्येषां विभ्राजन्ते रुक्मासो अधि
> बाहुषु। दविद्युतत्यृष्टयः ॥ ११ ॥
> त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो
> नकिष्टनूषु येतिरे।
> स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेषु
> अधिश्रियः ॥ १२ ॥ ऋ. ८।२०।११-१२

(एषां) इन सब सैनिकोंके (अञ्जि) आभूष (समानं) समान हैं । सबकी वेषभूषा, सबका गणवेष समान है। यह महत्त्वका वर्णन यहां देखने योग्य है। जितने सैनिक होंगे उन सबकी वेषभूषा समान होनी चाहिये। जो पोषाख जो शस्त्र-अस्त्र, जो कपडे एकके होंगे वे ही सबके होंगे। ऐसा होनेके लिये ही 'गणवेष धारण करना' कहते हैं। गणवेष सबका समान ही होता है।

(बाहुषु अधि रुक्मासः विभ्राजन्ते) बाहुओंपर चांद चमकते रहते हैं। वे भी सब सैनिकोंके एक जैसे ही होते हैं। (ऋष्टयः दविद्युतत्) भाले सबके चमक रहे हैं।

(ते उग्रासः वृषणः) वे उग्र दीखनेवाले बलवान् वीर (उग्र बाहवः) जिनके बाहू उग्र प्रभावी दीखते हैं। (तनूषु नकिः येतिरे) ये वीर अपने शरीरके सम्बन्धमें कुछ भी विचार नहीं करते। अर्थात् युद्धके समय या जनताकी सेवा करनेके समय अपने शरीरकी पर्वाह न करके जनसेवाका कार्य करते हैं। कहीं भी आग लगी तो अन्दर घुसते हैं और किसीको बचाना हो तो उसको बचाते हैं। अर्थात् अपने शरीरकी पर्वाह न करते हुए जनसेवाका कार्य करते हैं।

आपके आयुध रथोंमें स्थिर रहते हैं। जहां जो शस्त्र रखना हो वह ठीक उसी स्थानपर रखा जाता है। कभी इधर उधर नहीं रखा जाता। इतनी व्यवस्था तथा अनुशासन इनका शस्त्रास्त्र रखनेके कार्यमें रहता है। रातमें या अन्धेरेमें भी वहांका फलाना शस्त्र लाना हो तो वहांसे ही ये ला सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक शस्त्रका स्थान नियत है और वह उसके स्थानपर ही रखा जाता है। सैनिकोंकी हरएक कार्यवाहीमें यह अनुशासन अत्यंत आवश्यक है। सेनाका सामर्थ्य इस अनुशासनसे बढता है।

यहां कहा है कि (रथेषु स्थिरा धन्वानि) रथोंमें स्थिर धनुष्य हैं। अर्थात् दो प्रकारके धनुष्य होते हैं। एक स्थिर धनुष्य रथके स्तंभके साथ लगे रहते हैं। ये धनुष्य बडे होते हैं। इनका बाण बहुत दूर जाता है। दूसरे धनुष्य हाथमें पकडकर चलानेके होते हैं। ये धनुष्य छोटे होते हैं। ये धनुष्य हाथमें लेकर जिधर चाहिये उधर जाकर शत्रुपर चलाये जाते हैं। स्थिर धनुष्य अपने स्थानसे हिलाये नहीं जाते। परन्तु चलधनुष्य हाथमें पकडकर जहां चाहिये वहां ले जा सकते हैं। वीरोंके लिये इन दोनों धनुष्योंकी आवश्यकता रहती है। और देखिये—

> युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो
> ववक्षु अध्रिगावः पर्वता इव ।
> दृळ्हा चिद्विश्वा भुवनानि पार्थिवा
> प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना ॥ ३ ॥
>
> चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते
> वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे ।
> अंसेष्वेषां नि मिमिक्षु ऋष्टय
> साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥ ॥
>
> ऋ० १।६४।३-४

(युवानः रुद्राः) ये तरुण वीर शत्रुको रुलानेवाले (अजराः) जरारहित (अ-भोग्-हनः) अनुदार शत्रुका वध करनेवाले, (अ-ध्रि-गावः) जिनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता, (पर्वता इव ववक्षुः) पर्वतोंके समान स्थिर रहते हैं, जनताको सुखी करनेकी इच्छा करते हैं। (मज्मना) अपने सामर्थ्यसे (विश्वा पार्थिवानि दिव्यानि भुवनानि) सब पृथ्वीपरके तथा आकाशमें रहनेवाले सब स्थिर भुवनोंको भी (प्रच्यावयन्ति) हिला देते हैं।

सुस्थिर सुदृढ शत्रुके स्थानोंको हिला देते हैं, तोडते हैं, चलाते हैं। शत्रुके स्थान सुदृढ होनेपर भी ये वीर उसको तोडकर नष्ट कर देते हैं। अर्थात् इन वीरोंके लिये किसी भी शत्रुका स्थान सुस्थिर नहीं है, इतना इनका सामर्थ्य है।

ये वीर (चित्रैः अञ्जिभिः) चित्रविचित्र भूषणोंसे (वपुषे व्यञ्जते) अपने शरीरको सुशोभित करते हैं। (शुभे वक्षःसु रुक्मान्) शरीरकी शोभा बढानेके लिये छातीपर चांद धारण (अधि येतिरे) करते हैं। (एषां अंसेषु ऋष्टयः निमिमिक्षुः) इनके कन्धोंपर भाले चमकते रहते हैं। ये (नरः) नेता वीर (स्वधया साकं) अपनी धारणशक्तिके साथ (दिवः जज्ञिरे) द्युलोकसे प्रकट हुए ऐसा प्रतीत होता है।

इन मंत्रोंमें इन वीरोंका हमला शत्रुपर कैसा होता है यह ठीक तरह बताया है। शत्रु कितना भी प्रबल हुआ तो भी उसको ये उखाड देते हैं। ये तरुण वीर होते हैं और शत्रुको उखाडकर भेज देनेमें अत्यंत प्रवीण होते हैं। ऐसे

ये वीर होते हैं। अपने सैनिक कैसे होने चाहिये यह यहां अच्छी तरह बताया है।

वीरोंका गणवेश

इन वीरोंका गणवेश कैसा था, इसका वर्णन अब देखिये—

(१) सिरमें

वीरोंके शिरोभूषणके सम्बन्धमें इस तरह लिखा है—

१ **शीर्षस्सु नृम्णा** (ऋ. ५।५७।६) = सिरमें साफा, पगडी अथवा जरतारीका शिरोवेष्टन।

२ **शिप्रा शीर्षन् हिरण्ययी** (ऋ. ८।७।२५) = सिरपर साफा जिसपर सुवर्णकी नकशीका काम किया होता है ऐसा है।

३ **हिरण्य-शिप्राः** (ऋ. २।३४।२) = सिरपर बांधनेके लिये जरतारीका साफा होता है।

इस तरह शिरोभूषणके विषयमें कहा है। इससे साफा, जरतारीका साफा अथवा पगडी जिसपर जरतारीकी नकशी रहती है, यह वैदिक समयके सैनिकोंका शिरोवेष्टन था ऐसा प्रतीत होता है।

(२) कंधोंपर भूषण

कन्धोंपर रहनेवाले भूषणोंके विषयमें ये मन्त्र देखने योग्य हैं—

अंसेषु ऋष्टयः। ऋ. १।६४।४; ५।५४।११
ऋष्टयोः अंसयोरधि। ऋ. ५।५७।६
ऋष्टिमन्तो मनीषिणः। ऋ. ५।५२।२
अंसेषु खादयः। ऋ. ७।५६।१३
अंसेषु प्रपथेषु खादयः। ऋ. १।१६६।९
ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति। ऋ. ५।५२।१३
वाशीमन्तः ऋष्टिमन्तः। ऋ. ५।५७।२
क्रीळथ ऋष्टिमन्तः। ऋ. ५।६०।२

" आपके कन्धोंपर भाले हैं। तुम बुद्धिमान हो और भाले धारण करनेवाले हो। कन्धोंपर (खादयः) एक प्रकारके पदक जैसे आभूषण रखे जाते हैं। इन वीरोंके भाले बिजली जैसे तेजस्वी होते हैं। ये कवि होनेपर भी भाले बर्तते हैं।"

यहां कन्धोंपर धारण करनेकी दो वस्तुएं कहीं हैं। एक भाले और दूसरा आभूषण ' खादी '। यह आभूषण सोनेका या चांदीका होता है। पदक जैसा होता है और सुन्दर तथा बडा तेजस्वी दीखता है।

(३) छातीपर भूषण

अब छातीपरके भूषणके विषयमें देखिये—

वक्षःसु रुक्मा। ऋ. १।६४।४; ७।५६।१३
रुक्मासः अधि बाहुषु। ऋ. ८।२०।११
तनूषु शुभ्रा दधिरे वि रुक्मतः। ऋ. १।८५।३
वक्षःसु रुक्मा रभसासः अञ्जयः। ऋ. १।१६६।१०
वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः। ऋ. ५।५४।११
खादयः वः वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
ऋ. ७।५६।१३
मरुत रुक्मवक्षसः। ऋ. २।३४।२
युञ्जते मरुतः रुक्मवक्षसः अश्वान्। ऋ. २।३४।८
बृहद्वयः दधिरे रुक्मवक्षसः। ऋ. ५।५५।१
सुजातासः जनुषा रुक्मवक्षसः। ऋ. ५।५७।३
ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः। ऋ. १०।७८।२
यदेजथ मरुतः रुक्मवक्षसः। अथर्व. ६।२२।२

इन वीरोंके छातीपर सोनेके पदकोंके हार होते हैं। ये हार बडे तेजस्वी रहते हैं, चमकते रहते हैं और बडे सुंदर दीखते हैं। शरीरकी हलचल होनेसे इनकी चमक दमक प्रभावी रीतिसे आकर्षक प्रतीत होती है और बडी सुन्दर

दीखती है। ये वीर घोडोंको जोतनेके समय, अपने कार्यपर जानेके समय, वर्दी पहननेपर इनको पहनते हैं जिससे इनके शरीर सुन्दर आकर्षक तथा प्रभावी प्रतीत होते हैं।

जैसे आजकल पदक (मेडल) पहनते हैं उसी तरहके ये रुक्म होते थे। यह छातीपर पहननेके और बाहुओंपर पहननेके ऐसे दो प्रकारके होते हैं।

(४) कुन्हाडे धारण करना

ये वीर हाथमें कुन्हाडा धारण करते थे इस विषयमें कहा है—

ये वाशीमन्त अजायन्त । ऋ. १।३७।२

हिरण्यवाशीभिः अग्निस्तुषे । ऋ. ८।७।३२

ते वाशीमन्तः । ऋ. १।८७।५

वस्तनूषु अधिवाशीः । ऋ. १।८८।५

ये वाशीषु धन्वसु आयाः । ऋ. ५।५३।४

' वाशी ' का अर्थ ' कुन्हाडा ' है। अथवा फरशी भी इसे कह सकते हैं। यह एक शस्त्र है। ये वीर कुन्हाडा या फरशी लेकर बाहर जाते हैं। यहां ' हिरण्यवाशी ' कहा है। यह फरशी है पर उसपर सुवर्णकी नकशी की है ऐसी सुन्दर फरशी यह है। ये वीर फरशी और धनुष्यका आश्रय लेते हैं अर्थात् यह उनका प्रिय हत्यार होता है। भाले, कुन्हाडा, फरशी, खड्ग, गदा, धनुष्य, बाण आदि अनेक शस्त्र ये बर्तते थे।

(५) काटनेवाला शस्त्र

हस्तेषु खादिः च कृतिः च संदधे । ऋ. १।१६८।३

हाथोंमें ' कृति ' करके एक हथियार होता था। यह काटनेका कार्य करता था। यह हथियार ये वीर बर्तते थे। और एक शस्त्र था उसका नाम ' क्रिविः-दति ' है इसका वर्णन ऐसा है—

यत्र वः दिद्युत् क्रिविर्दती । ऋ. १।१६६।६

क्रिवि और दती। इसको दांत रहते हैं, वे काटते हैं और इस तरह यह शस्त्र बडा घातक होता है। इस तरह अनेक प्रकारके शस्त्र इन वीरोंके पास रहते थे। जो एकके पास रहे वही वैसा ही शस्त्र सब वीरोंके पास रहता था। संघसे रहनेका अर्थ यही है। तथा सब वीर समान हैं इसका भी यही अर्थ है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—

१ वैदिक समयमें राज्य, स्वराज्य, साम्राज्य आदि अनेक प्रकारके राज्यशासन प्रचलित थे।

२ राज्यका संरक्षण करनेके लिये सेना रखी जाती थी और सैन्यकी शिक्षा पूर्णरूपसे अनुशासनसे होती थी।

३ सेनाके सैनिकोंको रहनेके लिये बडे मकान बने होते थे, और इनमें अनेक कमरोंमें अनेक सैनिक रहते थे। ये घर सरकारी होते थे।

४ घुडसवारोंकी सेना भी होती थी और इन सैनिकोंके रहनेका प्रबन्ध भी उसी तरह होता था जैसा साधारण सैनिकोंका होता था।

५ सेनाके पास शस्त्र अस्त्र आदिका संभार अच्छा रहता था और इन शस्त्रोंसे शत्रुको परास्त किया जाता था।

६ युद्धके अनेक प्रकार होते थे और उनकी शिक्षा सैनिकोंको प्रथमसे दी जाती थी।

७ सब सैनिक समान समझे जाते थे। इनमें कोई श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ ऐसा नहीं था। सबका समान दर्जा रहता था।

८ सबका गणवेश तथा उनके शस्त्र अस्त्र समान रहते थे। किसी भी कारण उनमें न्यूनता या अधिकता मानी नहीं जाती थी।

९ भरती करनेके समय उनके विशाल शरीर, क्षात्रकर्म करनेमें उनकी समर्थता, शत्रुका नाश करनेकी उनकी पात्रता, बल, सामर्थ्य तथा साहस देखा जाता था और सेनामें भरती होती थी। सेनामें भरती होनेपर फिर वे सबके सब समान माने जाते थे।

१० ये वीर निजसामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् हों ऐसी शिक्षा उनको दी जाती थी।

११ ये सब सैनिक मातृभूमिके सेवक हैं, मातृभूमिकी सेवाके लिये जो करना आवश्यक होगा, वह सब उनको करना आवश्यक था।

१२ इनका रहना सहना शंवशः ही होता था।

१३ ये सैनिक घोडे भी अपने पास रखते थे। इनकी घुडसवारकी सेना बनती थी। इनका रहन सहन भी समान रीतिसेही होता था।

१४ खेलमें प्रवीण होनेकी आवश्यकता इनके लिये थी। नानाप्रकारके खेलोंमें ये प्राविण्य कमाते थे।

१५ ये सैनिक स्त्रियोंके समान अपने आपको सजाते थे। अपनी हरएक वस्तु स्वच्छ, सुंदर तथा चमकदार रखना इनका कर्तव्य था।

१६ ये वीर अधिक बडबड करते नहीं थे। जितना जिस समय आवश्यक है उतना ही ये बोलते थे। गप्पें मारते हुए ये कभी बैठते नहीं थे।

१७ कुल्हाडा, फरशी, भाला, धनुष्यबाण ये सब उनके शस्त्र थे।

१८ सिरपर साफा रहता था, छातीपर चांद और बाहुओंपर भाला रहता था। अन्यान्य शस्त्र अस्त्र अन्य रीतिसे साथ रहते थे। हरएक शस्त्र अस्त्र चमकदार रखना इनका कर्तव्य था।

इतना विषय प्रतिपादन इस व्याख्यानमें हुआ है। आगेके लेखमें क्या अधिक मिलता है यह देखेंगे।

प्रश्न

१ वेदमें कितने प्रकारके राज्योंके वर्णन हैं ?
२ सेनाकी आवश्यकता वेदने किस तरह बतायी है ?
३ सेनापथकका कार्य क्या था ?
४ अपव्रत तमस्रास्त्र से क्या होता था ?
५ वैदिक राज्यव्यवस्थामें सैन्यके विषयमें कौनसी बात विशेषरूपसे कही है ?
६ युद्धकी संभावना किस कारण होती है ?
७ युद्धकी संभावना होनेपर प्रजाका तथा शासकोंका क्या कर्तव्य होता है ?
८ अपना बल बढानेके विषयमें वेदमन्त्रोंमें क्या उपदेश कहा है ?
९ युद्धमें कुशलता बतानेके विषयमें क्या कहा है ?
१० सब सैनिक समान हैं इस विषयका वेदमन्त्रका उपदेश किस मन्त्रमें कहा है ? और उसका भाव क्या है ?
११ सब सैनिक समान न माने जांय तो क्या होगा ?
१२ अनुशासनशील सेनासे क्या लाभ होते हैं ?
१३ अनुशासन सेनामें न रहा तो क्या हानि होनेकी सम्भावना है ?
१४ सेनामें भरती करनेके लिये वेदमंत्रोंमें कौनसे गुण आवश्यक माने हैं ?
१५ सब सैनिक एक बडे घरमें रहते थे इसको बतानेवाला वेदमन्त्र कौनसा है ?
१६ एक घरमें रहनेसे लाभ कौनसा है और पृथक् पृथक् घरोंमें सैनिक रहे तो हानि कौनसी होनेकी सम्भावना है ?
१७ सैनिकोंके लिये खेलोंमें प्रवीण रहनेकी आवश्यकता क्यों मानी गयी थी ?
१८ वेदमन्त्रोंमें कहे सैनिकोंके शस्त्र, अस्त्र, वेशभूषण, आयुध आदिकोंके कौनसे नाम वेदमें कहे हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?
१९ सिरसे लेकर पैरतक सैनिक जो पहनते थे उनके नाम क्या हैं ?
२० ‘ मरुत् ’ पदके अर्थ जितने हैं वे सब बताइये ?
२१ मरुतोंके पास जो काटनेवाले भयानक शस्त्र रहते थे उनके वर्णन करके बताइये कि उनके स्वरूप कैसे थे ?

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा। इस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल आनन्दाश्रम, पारडी जि. सूरत

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

BL
1115
Z5S27
v.4

Satwalekar, Shripad Damodar
Vaidika vyākhayāna mālā

[redacted]

PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

UTL AT DOWNSVIEW
D RANGE BAY SHLF POS ITEM C
39 14 05 18 10 007 7